आयु-वर्ग एवं शिक्षा मनोविज्ञान

आयु-वर्ग एवं शिक्षा मनोविज्ञान

प्रगति प्रकाशन

मास्को

१९८२

अनुवादक : बुद्धिप्रसाद भट्ट

ВОЗРАСТНАЯ И ПЕДАГОГИЧЕСКАЯ ПСИХОЛОГИЯ

На языке хинди

Age-group and Educational Psychology

in Hindi

सोवियत संघ में मुद्रित

B $\frac{60300-491}{014(01)-82}$ 754-82

4305000000

विषय-सूची

यह किताब साथी लाभ सिंह हुड्डा एस डी ओ रोहतक निवासी ने सत्यनारायण हुड्डा को उपलब्ध करवाई ताकि इसका पीडीएफ बना कर इच्छक पाठकों को मुफ्त में मुहय्या करवा सकें।

संपादक की ओर से

आयु-वर्ग एवं शिक्षा मनोविज्ञान आज मनोविज्ञान की एक द्रुत विकासशील और संभावनापूर्ण शाखा है। उसे सभी शिक्षाविज्ञान संस्थानों के पाठ्यक्रमों में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, क्योंकि विभिन्न आयु-वर्गों के बच्चों के मानसिक विकास के नियमों और शिक्षण व पालन के बुनियादी मनोवैज्ञानिक उसूलों के ज्ञान के बिना कोई भी सफल शिक्षक और प्रतिपालक नहीं बन सकता।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखकों ने बाल मानस के विकास की प्रक्रिया, व्यक्ति-विकास के आधारभूत नियमों, विभिन्न आयु-वर्गों के बच्चों की मनोवृत्ति की विशेषताओं, तरह-तरह की शैक्षिक परिस्थितियों में स्कूली छात्रों के आचरण, व्यवहार व मानसिक विकास की विशिष्टताओं और लालन-पालन, शिक्षण व अध्यापन की प्रक्रिया में इन सभी नियमों, विशेषताओं, आदि को ध्यान में रखने के उपायों की जानकारी देने का प्रयास किया है। यह ज़रूरी है कि माता-पिता, शिक्षक और प्रतिपालक बच्चे की मानसिक विशेषताओं और उसके व्यक्तित्व के विकास की द्वंद्वात्मकता को देखें और आयु-वर्ग तथा शिक्षा मनोविज्ञान के सर्वाधिक उन्नत आधुनिक सिद्धांतों से परिचित हों।

विभिन्न अध्यायों के लेखक हैं:

अध्याय १ – प्रो० अ० व० पेत्रोव्स्की, डी० एस-सी० (मनोविज्ञान), सोवियत संघ की शिक्षाविज्ञान अकादमी के सदस्य ;

अध्याय २–न० इ० नेपोम्न्याश्चाया, डी० एस-सी० (मनोविज्ञान) ;

अध्याय ३–व० स० मूख़िना, डी० एस-सी० (मनोविज्ञान) ;

अध्याय ४–व० व० दवीदोव, डी० एस-सी० (मनोविज्ञान) ;

अध्याय ५ – त० व० द्रागुनोवा, पी-एच० डी० (मनोविज्ञान);
अध्याय ६ – प्रो० इ० स० कोन, डी० एस-सी० (दर्शनशास्त्र);
अध्याय ७ और ८ – प्रो० ल० ब० इतेल्सोन, डी० एस-सी० (मनोविज्ञान);
अध्याय ९ – प्रो० द० इ० फ़ेल्दश्तेइन, डी० एस-सी० (मनो-विज्ञान);
अध्याय १० – प्रो० अ० इ० श्चेर्बाकोव, डी० एस-सी० (मनो-विज्ञान)।

अ० व० पेत्रोव्स्की

अध्याय १

आयु-वर्ग एवं शिक्षा मनोविज्ञान का इतिहास

§१. आयु-वर्ग एवं शिक्षा मनोविज्ञान का विषय

आयु-वर्ग मनोविज्ञान मनोविज्ञान की वह शाखा है, जो **मनुष्य के मानस में आयु के साथ होनेवाले परिवर्तनों और वर्धमान मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाओं व विशेषताओं के व्यक्तिवृत्त का अध्ययन करती है।** इसकी उपशाखाएं हैं बाल मनोविज्ञान, प्राथमिक कक्षाओं के छात्र का मनोविज्ञान, किशोर मनोविज्ञान, तरुण मनोविज्ञान, वयस्क मनोविज्ञान और जरा मनोविज्ञान। इस प्रकार आयु-वर्ग मनोविज्ञान मानसिक प्रक्रियाओं की आयुगत विशेषताओं, ज्ञानार्जन की आयुगत क्षमताओं, व्यक्तित्व के विकास के प्रमुख कारकों, इत्यादि के अनुशीलन से संबंधित विज्ञान है। आयु-वर्ग मनोविज्ञान शिक्षा मनोविज्ञान से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है।

शिक्षा मनोविज्ञान का विषय है **शिक्षा व पालन के मनोवैज्ञानिक नियमों का अध्ययन।** शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षा प्रक्रिया के संचालन से संबंधित मनोवैज्ञानिक प्रश्नों और संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं की रचना का परिशीलन करता है, बौद्धिक विकास के समीचीन मापदंड खोजता है, जिन परिस्थितियों में शिक्षा प्रक्रिया के दौरान कारगर बौद्धिक विकास प्राप्त किया जा सकता है, उन्हें निर्धारित करता है और अध्यापक व छात्र तथा स्वयं छात्रों के परस्पर संबंधों की छानबीन करता है। इसके अलावा वह छात्र के प्रति व्यक्तिगत उपागम से संबंधित प्रश्नों का भी अध्ययन करता है।

आयु-वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान एक दूसरे से अभिन्न इसलिए हैं कि **उनकी अध्ययन-वस्तुएं एक ही हैं: बच्चा, किशोर और तरुण।** जब आयुगत विकास की दृष्टि से उनका अध्ययन किया जाता

है, तो वे आयु-वर्ग मनोविज्ञान की अध्ययन-वस्तु होते हैं। और जब उन्हें अध्यापक अथवा शिक्षक के लक्ष्योद्दिष्ट कार्यकलाप के प्रभाव-ग्राही के रूप में लिया जाता है, तो वे शिक्षा मनोविज्ञान की अध्ययन-वस्तु होते हैं। आयु-वर्ग मनोविज्ञान को **स्कूलपूर्व बच्चे का मनोविज्ञान**, **प्राथमिक कक्षाओं के छात्र का मनोविज्ञान**, **किशोर मनोविज्ञान और तरुण मनोविज्ञान**, इन खंडों में बांटा जाता है और शिक्षा मनोविज्ञान को **शिक्षण मनोविज्ञान**, **पालन मनोविज्ञान और अध्यापक का मनोविज्ञान** नामक खंडों में। शिक्षण और विकास की समस्याओं से संबंधित खंड आयु-वर्ग मनोविज्ञान और शिक्षा मनोविज्ञान, दोनों का ही अंग है। आयु-वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान के बीच अटूट एकता है: बच्चे का अध्ययन शिक्षण और पालन की प्रक्रिया में किया जाता है और, दूसरी ओर, शिक्षण और पालन की प्रक्रिया का विवेचन उसकी प्रयोजन-वस्तु – बच्चे – के संदर्भ में किया जाता है। यह बात आयु-वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान की समस्याओं के विवेचन की सीमाओं को सोपाधिक बना देती है।

आयु-वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान का जन्म और आरंभिक विकास

आयु-वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान का जन्म १९वीं सदी के उत्तरार्ध में मनोविज्ञान के क्षेत्र में **आनुवंशिकी के विचारों** का प्रभाव बढ़ने के साथ हुआ था। नवजात शिक्षा मनोविज्ञान के विकास को सबसे अधिक प्रेरणा महान रूसी शिक्षाविद क० द० उशीन्स्की (१८२४-१८७०) की खोजों, विशेषत: 'मनुष्य – शिक्षा का विषय' शीर्षक कृति से प्राप्त हुई थी। उशीन्स्की की मान्यता थी कि शिक्षक का लक्ष्य मनुष्य को सर्वांगीणत: शिक्षित बनाना है और इसलिए उसे मनुष्य को पहले सभी पहलुओं से जान लेना चाहिए। अध्यापकों और प्रतिपालकों को संबोधित करते हुए उन्होंने लिखा था, "आप जिन मानसिक परिघटनाओं का नियमन करना चाहते हैं, उन नियमों का अध्ययन करें और फिर इन नियमों को और जिन परिस्थितियों में आप इन्हें लागू करना चाहते हैं, उन्हें ध्यान में रखकर काम करें।" आयु-वर्ग मनोविज्ञान के विकास

पर चार्ल्स डार्विन के विकासवादी विचारों का गहन प्रभाव पड़ा। इन विचारों ने शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान मनोविकास के स्रोतों की समस्या की ओर आकृष्ट किया था। प्रमुख रूसी विद्वान इ० म० सेचेनोव (१८२६-१६०५) भी मनोवैज्ञानिक परिघटनाओं के परावर्ती सार को समझने के लिए मानसिक सक्रियता के महत्त्व पर बल दिया करते थे।

बाल मानस के विकास और शिक्षण प्रक्रिया के प्रेक्षणों से संबंधित आनुभाविक सामग्री के संचय तथा सामान्यीकरण के साथ-साथ अब शिक्षा और बाल मनोविज्ञान के क्षेत्र में **प्रायोगिक अनुसंधान** भी किये जाने लगे। शिक्षा विशेषज्ञों और मनोविज्ञानवेत्ताओं को स्पष्ट होता जा रहा था कि प्रायोगिक अनुसंधान बच्चे और किशोर के मानसिक विकास की सही-सही तसवीर पेश कर सकता है और शिक्षण तथा पालन का एक वस्तुतः वैज्ञानिक उपागम सुझा सकता है। सामान्य मनोविज्ञान में प्रयोग की विधि की उल्लेखनीय सफलताओं ने आयु-वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान में भी उसके इस्तेमाल की आशा पैदा कर दी थी। लगता था कि नवान्वेषित नियमों का शिक्षा और बाल मनोविज्ञान के क्षेत्र में सामान्य प्रत्यारोपण पर्याप्त है। यह सोचा जाता था कि मनोशरीरक्रिया के नियमों या, मिसाल के लिए, प्रेरक प्रतिवर्तों के वेग और रूप से संबंधित तथ्यों को जान लेने के बाद शिक्षक के लिए बच्चे के मनोजगत को और पाठ्य-सामग्री ग्रहणक्षमता के नियमों को समझने में कोई कठिनाई न होगी। रूसी शिक्षाविद व मनोविज्ञानवेत्ता प० फ़० काप्तेरेव ने अपनी पुस्तक 'शिक्षा मनोविज्ञान' (१८७७) में और अमरीकी मनोविज्ञानवेत्ता विलियम जेम्स ने अपनी पुस्तक 'मनो-विज्ञान के विषय में शिक्षकों के साथ वार्ताएं' (१६०२) में ऐसा ही विश्वास प्रकट किया था।

किंतु २०वीं सदी के आरंभ तक भी शिक्षा के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक प्रयोग की विधि के इस्तेमाल के कोई ठोस, विशिष्ट तरीके न मिल सके। सामान्य मनोविज्ञान का ज्ञान-भंडार शिक्षाविज्ञान के क्षेत्र में उपयोग के लिए अभी बहुत अपर्याप्त था। इसके अलावा, मनोविज्ञान-वेत्ताओं द्वारा एकत्र कुछ तथ्य शिक्षाविज्ञानियों को भ्रम में भी डाल सकते थे। १६०६ में पीटर्सबर्ग में जब पहली शिक्षा मनोविज्ञान कांग्रेस

हुई, तो उसमें अ० प० नेचायेव, न० ये० रुम्यान्त्सेव तथा अन्य शिक्षा मनोविज्ञानवेत्ताओं ने तत्कालीन शिक्षावैज्ञानिक साहित्य की गंभीर आलोचना की। नेचायेव के मत में, शैक्षणिकी और शिक्षा-विधि से संबंधित सभी विवादास्पद प्रश्न उस क्षेत्र में आते थे, जो प्रायोगिक मनोवैज्ञानिक अनुसंधान की पहुंच के भीतर है, यानी ऐसे अनुसंधान की पहुंच के भीतर, जो परिघटनाओं का यथातथ्य अभिलेखन और परिणामों का गणितीय विश्लेषण संभव बनाता है। किंतु व्यवहार में परिघटनाओं के इस यथातथ्य अभिलेखन का अर्थ टैकिस्टोस्कोप का उपयोग और "सहचारी प्रयोग" करने की योग्यता, अर्थात सामान्य मनोविज्ञान की कतिपय विधियों का आश्रय लेना ही लगाया जाता था।

शिक्षाशास्त्र को सामान्य मनोविज्ञान से जोड़ने और इस सहजीविता में एक नये शिक्षा मनोविज्ञान का दर्शन करने के प्रयास इसलिए भी निष्फल सिद्ध हुए कि अ० प० नेचायेव जिस सामान्य मनोविज्ञान का अवलंब ले रहे थे, उसके सैद्धांतिक आधार अपने स्वरूप की दृष्टि से प्रत्ययवादी थे। तत्कालीन शिक्षा मनोविज्ञान, या जैसा कि १९१० से उसे कहा जाने लगा, प्रायोगिक शिक्षाविज्ञान की भ्रांतिमूलकता इस तरह जगज़ाहिर थी।

शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र में पहले प्रयोगों से जो सबसे महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला जा सकता था, वह यह था कि **मनोविज्ञान का शिक्षाशास्त्रीय व्यवहार से सन्निकटन** (इस सवाल को उठाने का श्रेय निर्विवादत: नेचायेव को ही प्राप्त है) **स्वयं शिक्षण तथा पालन की प्रक्रिया में प्रयोगात्मक अनुसंधान करके ही हो सकता है।** प्रयोगाश्रित दत्त सामग्री स्वयं मनोवैज्ञानिक व शिक्षावैज्ञानिक अनुसंधान में ही पायी जानी चाहिए, न कि उसमें कहीं बाहर से समाविष्ट की जानी चाहिए। इसके लिए पहले आयु-वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक तथा विधि संबंधी समस्याओं का सही समाधान खोजना आवश्यक था। और इनमें भी सर्वोपरि समस्या थी शिक्षण प्रक्रिया से संबंध के संदर्भ में मानसिक विकास के स्रोतों की समस्या।

आयु-वर्ग तथा शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र में जीवमूलक तथा समाजमूलक धाराएं

बच्चों के मानसिक विकास और उसके स्रोतों तथा नियमों की समस्या सदा ही आयु-वर्ग तथा शिक्षा मनोविज्ञान की एक मूलभूत समस्या रही है। शिक्षण तथा पालन के तरीकों का निर्धारण, बच्चे के प्रति उपागम और वयस्क आदमी की तुलना में उसकी खास विशेषताओं की समझ इस समस्या के समाधान पर ही निर्भर करते हैं।

२०वीं सदी के आरंभ में आयु-वर्ग तथा शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र में दो धाराएं उभरकर सामने आयीं, जो बच्चों के मानसिक विकास के **स्रोतों** (कारकों) की व्याख्या अलग-अलग ढंग से करती थीं। उनके बीच अंतर इस प्रश्न पर था कि बच्चे के विकास में आधारभूत कारक कौन सा है – जैविक कारक या सामाजिक कारक। बेशक इसका यह अर्थ नहीं कि पहली धारा के पक्षधर बच्चे पर सामाजिक कारकों के प्रभाव को पूर्णतः नकारते हैं और दूसरे सिद्धांत के पक्षधर विकास के जैविक पूर्वाधारों को। वस्तुतः जब हम जीवमूलक और समाजमूलक धाराओं की बात करते हैं, तो उनका ऐसा वर्गीकरण निरपेक्ष नहीं माना जा सकता : वह बच्चे के मनोविकास की संकल्पना के निर्धारण में प्रमुख भूमिका अदा करनेवाली प्रवृत्तियों को मात्र स्थूलतः निर्दिष्ट ही करता है। चौथे दशक के आरंभ में ये दोनों ही धाराएं सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं की आलोचना का लक्ष्य बनी थीं।

बच्चे के मानसिक विकास की **जीवमूलक** धारा की विशेषताएं क्या हैं? बच्चे की "जन्मजात विशेषताओं" पर बल और बच्चे के आचरण तथा विकास को सरलीकृत, यांत्रिक ढंग से समझने की प्रवृत्ति। जैव सिद्धांत के पक्षधरों की दृष्टि में विकास के जैविक और सामाजिक कारकों का समान अस्तित्व होने पर भी निर्णायक महत्त्व **जैविक** कारकों, मुख्यतः **आनुवंशिकता** का ही होता है। वे विकासमान व्यक्ति के गुणात्मक और परिमाणात्मक पहलुओं को अपरिहार्यतः आनुवंशिकता से नियंत्रित मानते हैं, जब कि परिवेश या समाज, उनके मत में, मात्र "नियामक", "अभिव्यक्तिकर्त्ता" या ऐसा कारक ही होता है,

जिसके साथ अपने में अनेकानेक संभावनाएं छिपाये हुई लचीली आनुवंशिकता अन्योन्यक्रिया करती है।

जीवमूलकता के हिमायती मानसिक विकास के आनुवंशिक कारकों का जो अतिमूल्यांकन करते हैं, उसका सबसे ज्वलंत और पूर्ण प्रमाण उनकी मनोविज्ञान के क्षेत्र में जाति-आवर्तन नियम को लागू करने की प्रवृत्ति है। यह वास्तव में आयु-वर्ग मनोविज्ञान के क्षेत्र में उस विकास नियम के प्रत्यारोपण की कोशिश ही है, जिसे १९वीं सदी में हैकेल ने प्रतिपादित किया था (व्यक्तिवृत्त जातिवृत्त की संक्षिप्त पुनरावृत्ति ही है): जिस प्रकार मानव भ्रूण गर्भावस्था में एक कोशीय जीव से लेकर मनुष्य तक विकास के सभी चरणों की पुनरावृत्ति करता है, उसी प्रकार मानव शिशु मानव इतिहास के सभी मुख्य चरणों को दोहराता है। जैविक शक्तियों के प्रभाव से बच्चे के मनोविकास के चरण और आचरण के ढंग क्रमशः बदलते जाते हैं। इस तरह से बच्चा मानो पांच दौरों से गुज़रता है: प्राकृतावस्था, आखेट, पशुचारण, कृषिकर्म और उद्योग-व्यापार। इस काल-विभाजन के अनुसार बच्चा जब पैदा होता है, तो वह प्राकृतावस्था, यानी जांगल अवस्था में होता है और फिर क्रमशः विकास के अन्य चरणों से गुज़रकर अंतिम चरण में अनिवार्यतः धन, व्यापार, उद्योग में रुचि दिखाने लगता है, अर्थात पूर्णतः पूंजीवादी समाज के आदर्शों के अनुरूप बन जाता है।

इस प्रकार मनोविज्ञान में जाति-आवर्तन नियम का आधार बच्चे के मानसिक विकास की **स्वतःस्फूर्ति** के विचार को, पालन से स्वतंत्रता को बनाया गया है। पालन को मात्र एक ऐसे बाह्य कारक की भूमिका ही दी गयी है, जो बच्चे की सहज, आनुवंशिकतः उद्भूत मानसिक विशेषताओं के प्रकट होने को या तो अवरुद्ध या त्वरित कर सकता है। जाति-आवर्तन नियम से प्रतिगामी शिक्षाशास्त्रीय निष्कर्ष निकाले गये। बच्चे के विकास के नैसर्गिक क्रम में हस्तक्षेप को अवांछनीय, अनुचित मनमानी माना गया। जीवमूलकता मनोविज्ञानसम्मत "स्वतंत्र शिक्षण और पालन" के शिक्षावैज्ञानिक सिद्धांत का आधार बनी।

सोवियत शिक्षाविदों और मनोविज्ञानियों ने चौथे दशक के आरंभ में ही शिक्षा मनोविज्ञान में जीवमूलक धारा के द्वंद्ववादविरोधी, यांत्रिकतापरक स्वरूप को पहचान लिया था।

इतनी ही त्रुटिपूर्ण शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रचलित **समाजमूलक** धारा भी थी। ऊपरी अंतरों के बावजूद ये दोनों ही सिद्धांत कई बातों में एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। समाजमूलक धारा के समर्थकों के अनुसार बच्चे के विकास में अपरिहार्यतः निर्णायक भूमिका परिवेश की होती है और इसलिए मनुष्य का अध्ययन करने के लिए उसके परिवेश की बनावट का विश्लेषण करना पर्याप्त है : जैसा परिवेश होगा, वैसा ही मनुष्य का व्यक्तित्व, उसके आचरण का ढंग और उसके विकास का मार्ग भी होगा। जिस प्रकार जीवमूलकता सिद्धांत व्यक्ति की क्रियाशीलता को नकारता था और आचरण तथा विकास को आनुवंशिक पूर्वप्रवणता की निष्पत्ति का परिचायक मानता था, वैसे ही समाजमूलकतावादी भी व्यक्ति में स्वतंत्र क्रियाशीलता की कोई गुंजायश नहीं देखते थे और सब कुछ सामाजिक परिवेश का प्रभाव बताते थे। फलस्वरूप यह अस्पष्ट ही बना रहा कि किस प्रकार एक ही तरह के सामाजिक परिवेश में अनेक लक्षणों की दृष्टि से सर्वथा भिन्न व्यष्टियों का निर्माण होता है। यह भी अस्पष्ट था कि विभिन्न सामाजिक परिवेशों में बहुत ही समान स्वभाव और आचार-विचारवाले व्यक्ति क्यों पैदा होते हैं। इस प्रकार शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रचलित समाजमूलक धारा के मुख्य वैचारिक और सैद्धांतिक दोष थे – विकास के प्रति यांत्रिकतापरक उपागम और व्यक्ति की स्वतंत्र क्रियाशीलता तथा व्यक्तित्व निर्माण के द्वंद्वात्मक अंतर्विरोधों की उपेक्षा। यह धारा भी चौथे दशक में ही सोवियत मनोविज्ञानियों तथा शिक्षाविदों की आलोचना का लक्ष्य बन गयी थी।

न जीवमूलकतावादी और न समाजमूलकतावादी ही, कोई भी बच्चे के मानसिक विकास के स्रोतों तथा क्रियाविधियों की सही जानकारी न दे सके।

तीसरे और चौथे दशकों में सोवियत संघ में शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र में बहुत शोध कार्य हुआ और इस तरह जो अपार नये तथ्य एकत्र किये गये, वे आधुनिक मनोविज्ञान के अभिन्न अंग बन गये हैं। इसी काल में अनेक नयी मनोवैज्ञानिक व शिक्षावैज्ञानिक संकल्पनाएं भी जन्मीं, जिन्होंने अपना महत्त्व आज तक नहीं खोया है। उनका

वैज्ञानिक मूल्य आज पहले से भी अधिक तीव्रता और स्पष्टता के साथ अनुभव किया जा रहा है। इस सिलसिले में बच्चे की व्यष्टिकता तथा बाल समुदाय विषयक अ० स० मकारेंको (१८८८-१९३९) के विचारों (वे आगे चलकर व्यक्ति तथा समुदाय की समस्याओं से संबंधित अनेक मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों के आरंभबिंदु बने) और ल० स० विगोत्स्की (१८९६-१९३४) द्वारा प्रतिपादित उच्चतर मानसिक क्रियाओं के विकास के सिद्धांत का विशेष रूप से उल्लेख किया जाना चाहिए।

अ० स० मकारेंको और शिक्षा मनोविज्ञान

तीसरे दशक में और चौथे दशक के पूर्वार्ध के दौरान अ० स० मकारेंको ने बच्चे की व्यष्टिकता और उसके विकास के बारे में जो विचार प्रतिपादित किये थे, उन्हें समुदाय में व्यक्तित्व निर्माण विषयक एक सर्वांगपूर्ण विचारधारा की संज्ञा दी जा सकती है। अ० स० मकारेंको की विचारधारा ने तब तक संचित शिक्षावैज्ञानिक अनुभव का सामान्यीकरण किया और कम्युनिस्ट शिक्षा-दीक्षा के क्षेत्र में आगे चलकर सोवियत संघ में जो काम हुआ, उसकी आधारशिला रखी।

मकारेंको की वैज्ञानिक संकल्पना में व्यक्ति के विकास के मनोविज्ञान की कई पहलुओं से जांच की गयी थी (व्यक्ति और समुदाय का परस्पर संबंध, व्यक्ति के विकास की संभावित दिशाएं, व्यक्ति के अभिप्रेरणात्मक क्षेत्र का निर्माण, चरित्र का निर्माण, आदि)।

व्यक्ति के मनोविज्ञान की बुनियादी समस्याओं को हल करने के लिए मकारेंको को व्यक्ति और समुदाय के संबंधों की जीवमूलक तथा समाजमूलक व्याख्याओं से गंभीर टक्कर लेनी पड़ी। उन्होंने समाजमूलकतावादियों की इस धारणा का घोर विरोध किया कि समुदाय ऐसी व्यष्टियों का समूह है, जो किन्हीं भी उत्तेजकों के समक्ष एकसमान प्रतिक्रिया दिखाती हैं। वह समुदाय को संगठित व्यष्टियों (व्यक्तियों) का एक लक्ष्योन्मुख समूह मानते थे। "जहां समुदाय का संगठन है, वहां समुदाय के निकाय भी होते हैं, वहां समुदाय के विश्वासपात्र प्राधिकृत व्यक्तियों का संगठन भी होता है, और साथी के प्रति साथी

के रवैये का प्रश्न मैत्री का प्रश्न, प्रेम का प्रश्न या पड़ोसियत का प्रश्न नहीं, बल्कि उत्तरदायित्वपूर्ण निर्भरता का प्रश्न होता है," उन्होंने लिखा था। प्रश्न का ऐसा निरूपण उन्हें समुदाय में व्यक्ति की स्थिति को बदलने तथा उसके व्यक्तित्व पर गंभीर प्रभाव डालने की संभावना देता था। यह सब ऐसे होता था कि छात्र को पता भी न चल पाता था कि वह पालन का विषय बना हुआ है (समानांतर क्रिया का सिद्धांत)।

मकारेंको व्यक्ति की विशेषताओं के अध्ययन को बड़ा महत्त्व देते थे। इसका मुख्य कारण यह था कि व्यक्ति की जिन विशेषताओं को उभारा जाना है, जिस प्रकार के चरित्र ढाले जाने हैं और उनके विकास को जो मोड़ दिये जाने हैं (ऐसे मोड़ हर व्यक्ति के लिए अलग से और स्पष्टतः निर्धारित किये जाते हैं), वे ही उनकी दृष्टि में पालन की प्रक्रिया के लक्ष्य होते हैं। उन्होंने व्यक्तित्व के लक्षणों की जो सूची दी है, जिन्हें अध्यापक एक समष्टि में संश्लेषित करता है ("समुदाय में व्यक्ति की घुलने-मिलने की क्षमता, समुदाय से उसके संबंधों तथा प्रतिक्रियाओं का स्वरूप, अनुशासनबद्धता, क्रियाशीलता तथा प्रावरोध के लिए तत्परता, व्यवहार-कौशल तथा सूझ-बूझ, सिद्धांतनिष्ठा और संवेगात्मक पुरोलक्षिता"), वही बता देती है कि मकारेंको ने व्यक्तित्व की विशेषताओं का कितना गहन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया था। इसका प्रमाण उनकी 'पालन-प्रक्रिया के संगठन की विधि' शीर्षक रचना में दी हुई छात्र के व्यक्तित्व के अध्ययन की पद्धति और उनके छात्रों के उत्कृष्ट चरित्रवृत्तों से भी मिलता है, जिनमें उनके व्यक्तित्व में उभारे जानेवाले गुणों का संक्षिप्त तथा सही-सही विवरण दिया होता था।

अ० स० मकारेंको ने व्यक्ति के अभिप्रेरणात्मक क्षेत्र और उसके सामाजिक गुणों के विकास की क्रियाप्रणाली का गहन अध्ययन किया। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण संभवतः आवश्यकताओं के जन्म तथा विकास की समस्या है। "पालन का सबसे बड़ा प्रयोजन ... मनुष्य में किन्हीं खास आवश्यकताओं को जागृत तथा प्रोत्साहित करना और उन्हें एक ऐसे नैतिक शिखर पर पहुंचाना है, जो केवल वर्गहीन समाज में ही संभव है और जो एकमात्र ही मनुष्य को निरंतर आत्मपरिष्कार के लिए

अभिप्रेरित कर सकता है।" मकारेंको की रचनाओं में* हमें मानव व्यक्तित्व की बुनियादी क्षमताओं के विकास की प्रेरक शक्तियों के अध्ययन का एक विशद तथा साहसिक कार्यक्रम मिलता है, जिसमें मुख्य भूमिका मनुष्य में समुदायपरकता की आवश्यकताओं के पोषण को दी गयी है।

मकारेंको के कार्य तथा शोधों ने सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं को मानव व्यक्तित्व का श्रम तथा सामाजिक कार्यकलाप के दौरान विकास की प्रक्रिया में विश्लेषण करने की संभावनाओं से अवगत कराया। एक मनोविज्ञानवेत्ता के नाते मकारेंको की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन को निष्क्रिय प्रेक्षण की सीमाओं से बाहर निकालकर एक सक्रिय आधार प्रदान किया: "शिक्षक को छात्र के बारे में जानने के लिए उसका तटस्थ रहकर अध्ययन नहीं करना चाहिए, वरन उसके साथ मिल-जुलकर काम करना चाहिए, उसे सक्रिय सहायता देनी चाहिए। **शिक्षक छात्र को अध्ययन की वस्तु नहीं, वरन शिक्षा और पालन की वस्तु माने।**"

ल० स० विगोत्स्की का उच्चतर मानसिक क्रियाओं के विकास का सिद्धांत

तीसरे और चौथे दशकों में ल० स० विगोत्स्की द्वारा प्रतिपादित **उच्चतर मानसिक क्रियाओं के विकास का सिद्धांत** भी अस्तित्व में आया।

विगोत्स्की ने मनुष्य के द्वारा प्रकृति के अनुकूल बनने में श्रम की भूमिका और उत्पादन प्रक्रिया में श्रम के उपकरणों की मदद से प्राकृतिक शक्तियों के रूपांतरण विषयक फ़्रेडरिक एंगेल्स के विचारों को आधार बनाकर यह मत प्रतिपादित किया था कि श्रम तथा उपकरणों का प्रयोग मनुष्य के व्यवहार-संरूप को बदल देता है और मनुष्य को

---

* प्रगति प्रकाशन से मकारेंको की निम्न रचनाएं हिंदी में प्रकाशित हो चुकी हैं: 'मां-बाप और बच्चे', प्रथम संस्करण – १९५८, दूसरा संस्करण – १९६९; 'जीवन की ओर (शिक्षा का महाकाव्य)', तीन खण्डों में, १९५९; 'सोवियत स्कूली शिक्षा की समस्याएं', १९७१। – सं०

पशुओं से भिन्न बनाता है। मनुष्य की यह भिन्नता उसकी सक्रियता के व्यवहित स्वरूप में निहित है। व्यवहन इसलिए संभव होता है कि मनुष्य जिस प्रकार अपने बाह्य, व्यावहारिक कार्यकलाप में **उपकरण** इस्तेमाल करता है, वैसे ही आभ्यंतरिक, मानसिक कार्यकलाप में **संकेतों** (शब्द, संख्या, आदि) का उपयोग करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपकरण और संकेत के बीच साम्य इस बात में है कि वे दोनों ही व्यवहित कार्य को संभव बनाते हैं। उनके बीच **अंतर** इस बात में है कि उनकी दिशाएं भिन्न-भिन्न हैं। उपकरण **बाहर** की ओर लक्षित होता है, वस्तु के रूप में परिवर्तन लाता है और मनुष्य के प्रकृति पर नियंत्रण पाने की ओर निर्दिष्ट बाह्य कार्यकलाप का साधन होता है। इसके विपरीत संकेत **भीतर** की ओर लक्षित होता है, वस्तु में कोई परिवर्तन नहीं लाता और मनुष्य के व्यवहार को ही प्रभावित करता है। प्रकृति पर नियंत्रण और व्यवहार पर नियंत्रण परस्पर संबद्ध हैं, चूंकि मनुष्य द्वारा प्रकृति का परिवर्तन स्वयं उसकी अपनी प्रकृति को बदल डालता है। संकेतों (सहायक साधनों) का प्रयोग, यानी व्यवहित कार्यकलाप में संक्रमण मनुष्य की समस्त मानसिक सक्रियता को वैसे ही बदल देता है, जैसे कि उपकरणों का प्रयोग शारीरिक अंगों की सहज क्रिया का परिवर्तन करता है और मानसिक सक्रियता की संभावनाएं बढ़ाता है।

मनुष्य का विकास शिक्षण द्वारा इन्हीं सब साधनों (उपकरणों तथा संकेतों) के उपयोग में पारंगत होने की प्रक्रिया में होता है। इसीलिए **बच्चे के जीवन-संगठन की समस्त प्रणाली में शिक्षण का बुनियादी स्थान है और वही उसके मानसिक विकास को निर्धारित करता है।** इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मानसिक विकास का न तो अध्ययन ही उस **सामाजिक परिवेश** से निरपेक्ष रूप से हो सकता है, जिसमें कि मनुष्य पूर्ववर्ती पीढ़ियों के अनुभव को आत्मसात् करने की संभावना देनेवाले संकेतात्मक साधनों में दक्षता हासिल करता है, और न उसे शिक्षण से निरपेक्ष रूप से समझा ही जा सकता है। इस प्रकार विगोत्स्की के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत में **मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने** का मार्क्स-वादी विचार साकार बना है। विगोत्स्की सांस्कृतिक विकास के सामान्य आनुवंशिक नियम को यों परिभाषित करते हैं: "...बच्चे के सांस्कृतिक विकास में हर क्रिया दो बार, दो धरातलों पर सामने आती है – पहले

सामाजिक धरातल पर और फिर मनोवैज्ञानिक धरातल पर, पहले लोगों के बीच, एक अंतर्मानसिक प्रवर्ग के रूप में, और फिर बच्चे के अंदर, एक अंतःमानसिक प्रवर्ग के रूप में।" "सभी प्रकार की उच्चतर मानसिक क्रियाएं अपने विकास के दौरान अनिवार्यतः बाह्य अवस्था से गुज़रती हैं, क्योंकि वे आरंभिकतः सामाजिक क्रियाएं होती हैं।"

उदाहरण के लिए, हाथ से इशारा करने की मुद्रा के साथ यही होता है, जो बच्चे की वाणी के विकास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है और जिसे विगोत्स्की ने काफ़ी हद तक व्यवहार के सभी उच्चतर रूपों का आद्य आधार बताया था। आरंभ में यह मुद्रा और कुछ नहीं, किसी वस्तु को पकड़ने की ऐसी असफल हरकत ही होती है, जिसे क्रिया का पूर्वाभास देना था (हाथ वस्तु की ओर बढ़ता है, किंतु हवा में ही लटका रह जाता है)। समीप स्थित कोई वयस्क मुद्रा को बच्चे को पसंद आयी वस्तु की ओर **इशारा** समझकर बच्चे की मदद करता है। इस प्रकार इशारा करने की मुद्रा पकड़ने की असफल हरकत से दूसरों के लिए लक्षित मुद्रा में बदल जाती है, जो उसे इशारे के अर्थ में लेते हैं। मुद्रा **संकेत** बन जाती है और पकड़ना इशारा। सिर्फ़ इसके बाद ही बच्चा ख़ुद अपनी हरकत को इशारे के तौर पर लेने लगता है। दूसरों के लिए मुद्रा (संकेत) स्वयं अपने लिए मुद्रा (संकेत) बन जाती है। इस प्रकार अपनी मुद्रा के अर्थ का ज्ञान बच्चे को सबके बाद ही होता है। उसका अर्थ पहले यथार्थ स्थिति द्वारा निर्धारित किया जाता है और उसके बाद बच्चे के आसपास के लोगों द्वारा। विगोत्स्की ने ऐसी ही नियमानुवर्तिता बच्चे की वाणी के विकास में भी पायी थी। शब्द वस्तु के प्रति संबंध को व्यक्त करता है (पहला चरण)। फिर वयस्कों द्वारा शब्द और वस्तु का यथार्थ सहसंबंध बच्चे के साथ संपर्कस्थापन के साधन के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है (दूसरा चरण)। इसके बाद शब्द का अर्थ स्वयं बच्चा भी समझ जाता है (तीसरा चरण)। बाद में शब्द, जो कि आरंभ में दूसरों पर प्रभाव डालने का साधन था, स्वयं अपने नियंत्रण-संचालन का साधन बन जाता है।

इस प्रकार सभी उच्चतर मानसिक क्रियाओं के पीछे मूलतः लोगों के

सामाजिक संबंध काम करते हैं। विगोत्स्की ने लिखा था कि मनुष्य की मानसिक प्रकृति वस्तुतः उन सामाजिक संबंधों की समष्टि ही है, जो भीतर अंतरित किये गये हैं और व्यक्तित्व के कार्य तथा उसके ढांचे के रूप बन गये हैं। पारंपरिक मनोविज्ञान के विपरीत, जो सामाजिक व्यवहार का मूल वैयक्तिक व्यवहार में देखता था, विगोत्स्की ने बताया कि उच्चतर मानसिक क्रियाएं पहले समुदाय में, लोगों के परस्पर संबंधों के रूप में प्रकट होती हैं और उसके बाद ही व्यक्ति की मानसिक क्रियाएं बनती हैं। इस तरह, प्रथम दृष्टि में लगता है कि विचार, तर्क और प्रमाण मूलतः विवाद के पूर्ववर्ती हैं, क्योंकि विवाद विचारों की टक्कर से पैदा होता है। किंतु विगोत्स्की के सिद्धांत के अनुसार, विवाद ही विचारों को जन्म देता है। **व्यक्ति के विकास की प्रक्रिया इस बात में व्यक्त होती है कि व्यक्ति जैसा है, वैसा वह उसके ज़रिये बनता है, जो वह दूसरों के लिए पेश करता है।**

आचरण तथा व्यवहार के विकास के माध्यम के तौर पर बाह्य संकेत एक महत्त्वपूर्ण निदान-साधन हैं, यदि मनोविज्ञानवेत्ता को यह मालूम करना है कि बच्चे के बौद्धिक विकास में कोई दोष तो नहीं है। जिस बच्चे के बौद्धिक विकास में कोई गड़बड़ी है, उसका प्रेक्षण दिखाता है कि जब तक वह संकेत इस्तेमाल करता है, तब तक प्रति-पूरक क्षमताएं बनी रहती हैं और विकास संभव है। जब संकेतों का इस्तेमाल रुक जाता है या अविकसित रहता है, तब बौद्धिक विकास भी विलंबित या अवरुद्ध हो जाता है।

§२. आधुनिक सोवियत आयु-वर्ग एवं शिक्षा मनोविज्ञान

शिक्षण और पालन के मुख्य मनोवैज्ञानिक सिद्धांत

आयु-वर्ग एवं शिक्षा मनोविज्ञान सोवियत संघ में मनोविज्ञान की सबसे विकसित शाखा है। इस क्षेत्र में अनुसंधान अनेक शोध केंद्रों में किये जाते हैं, जैसे सोवियत शिक्षाविज्ञान अकादमी का सामान्य तथा शिक्षा मनोविज्ञान शोध संस्थान, सोवियत शिक्षाविज्ञान अकादमी

का स्कूलपूर्व पालन शोध संस्थान, सोवियत शिक्षाविज्ञान अकादमी का दोषविज्ञान शोध संस्थान, उक्रइनी विज्ञान अकादमी का मनोविज्ञान शोध संस्थान, विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा शिक्षावैज्ञानिक उच्च शिक्षा संस्थाओं के मनोविज्ञान विभाग।

आधुनिक सोवियत मनोविज्ञान की सभी महत्त्वपूर्ण संकल्पनाएं विगोत्स्की के विचारों से संबद्ध इस धारणा पर आधारित हैं कि व्यक्ति को सक्रिय रूप से और अपने कार्यकलाप के ज़रिए मानवजाति के भौतिक तथा आत्मिक संस्कृति की वस्तुओं में मूर्तिमान ऐतिहासिक अनुभव को **आत्मसात् करना** चाहिए। केवल तभी वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बन सकता है। जैसा एक प्रमुख सोवियत मनोविज्ञानवेत्ता, अ० न० लेओन्त्येव ने लिखा है, "यह वह प्रक्रिया है, जिसके परिणामस्वरूप ऐतिहासिकतः विकसित मानव योग्यताओं एवं क्रियाओं का व्यक्ति द्वारा **पुनरुत्पादन** होता है।"

मानसिक विकास सामाजिक अनुभव के आत्मसात्करण और शिक्षा के द्वारा होता है, यह विचार न केवल शिक्षण मनोविज्ञान, अपितु पालन मनोविज्ञान के लिए भी बुनियादी महत्त्व रखता है। सामाजिक अनुभव को आत्मसात् करनेवाले युवा मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण स्वतः नहीं, बल्कि उसके मनोजगत के और उसके आत्मिक दृष्टिकोण के, जोकि पालन से संबंधित सभी क्रियाओं में मध्यस्थ का काम करता है, बदलने के ज़रिये होता है। व्यक्ति का दृष्टिकोण, उसके कार्यकलाप के अभिप्रेरकों की समष्टि, जिसमें उसकी आवश्यकताएं प्रतिबिंबित होती हैं, उसके आदर्श, मूल्यांकन और आत्म-मूल्यांकन, जो पालन के परिणामस्वरूप बने थे, ये सब व्यक्ति को विभिन्न बाह्य प्रभावों से, जोकि उपरोक्त आभ्यंतरिक उपाधियों से अपवर्तित होते हैं, अपेक्षया स्वतंत्र बना देते हैं। इस विचार को व्यवहार में परिणत करते हुए सोवियत मनोविज्ञानियों ने **मानसिक प्रक्रियाओं और व्यक्तित्व गुणों के सक्रिय विकास की एक योजना बनायी है।** अन्य मनोवैज्ञानिक तथा शिक्षाशास्त्रीय संकल्पनाओं के विपरीत, जो मानसिक विकास के प्राप्त स्तर को मात्र अभिलिखित करते थे, सोवियत अनुसंधानकर्त्ता सक्रिय प्रोत्साहन के ज़रिये बच्चे के मानसिक विकास के प्रायोगिक मॉडल बनाने को आवश्यक मानकर चलते हैं।

सोवियत आयु-वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान की एक संकल्पना **बौद्धिक क्रियाओं के क्रमिक आत्मसात्करण** का सिद्धांत है। इसका प्रतिपादन छठे दशक में प० या० गाल्पेरिन ने किया था। इसका मूलतत्व यह है कि छात्र अपनी सक्रियता की प्रक्रिया में, **कुछ निश्चित क्रियाएं करते हुए और उनके परिणामस्वरूप** ही ज्ञान का अर्जन करता है। मनुष्य को चिंतन शक्ति प्रकृति से तैयार रूप में नहीं मिलती है, सोचना और सोचने की क्रियाएं उसे सीखनी, आत्मसात् करनी होती हैं। शिक्षक का कार्य है इन प्रक्रियाओं का दक्षतापूर्वक संचालन करना, सोचने की क्रिया के परिणामों को ही नहीं, सोचने की शक्ति के विकास को भी अभिनिर्देशित करना।

चेतना और क्रिया की एकता सोवियत मनोविज्ञान का एक सबसे महत्त्वपूर्ण नियम है। इसलिए सोवियत वैज्ञानिक ज्ञान के अर्जन को एक ऐसी प्रक्रिया मानते हैं, जो किन्हीं निश्चित क्रियाओं को करने और सीखने के परिणामस्वरूप घटती है। इस दृष्टिकोण से मानसिक क्रिया-कलाप का मूल रूप भौतिक, बाह्य और यथार्थ होता है और परिवेशी वस्तुओं में परिवर्तन लानेवाला होता है। आभ्यंतरिक, मानसिक, चिंतनात्मक सक्रियता के नये तरीके तभी सीखे जा सकते हैं, जब पहले बाह्य, भौतिक क्रियाकलाप के चरण से गुज़र लिया जाये। इस प्रकार हमारा प्रथम साक्षात्कार भौतिक सक्रियता (यथार्थ, भौतिक वस्तुओं के साथ काम) के चरण या भौतिकीकृत क्रियाकलाप (मॉडलों के साथ काम) के चरण से होता है। सक्रियता के भौतिक रूप की एक मिसाल तीलियों की मदद से गिनना है। क्रिया चूंकि वास्तविक वस्तुओं या नक्शों अथवा खाकों की मदद से की जाती है, इसलिए छात्र (और शिक्षक भी) उस क्रिया में समाविष्ट हर प्रकार्य को ठीक-ठीक नियंत्रित कर सकते हैं। अगला चरण है बोलते हुए क्रिया करना: छात्र काम करने के साथ-साथ बोलकर उसे समझाता भी जाता है। इस तरह क्रिया बाह्य रूप से आभ्यंतरिक रूप में संक्रमण करती है। फिर अंत में, आखिरी चरण में, क्रिया पूर्णतः आभ्यंतरिक धरातल पर संपन्न होती है, यानी ज्ञान का चिंतन की क्रियाओं में उपयोग किया जाता है। अध्यापक सीखने के हर चरण पर नज़र रख सकता है और यदि छात्र कहीं कुछ न समझे या त्रुटि करे, तो उसे क्रिया और ज्ञान के विकास

के पूर्ववर्ती चरण में वापस लौटा सकता है और वह जो चीज़ नहीं सीख सका था, उसे फिर से दोहरा सकता है।

आत्मसात्करण की गति और गुणवत्ता **संज्ञानात्मक सक्रियता के अभिविन्यासात्मक भाग** द्वारा, अर्थात उन वस्तुगत उपाधियों की समष्टि द्वारा निर्धारित होती हैं, जिन्हें छात्र ने क्रिया करते समय अपना लक्ष्य बनाया होता है। उदाहरणार्थ, बौद्धिक क्रियाओं के क्रमिक आत्मसात्करण के सिद्धांत के अनुसार, सामान्यीकरण चिंतन सक्रियता का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है और यह पहलू उन्हीं, केवल उन्हीं बातों के अनुसार रूप ग्रहण करता है, जो इस सक्रियता के अभिविन्यासात्मक आधार में शामिल होती हैं। केवल ये ही बातें महत्त्व रखती हैं, शेष महत्त्वहीन होती हैं, चाहे वे ऐसी सभी वस्तुओं में क्यों न पायी जाती हों, जिनसे छात्र का वास्ता पड़ता है।

अनेक सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं ने पाया कि सामग्री का आत्मसात्करण छात्र की **संज्ञानात्मक सक्रियता की संरचना** पर आधारित होता है, जो अपनी बारी में **शिक्षा की विधियों** पर निर्भर करती है। इस प्रकार यह बात भी सिद्ध हुई कि **ज्ञान का आत्मसात्करण और चिंतन-शक्ति का विकास शिक्षण के स्वरूप, सार तथा विधियों से संबद्ध हैं।** जिन मामलों में अध्यापक की देखरेख में छात्र सीखे जा रहे प्रत्ययों के लक्षण और नये प्रकार के कृत्यकों की पूर्ति के तरीके स्वयं खोजता है, शिक्षण में और अधिक विकास-सहायक प्रभाव पैदा हो जाता है। यदि शिक्षण प्रक्रिया में **बाह्यीकरण** से **आभ्यंतरीकरण** की ओर संक्रमण के लिए (यह ऐंद्रिक क्रियामूलक कृत्यकों की पूर्ति में ज्ञान का प्रयोग करने में व्यक्त होता है) और बौद्धिक क्रियाकलाप की सामान्यीकृत युक्तियों की खोज के लिए उपयुक्त परिस्थितियां बना दी जायें, तो आत्मसात्करण विशेषतः आसान हो जाता है।

चिंतन-शक्ति का विकास क्या शिक्षण प्रक्रिया के दौरान होता है, यदि प्रश्न संज्ञानात्मक समस्याओं को स्वयं ही हल करने की योग्यता और समस्यामूलक स्थिति से निकास स्वयं ही ढूंढ़ने की क्षमता का हो? यह मत प्रतिपादित किया गया कि पर्याप्त स्वतंत्र रूप से सोचने की योग्यता के अभाव का कारण यह होता है कि शिक्षण के दौरान ज्ञान देने की अनुत्पादक विधि इस्तेमाल की जाती है, यानी प्राथमिक कक्षा

के छात्र को प्रायः सामान्यीकरण के औपचारिक तर्क के तरीके ही सिखाये जाते हैं। वास्तव में बहुत वर्षों तक प्राथमिक शिक्षा में मुख्य बल मूर्त अथवा विशेष से औपचारिकतः सामान्य, समान और एकरूप की ओर संक्रमण के ज़रिये सामान्यीकरण करना सिखाने पर ही दिया जाता रहा था। फलस्वरूप बच्चे में अमूर्त ढंग से सोचने की योग्यता नहीं आ पाती थी अथवा यह योग्यता स्वतःस्फूर्त ढंग से, प्रायः शिक्षण की स्कूली विधियों की बदौलत नहीं, अपितु उनके बावजूद, विकसित होती थी। इस मत के प्रतिपादकों की दृष्टि में उन बहुसंख्य अनुसंधानों पर आधारित आपत्तियों में कोई दम नहीं है, जो सिद्ध करते हैं कि प्राथमिक कक्षाओं के छात्र का चिंतन मूर्त चिंतन होता है, कि उसमें विशेष से सामान्य की ओर संक्रमण पाया जाता है, यानी वह आगमनात्मक चिंतन होता है। शिक्षण पद्धति को दूसरे ढंग से भी संगठित किया जा सकता है और दूसरे परिणाम भी पाये जा सकते हैं, जो दिखायेंगे कि सामान्य से विशेष की ओर संक्रमण के आधार पर ठोस प्रत्यय बनाना संभव है।

अतः शिक्षा विषयों को ऐसा बनाने की कोशिश की गयी कि उनसे स्कूली छात्रों में अमूर्त ढंग से सोचने की योग्यता पैदा हो और वे ठोस परिघटनाओं का आगे विश्लेषण करने में वैज्ञानिक प्रत्ययों का सहारा लें। दूसरे शब्दों में, लक्ष्य यह था कि बच्चों को अपने चिंतन में सामान्य से विशेष की ओर बढ़ना सिखाया जाये। इसके लिए गणित और भाषा जैसे विषयों के विशेष पाठ्यक्रम बनाये गये, जो इस सिद्धांत पर आधारित थे।

जैसा कि ज्ञात है, पुरानी पद्धति के अनुसार बच्चों को सबसे पहले गिनती सिखायी जाती थी, जो कि अधिक सामान्य गणितीय प्रत्यय – राशि – का एक विशेष रूप है। मनोविज्ञानवेत्ताओं ने एक प्राक्कल्पना पेश की: क्या ऐसा नहीं हो सकता कि बच्चे को पहले राशि के सामान्य प्रत्यय से परिचित कराया जाये और इसके बाद ही विशेष रूपों पर आया जाये? बच्चे के मन में ऐसा प्रत्यय बन सके, इसके लिए आवश्यक था कि पहले वस्तु के आंतरिक सार को उद्घाटित किया जाये, अर्थात वस्तु की भीतरी विशेषताओं को उघाड़ा और किसी मॉडल में अंकित किया जाये और वस्तु के परिमाणात्मक प्राचल दिखाये जायें, जैसे

छात्रों को बताया जाये कि लंबाई क्या होती है, भार क्या होता है, वस्तुओं की समतुल्यता क्या होती है, वगैरह। दूसरे शब्दों में, उन्हें राशियों के परस्पर संबंध से परिचित कराया जाये। इस प्रकार राशि के प्रत्यय का समावेश होने से पहले ही बच्चे वस्तुओं के **सहसंबंधों** से अवगत हो जायेंगे, यथार्थ वस्तुओं के साथ काम करेंगे, उनमें विभिन्न प्राचल (भार, आयतन, लंबाई, क्षेत्रफल, इत्यादि) मालूम करेंगे, अलग-अलग प्राचलों के मुताबिक इन वस्तुओं की तुलना करेंगे और समतुल्यता अथवा असमतुल्यता के संबंध को विशेष चिह्नों से दिखाना सीखेंगे (क=ख; क>ख)। अक्षर चिह्नों का उपयोग वस्तुओं से विसंबंधित होने और **राशियों को बौद्धिक धरातल पर** समझने की संभावना देता था। इस प्रकार स्कूली छात्र गिनती जानने से पहले ही उत्क्रमणीयता, अनुत्क्रमणीयता, संक्रामिता, एकदिष्टता, आदि गणितीय परिघटनाओं को समझने लग गये, जिसकी बदौलत वे पहली कक्षा के पूर्वार्ध में ही समीकरण के सवाल कर सकते थे। अनुसंधानों ने दिखाया कि राशियों की मुख्य विशेषताओं को प्रदर्शित करनेवाले अक्षर चिह्न और फ़ार्मूले पहली कक्षा के बच्चों के लिए गिनती से परिचय होने से पहले भी सर्वथा ग्राह्य थे। शिक्षण पद्धति के ऐसे संगठन के परिणामस्वरूप बच्चों में अमूर्त चिंतन तथा संज्ञानकारी योग्यताओं के विकास और शिक्षा सामग्री के सचेतन आत्मसात्करण के लिए आवश्यक पूर्वापेक्षाएं पैदा हो जाती हैं और जिज्ञासा बढ़ जाती है।

बहुत कुछ इसी प्रकार से भाषा की शिक्षा भी दी जाने लगी। स्कूली छात्रों के सामने शब्द के रूप तथा अर्थ के बीच मौजूद कार्यात्मक संबंध उद्घाटित किया जाता, अर्थात बच्चों को भाषावैज्ञानिक विश्लेषण सिखाया जाता, वे सामान्य से विशेष की ओर बढ़ते, भाषा को महसूस करने लगते और इस तरह आगे चलकर व्याकरण और शैली को हृदयंगम करना उनके लिए अधिक आसान हो जाता।

आयु-वर्ग एवं शिक्षा मनोविज्ञान में प्रयुक्त विधियां

मनोविज्ञान की एक शाखा होने के नाते आयु-वर्ग एवं शिक्षा मनोविज्ञान ऐसे मनोवैज्ञानिक तथ्यों के संग्रह के लिए, जिनका कि

वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सकता है, मुख्यतः दो विधियां इस्तेमाल करता है – **प्रेक्षण और प्रयोग।** किंतु मनोवैज्ञानिक तथा शिक्षावैज्ञानिक अनुसंधान के विषय की विशिष्टता के कारण इन विधियों के उपयोग में कुछ आपरिवर्तन आवश्यक हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, आयु-वर्ग मनोविज्ञान में प्रेक्षण प्रायः ऐसे तथ्यों के क्रमिक अभिलेखन का रूप ले लेता है, जो बच्चे के मनोविकास पर प्रकाश डालते हैं। दूसरे शब्दों में, उसमें प्रेक्षण का रूप **दैनंदिनी की प्रविष्टियों** जैसा होता है।

पिछले वर्षों में आयु-वर्ग एवं शिक्षा मनोविज्ञान में मनोवैज्ञानिक प्रयोगों की भूमिका बहुत बढ़ गयी है और उनमें भी अधिकांशतः बल **प्रयोगशाला प्रयोग** के बजाय **प्राकृतिक प्रयोग** पर ही दिया जा रहा है, जिसे बच्चे के अध्ययन में प्रमुख स्थान प्राप्त है।

प्राकृतिक प्रयोग प्रयोगकर्त्ता द्वारा विशेष रूप से निर्मित तथा जान-बूझकर परिवर्तित अवस्थाओं में छात्रों की संज्ञानात्मक सक्रियता, व्यक्तित्व की विशेषताओं और उनके परस्पर संबंधों की गवेषणा करने की संभावना देता है। सोवियत शिक्षा मनोविज्ञान **निर्माणात्मक (शैक्षणिक) प्रयोग** को बहुत महत्त्व देता है, जो कि प्राकृतिक प्रयोग का ही एक रूप है। इस तरह के प्रयोग में छात्र के मनोविकास में होनेवाले परिवर्तन उसपर (छात्र पर) अध्यापक (प्रयोगकर्त्ता) के सक्रिय प्रभाव के फलस्वरूप देखे जाते हैं। जो भी तथ्य छोटी कक्षाओं के छात्रों द्वारा अमूर्त प्रत्ययों को ग्रहण किये जाने की संभावना को दर्शाते हैं, वे सभी निर्माणात्मक (शैक्षणिक) प्रयोगों के फलस्वरूप ही पाये गये हैं।

तथ्य संकलन की एक अन्य विधि तथाकथित **यमलीय विधि** है। इसमें प्रेक्षण तथा प्रयोग के दौरान एक-अंडी यमलों के मानसिक विकास की तुलना की जाती है और चूंकि यमलों की आनुवंशिक विशेषताएं समान होती हैं, इसलिए कई परिवेशी कारकों, पालन व शिक्षा के प्रभावों को स्पष्टतः अलग किया जा सकता है।

बच्चे के मनोविकास का अध्ययन **अनुप्रस्थ काट** विधि से भी किया जा सकता है, जब अनुसंधानकर्ता मानस निर्माण के किसी निश्चित क्षण की मानसिक विशेषताओं को जानने का प्रयत्न करता है। ऐसी काटें कई-कई बार दोहरायी जाती हैं और उनसे एक साथ बहुत सारे

छात्रों के बारे में जानकारी पायी जा सकती है। कभी-कभी विशेषज्ञ लंबे अरसे (कई सालों) तक एक ही छात्र का अध्ययन करता रहता है और उसके मानस में आनेवाले कतिपय महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों को दर्ज करता जाता है। इस प्रकार के अध्ययन को **अनुदैर्घ्य** अध्ययन कहा जाता है।

आयु-वर्ग एवं शिक्षा मनोविज्ञान बहुत सी **ठोस गवेषणात्मक विधियों** का व्यापक प्रयोग करता है, जिनमें प्रेक्षण तथा प्रयोग के सभी रूप और रूपांतर (संभाषण, कार्यकलाप के फलों का विश्लेषण, परीक्षाएं, आदि) शामिल हैं। ठोस गवेषणात्मक विधियों का बाहुल्य तथा वैविध्य आधुनिक शिक्षा तथा आयु-वर्ग मनोविज्ञान की सिद्धांत तथा व्यवहार, दोनों की ही दृष्टियों से महत्त्व रखनेवाली जटिल समस्याओं का समाधान सुनिश्चित करते हैं।

अध्याय २

मानसिक विकास और शिक्षण

§१. मानसिक विकास की अवस्थाएं

विकास – बच्चे द्वारा सामाजिक व ऐतिहासिक अनुभव के आत्मसात्करण की प्रक्रिया

मनुष्य और पशुओं का मानस निरंतर विकास की हालत में रहता है। किंतु पशुओं और मनुष्य के विकास के स्वरूप तथा सार में गुणात्मक अंतर होता है। मनुष्य और पशुओं की मानसिक क्रियाएं मूल की दृष्टि से भी और संरचना की दृष्टि से भी समरूप नहीं हो सकतीं। पशुओं का मानसिक विकास मुख्य रूप से **जैविकतः नियत आनुवंशिक अनुभव** के अंतरण के ज़रिये होता है। उसके आधार पर ही पशु अपने को बाह्य परिवेश के अनुकूल बनाता है। इसके विपरीत **मनुष्य की मानसिक क्रियाओं की विशिष्टता यह है कि वे बच्चे द्वारा सामाजिक और ऐति-हासिक अनुभव को आत्मसात् किये जाने की प्रक्रिया में विकसित होती हैं।** बच्चा मनुष्यों के बीच, मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त वस्तुओं और मनुष्यों के संबंधों के बीच पैदा होता और रहता है। उनमें सामाजिक व्यवहार का अनुभव स्थिरांकित होता है। इस अनुभव के आत्मसात्करण की प्रक्रिया ही बच्चे का विकास है। यह प्रक्रिया वयस्कों की निरंतर देखरेख में, अर्थात उनके द्वारा सिखाये जाते हुए घटती है।

मनुष्य की मानसिक सक्रियता अपने उच्च रूपों में **व्यवहित** होती है। लोगों ने प्राचीन काल में ही विशेष वस्तुओं, प्रतीकों, चिह्नों, संकेतों, आदि का उपयोग करना सीख लिया था, जो श्रम, शिक्षण, आदि के दौरान निश्चित सूचनाओं के अंकन तथा अंतरण के साधन होते हैं। संकेत और बोली क्रियाकलाप और शिक्षण-प्रक्रिया में साधन

का कार्य करते हैं। अतः सबसे पहले इन साधनों का उद्भव और विकास – और इसमें संस्कृति का विकास भी आ जाता है – ही मानस के ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया को द्योतित करता है। इन साधनों में दक्षता प्राप्त करने पर ही वैयक्तिक विकास निर्भर होता है। बच्चे की चिंतन, स्मरण तथा प्रत्यक्षण क्षमता काफ़ी हद तक बोली, काम करने के तरीकों, संकेतों, चिह्नों, आदि के प्रयोग में उसकी दक्षता का परिणाम होती है।

मानवजाति के इतिहास में कार्यकलाप के साधनों का ही विकास नहीं हुआ है, अपितु **इन साधनों के अंतरण, उत्तरवर्ती पीढ़ियों को ऐतिहासिक अनुभव के अंतरण का विशेष तरीका** भी जन्मा है, बढ़ा है और जटिलतर होता गया है। यह विशेष तरीका **शिक्षण** है। वह **सामाजिक अनुभव को अंतरित करने की एक लक्ष्योद्दिष्ट, विशेषतः गठित प्रणाली है। इस प्रकार शिक्षण बच्चे के मानसिक विकास की प्रक्रिया में निर्णायक भूमिका अदा करता है।**

मानसिक विकास की जैविक अवस्थाएं

जैसा कि बताया जा चुका है, जैविक और आनुवंशिक नियमों से मनुष्य के मानसिक विकास की मुख्य विशेषताओं की व्याख्या करना सैद्धांतिक दृष्टि से भ्रामक है और व्यवहार में बड़ी कठिनाइयां उत्पन्न कर सकता है, चूंकि तब अध्यापक की भूमिका निष्क्रिय प्रेक्षक से अधिक कुछ नहीं होती। मार्क्सवादी आयु-वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान यह मानकर चलता है कि मनुष्य के मानसिक विकास के नियम समाज की उपज होते हैं और विकास की प्रक्रिया बच्चे के रहन-सहन तथा पालन की अवस्थाओं की जटिल समष्टि से निर्धारित होती है।

विकास की जैविक अवस्थाओं, आनुवंशिकता और शारीरिक विकास की तंत्रिकाक्रियात्मक विशेषताओं की क्या भूमिका है?

मनुष्य की मानसिक सक्रियता एक बहुत ही जटिल वस्तु है। उसकी विशेषताएं सबसे पहले रहन-सहन और पालन की उपज होती हैं। शब्द-तर्कपरक स्मृति, संप्रत्ययात्मक चिंतन, वस्तुपरक प्रत्यक्षण और अन्य उच्चतर, विशिष्टतः मानवीय मानसिक क्रियाएं जैविक और

आनुवंशिक तरीकों से न तो अंकित होते हैं, न अंतरित ही किये जाते हैं। इस कारण हम उन्हें ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में बदलता और अधिकाधिक परिष्कृत होता पाते हैं।

मनुष्य की जटिल, जीवनकाल में विकासमान मानसिक सक्रियता (चिंतन, बोली) और अधिक सामान्य नैसर्गिक क्रियाओं (अनुकूलित संबंध, आदि बनाने की गति) के बीच भेद किया जाना आवश्यक है। मानसिक सक्रियता में बहुत सी अन्य चीज़ों के अलावा ये सामान्य क्रियाएं भी शामिल होती हैं। उदाहरणार्थ, ज्ञात है कि मनुष्य की संगीत योग्यता और सूक्ष्म ध्वनि पहचान क्षमता के बीच, गणितीय चिंतन और देशिक विश्लेषण व संश्लेषण क्रिया के बीच संबंध होता है। सामान्य, नैसर्गिक गुण, जिन्हें आम तौर पर **सहज वृत्तियां** कहा जाता है, मनुष्य की अधिक जटिल और बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित मानसिक क्रियाओं के अंग होते हैं।

कुछ मामलों में, जब सामान्य क्रियाएं अल्पविकसित अथवा अवरुद्ध होती हैं, वे अपने से उच्चतर, अधिक जटिल मानसिक सक्रियता को निर्धारित करने लगती हैं। उदाहरणार्थ, प्रांतस्था की पश्चकपाल-भित्ति पर गंभीर चोट लगने से मनुष्य ठीक से गणना नहीं कर पाता, अर्थात उसमें परिकलन अक्षमता पैदा हो जाती है। सामान्य विकास की हालत में कतिपय सहज वृत्तियां मानसिक सक्रियता के विकास की केवल एक शर्त होती हैं, लेकिन चूंकि मानसिक सक्रियता कतई भी इन सामान्य क्रियाओं तक सीमित नहीं है, इसलिए वह उनपर प्रत्यक्षतः निर्भर नहीं भी हो मकती है। यहां तक सिद्ध किया जा चुका है कि स्वयं सामान्य क्रियाएं भी एक विशेषतः संगठित कारक के प्रभाव से विकसित हो सकती हैं। इस तरह, मनोविज्ञानवेत्ताओं ने, मिसाल के लिए, सूक्ष्म ध्वनि पहचान शक्ति विकसित करने के तरीके ढूंढे हैं। स्थानिक मस्तिष्क विकारों के रोगियों के क्षतिपूरक-पुनःस्थापक उपचार के परिणामस्वरूप जटिल मानसिक सक्रियता (बोली, चिंतन प्रक्रियाएं) के ढांचे के पुनर्निर्माण का प्रचुर अनुभव बताता है कि जटिल मानसिक सक्रियता और सामान्य क्रियाओं के बीच एक गतिशील, व्यवहित संबंध है (सोवियत वैज्ञानिक अ० र० लूरिया और उनके सहयोगियों के अनुसंधान)।

उच्चतर तंत्रिका-सक्रियता के प्ररूप को कुछ वैज्ञानिक मस्तिष्क के कार्य की एक आनुवंशिकतः अंतरित विशेषता मानते हैं। वह तंत्रिका-प्रक्रियाओं की शक्ति, गतिशीलता और संतुलन को द्योतित करता है। किंतु विकास की मनोवैज्ञानिक और शरीरक्रियात्मक विशिष्टताओं का यह संबंध भी एकांगी नहीं है। वह स्वयं बच्चे के व्यष्टित्व की संरचना और उसके विकास की प्रक्रिया की अधिक जटिल प्रणाली में शामिल है और काफ़ी हद तक उनसे निर्धारित होता है। उदाहरणार्थ, तंत्रिका-प्रक्रियाओं की अति गतिशीलता अगर कुछ परिस्थितियों में आंशिकतः सूझ-बूझ की तीव्रता और कार्य-रीति को बदलने की संभावना का आधार होती है, तो अन्य परिस्थितियों में ध्यानाभाव तथा आवेगशीलता में सहायक बनती है।

इस प्रकार, शरीरक्रियात्मक, सरलतम और आनुवंशिकतः अंतरित क्रियाएं मानसिक विकास की प्रक्रिया के कतिपय पहलुओं पर प्रभाव डाल सकती हैं। किंतु उनका महत्त्व निर्णायक नहीं है। विकास-प्रक्रिया की मूल अंतर्वस्तु और क्रियातंत्र बहुत सी परिस्थितियों की समष्टि पर निर्भर होते हैं। उनमें प्रमुख बच्चों के शिक्षण व पालन की परिस्थितियां हैं।

§२. शिक्षण तथा पालन की प्रक्रिया में बच्चों के मनोविकास की मुख्य दिशाएं

मनुष्य के मानसिक विकास का मूल समाज में देखने का अर्थ यह कतई नहीं है कि विकास की प्रक्रिया को ज्ञान और अनुभवों के सामान्य संचय तक सीमित मान लिया जाये। मनुष्य के मानसिक विकास की सामाजिक प्रकृति को ध्यान में रखकर हम इस प्रक्रिया की **जटिलता और बहुमुखी स्वरूप** को समझ सकते हैं, क्योंकि ऐसा उपागम होने से ही विकास किन्हीं क्रियाओं की परिपक्वता का अथवा परिमाणात्मक वृद्धि का नहीं, अपितु **मनुष्य के समग्रतः विकास का, अर्थात व्यक्तित्व के विकास** का पर्याय बनता है।

शिक्षण की प्रक्रिया में बच्चों के विकास का मुख्य और निर्धारी पहलू ज्ञान और कार्य-रीतियों का जटिलीकरण होता है। आज बहुत से अनुसंधानकर्त्ता सिद्ध कर चुके हैं कि **शिक्षण की अंतर्वस्तु**, यानी बच्चे को सिखाये जानेवाले ज्ञान व कार्य-रीतियों को बदलकर उसके विकास को भी काफ़ी कुछ बदला जा सकता है।

सोवियत वैज्ञानिकों की अनेक खोजें बताती हैं कि शिक्षण की अंतर्वस्तु में विशेष साधनों (जैसे संवेदन विकास के दौरान आकृति और रंग के मानक, माप के मानक, गणित की शिक्षा के दौरान विभिन्न मॉडल तथा ग्राफ़) का समावेश किये जाने से बौद्धिक विकास की उन सीढ़ियों में बुनियादी परिवर्तन आ जाता है, जिन्हें निरपेक्ष और अपरिवर्तनीय माना जाता रहा था। स्विस मनोविज्ञानवेत्ता जां पियाजे (१८९६-१९८०) ने अपने अध्ययनों के आधार पर दावा किया था कि गणितीय संक्रियाएं ७-८ वर्ष से कम आयु के बच्चे के लिए दुर्बोध होती हैं। पियाजे द्वारा उल्लिखित "परिमाण की असं-रक्षणता" की परिघटना सर्वविदित है, जो निम्न प्रयोग में देखी जा सकती है। दो समान घड़ों में समान मात्रा में पानी भरा जाता है। इसके बाद बच्चा देखता है कि एक घड़े से पानी दूसरे, अधिक संकरे व ऊंचे घड़े में भरा जा रहा है। पानी के स्तर को ऊंचा उठा देखकर बच्चा कहता है कि पानी ज़्यादा हो गया है। लेकिन, जैसा कि सोवियत वैज्ञानिकों के अध्ययनों ने दिखाया है, ५ वर्ष की आयु के बच्चों के संबंध में भी उपरोक्त परिघटना सही नहीं होगी, यदि उन्हें मापने की संक्रिया **सिखायी जाये।**

तार्किक संक्रियाएं, जो जैसा कि पियाजे की मान्यता थी, ११-१२ वर्ष की आयु में जाकर ही विकसित हो पाती हैं, वस्तुतः स्कूलपूर्व आयु में ही पहुंच के भीतर बन जाती हैं, यदि उन संक्रियाओं को करने के विशेष साधन उपयोग किये जायें। उदाहरणार्थ, जब ६-७ वर्ष की आयु के बच्चों को किसी विशेष पहचान-चिह्न के मुताबिक चीज़ों को जोड़ने के लिए मानक प्रतिरूप इस्तेमाल करना सिखाया जाता है, तो उनमें वर्गीकरण की संक्रियाओं के विकास की क्रियाविधियां और

सीढ़ियां काफ़ी बदल जाती हैं। अध्ययनों से प्राप्त सामग्री बताती है कि प्राथमिक कक्षाओं के बच्चे और कभी-कभी तो स्कूलपूर्व आयु के बच्चे भी पाठ्य-विषयों की **वैज्ञानिक** अंतर्वस्तु को हृदयंगम करने में सक्षम होते हैं। वैज्ञानिक ज्ञान को आत्मसात् करना बच्चों की चिंतन-शक्ति के विकास को बुनियादी तौर पर पुनर्गठित करना आवश्यक बना देता है।

किसी भी वैज्ञानिक विषय के अनुरूप ज्ञान की संरचना जटिल होती है और इस संरचना में विशेष अभ्यास, वस्तुएं तथा संक्रियाएं समाविष्ट रहती हैं। **यह आवश्यक है कि बच्चे नयी संक्रियाओं को उनके विशिष्ट प्रकार्यों में, अर्थात उस कार्यकलाप के संदर्भ में आत्मसात् करें, जिसे संपन्न करने का साधन वह संक्रिया है।** उदाहरणार्थ, अंक-गणितीय संक्रियाओं को अंकगणितीय प्रश्नों को हल करने के साधन के रूप में सिखाया जाता है। किसी निश्चित प्रश्न को हल करने के लिए आवश्यक संक्रियाओं की समष्टि उस प्रश्न के हल करने की रीति होती है।

इस प्रकार शिक्षण में बच्चे निश्चित प्रश्नों और उन्हें हल करने की रीतियों को सीखते अथवा आत्मसात् करते हैं। **ज्यादा विविध प्रश्नों को हल कर पाना रीति के सामान्यीकरण पर निर्भर होता है।** सामान्यीकरण की विभिन्न मात्रावाली रीतियों की संरचनाओं में अंतर होता है। बहुत से बच्चे किसी निश्चित क्रिया को मन में रखकर और उससे सीधे अंकगणितीय क्रिया पर आकर अंकगणित के प्रश्न हल करते हैं। इसीलिए उनसे तथाकथित प्रतिलोम प्रश्नों को हल करने में गलतियां होती हैं। उदाहरण के लिए, प्रश्न है: "एक लड़का दूसरे लड़के को तीन पेंसिलें दे देता है और उसके पास पांच पेंसिलें बच जाती हैं। उसके पास कुल कितनी पेंसिलें थीं?" इस सवाल में बच्चे घटाने की संक्रिया इस्तेमाल कर बैठते हैं, क्योंकि उनकी चेतना में यही क्रिया आम तौर पर "दे देना", "बच जाना" शब्दों से जुड़ी होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बच्चे अंकगणितीय संक्रिया के **सामा-न्यीकृत अर्थ** को नहीं समझते। इसका कारण यह है कि अंकगणितीय प्रश्नों को हल करने की सामान्यीकृत रीति का ढांचा जटिल होता है और उसमें "समान – असमान", "अंश – पूर्ण" के संबंधों और

अंकगणितीय संक्रिया का समावेश होता है। जिन बच्चों को सामान्यीकृत रीति सिखायी जाती है, वे सीधे प्रश्नों और प्रतिलोम प्रश्नों को समान सहजता से हल कर लेते हैं।

इस प्रकार शिक्षण की अंतर्वस्तु, बच्चों द्वारा सीखी जा रही रीतियों और ज्ञान की विशेषताएं और शिक्षण में एक निश्चित क्रमबद्धता बच्चों के विकास के एक मुख्य पहलू को द्योतित करते हैं। **बच्चे के बौद्धिक विकास का सामान्य प्ररूप और संरचना शिक्षण की अंतर्वस्तु पर निर्भर होते हैं।**

रीतियों और ज्ञान के प्रयोग के मानसिक तंत्रों का विकास

एक ही तरह की रीतियां सक्रियता के सामान्य प्ररूप को निर्धारित करती हुई बच्चों द्वारा कमोबेश सफलता के साथ इस्तेमाल की जा सकती हैं। सफलता की मात्रा दत्त कार्य के किये जाने के मूल में निहित मानसिक तंत्रों की विशेषताओं पर निर्भर होती है। मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों से प्राप्त तथ्य दिखाते हैं कि ये तंत्र अलग-अलग पाठ्य-विषयों के लिए विशिष्ट संक्रियाएं और संबंध नहीं होते, बल्कि उनका **सामान्यीकृत स्वरूप** होता है। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ता बच्चों के बौद्धिक विकास की सामान्य प्रक्रिया में बौद्धिक सक्रियता की सामान्यीकृत युक्तियों (अमूर्तन, तुलना, विश्लेषण, संश्लेषण) का महत्त्व प्रदर्शित कर चुके हैं। उदाहरणार्थ, अंकगणित के प्रश्न को हल करने में "अंश – पूर्ण" संबंध का उपयोग करने के लिए बच्चे को इस संबंध के बारे में सामान्यीकृत ज्ञान का प्रश्न की ठोस शर्तों के साथ सहसंबंध स्थापित करना होगा और शर्तों में से वे चीज़ें अलग करनी होंगी, जो इस संबंध के अनुरूप हैं (लड़के के पास जितनी पेंसिलें थीं, वे "पूर्ण" हैं और जो बच गयीं और जो उसने दे दीं, वे "अंश" हैं)। प्रतीत हो सकता है कि यह सब स्वतः हो रहा है और ऐसी घटना के पीछे कोई भी विशेष क्रियाएं नहीं हैं। किंतु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। रीति के प्रयोग की प्रक्रिया में रीति और अर्जित ज्ञान का उस मूर्त प्रश्न से **सहसंबंध स्थापित करना** आवश्यक है, जिसमें वे प्रयोग किये जाते हैं। छात्रों को ऐसे सहसंबंध के उच्चतर रूप सिखाये जाने चाहिए,

जैसे मूर्त और अमूर्त ज्ञान को एक को दूसरे से जोड़ना, परस्पर संबद्ध बनाना।

विभिन्न कार्यकलापों के दौरान और विभिन्न पाठ्य-विषयों में भी छात्र के मनोवैज्ञानिक तंत्र का प्ररूप अथवा स्तर सामान्यतः वही होता है। उदाहरणार्थ, जो बच्चे मुख्यतया सामग्री की मूर्त अंतर्वस्तु से निदेशित होते हैं और अमूर्त सामान्यीकृत अर्थ को अलग करने में कठिनाई अनुभव करते हैं, उनके साथ ऐसा प्रायः गणित में भी होता है और भौतिकी में भी, इतिहास में भी होता है और साहित्य में भी। ठीक इसी प्रकार बच्चों के विविध कार्यकलापों में यथाविहितवादी प्रवृत्ति और सामग्री की ठोस विशेषताओं का विश्लेषण करने व उन्हें ध्यान में रखने के बजाय अमूर्त खाकों पर अधिक ज़ोर देने की प्रवृति भी प्रकट हो सकती है। अतः सामान्यीकृत क्रियाओं (तुलना, विश्लेषण, संश्लेषण, आदि) का विकास सीखी हुई रीतियों के प्रयोग की सफलता को निर्धारित करता है।

मानसिक तंत्रों का निर्माण बच्चों के विकास की प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है।

व्यक्तित्व के सामान्य विशेषकों का विकास

विकास की प्रक्रिया में ज्ञान तथा कार्य-रीतियां बदलते और जटिलतर ही नहीं बनते हैं। बच्चे के मानसिक विकास में **उसके समस्त व्यक्तित्व का बदलाव**, अर्थात व्यष्टित्व के सामान्य विशेषकों का विकास भी शामिल रहता है। विकास की प्रक्रिया में बच्चों की मानसिक सक्रियता के विभिन्न पहलू बदलते रहते हैं, रीतियों और अधिकाधिक संख्या में विभिन्न क्रियाओं को करने की योग्यताओं का संचयन और परिवर्तन होता है, ज्ञान और धारणाएं बदलती हैं, नये अभिप्रेरकों और अभिरुचियों का विकास होता है। फिर भी इन सब परिवर्तनों में जो सबसे सामान्य और निर्णायक हैं, उन्हें हम निर्दिष्ट कर सकते हैं। ये हैं: **१) बच्चे के वैयक्तिक झुकाव के सामान्य विशेषक**; **२) उसकी सक्रियता की मानसिक संरचना की विशेषताएं**; **और ३) चिंतन के तंत्रों का विकास-स्तर।**

१. वैयक्तिक झुकाव का विकास। विकास की प्रक्रिया में बननेवाले अभिप्रेरकों की समस्त बहुविधता के बावजूद बच्चों और किशोरों का अध्ययन करके उस मुख्य झुकाव को पहचाना जा सकता है, जो **उनके आचरण व व्यवहार की मुख्य विशेषताओं को निर्धारित करता है।** कुछ बच्चों में मुख्य **पढ़ाई की ओर झुकाव** होता है : उनके लिए अच्छा पढ़ना, शिक्षक की अपेक्षाओं को पूरा करना महत्त्वपूर्ण होता है; उन्हें अपने परीक्षा परिणामों की बहुत चिंता रहती है। कभी-कभी ऐसा झुकाव किंचित् औपचारिक रूप भी ले लेता है, छात्र को रट्टू बना देता है। दूसरे बच्चों में **ज्ञान की ओर झुकाव** होता है। वे प्रश्न, समस्याएं हल करना पसंद करते हैं, नयी-नयी बातें जानना चाहते हैं। किंतु सभी पाठ्य-विषयों से उनका समान लगाव नहीं होता। इन बच्चों के लिए अंक अथवा परीक्षा परिणाम उतने महत्त्वपूर्ण नहीं होते, जितनी यह बात कि उनकी जानकारी में कितनी वृद्धि हुई है। बहुत से बच्चों के लिए सर्वाधिक महत्त्व **अपने साथी-संगियों, आसपास के लोगों के साथ संबंधों** का होता है। इन बच्चों का व्यवहार समुदाय में, अपने समवयस्कों में और वयस्कों के सामने एक खास स्थान पाने की ओर लक्षित रहता है। प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के लिए पहले ही, स्कूलपूर्व आयु में ही विकसित हो चुके व्यवहार और संबंधों के संरूपों का कभी-कभी अत्यधिक महत्त्व होता है।

मुख्य वैयक्तिक झुकाव पर बच्चों के मानसिक विकास के बहुत से अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू भी निर्भर होते हैं। उदाहरण के लिए, ज्ञान की ओर झुकाव होने पर बच्चे बाह्य जगत की वस्तुओं और परि-घटनाओं के बारे में जानने को उत्सुक रहते हैं और ऐसी जानकारी पाने की रीति को अपनी चेतना में अंकित कर लेते हैं। किंतु साथ ही ये बच्चे क्रियाओं या दक्षता के मामले में किंचित् लापरवाह भी हो सकते हैं, क्योंकि बहुधा उनकी कार्य के परिणाम पाने में रुचि नहीं होती (विशेषतः जब इसका संबंध व्यावहारिक कृत्यकों को पूरा करने से होता है)। पढ़ाई की ओर झुकाव रखनेवाले बच्चे पढ़ाई से संबंधित कृत्यकों को और कुछ खास क्रियाओं को गंभीरतापूर्वक लेते हैं, किंतु उनमें कभी-कभी ढर्रे के मुताबिक काम करने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है और किसी नये (सीखे हुए नमूने से मेल न खानेवाले) प्रश्न को

हल करने की सामान्य रीति खुद ही खोजने में वे कठिनाई अनुभव कर सकते हैं। जिन बच्चों के लिए दूसरों के साथ संबंध विशेष महत्त्व रखते हैं, वे अपने इस झुकाव को अलग-अलग तरीकों से साकार बना सकते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ बच्चे कक्षा में सबसे पहले हाथ उठाते हैं और कुछ इसी से संतोष कर लेते हैं कि उन्हें गिरोह का सरदार, शरारती, आदि कहा जाता है।

सामान्य झुकाव ही बच्चों के स्कूली जीवन को, उनकी धारणाओं, ज्ञान तथा व्यवहार-संरूपों के विकास की विशेषताओं को निर्धारित करेगा। अतः **वैयक्तिक झुकाव को ध्यान में रखना सर्वाधिक कारगर शिक्षण तथा पालन की सर्वप्रथम और आवश्यक पूर्वशर्त है।**

किंतु झुकाव कोई जड़, अपरिवर्तनीय और व्यक्तित्व के प्ररूप को हमेशा के लिए तय कर देनेवाली चीज़ नहीं है। यह पाया गया है कि पहले प्राथमिक कक्षाओं में शनैःशनैः पढ़ाई के प्रति झुकाव बढ़ता है और फिर चौथी कक्षा से आसपास के लोगों के साथ संबंध महत्त्वपूर्ण बनने लग जाते हैं।

२. **सक्रियता की मानसिक संरचना का विकास।** हर सक्रियता में कुछ खास तत्त्व समाविष्ट रहते हैं। वे सब मिलकर ही उस सक्रियता की संरचना को द्योतित करते हैं। ये तत्त्व हैं: **अभिप्रेरक**, यानी वह चीज़, जिसकी खातिर कोई काम किया जाता है; **उद्देश्य**, यानी उस चीज़ की धारणा, जिसे दत्त कार्य को करने के परिणामस्वरूप पाया जाना है; **संक्रिया और रीति**, जो दत्त परिणाम को पाने के लिए आवश्यक हैं; और **वस्तु अथवा विषय**, यानी वह सामग्री, जिसे रूपांतरित करके आवश्यक परिणाम पाया जायेगा। उदाहरणार्थ, स्कूली बच्चे किंडरगार्टन के बच्चों के लिए नववर्ष वृक्ष को सजाने की चीज़ें या उपहार की वस्तुएं बनाते हैं। इस कार्य के अभिप्रेरक अलग-अलग बच्चों के मामले में अलग-अलग हो सकते हैं। कुछ उसे नन्हे बच्चों को खुश करने के लिए करते हैं, कुछ वयस्कों के आदेश का पालन करने के लिए और कुछ इसलिए कि इस काम को करने में खुद उन्हें आनंद आता है। उद्देश्य सजाने या उपहार की चीज़ें बनाना है। वस्तु वह सामग्री है, जिससे ये चीज़ें बनायी जाती हैं। संक्रियाएं वे सभी ठोस क्रियाएं हैं, जिन्हें वांछित परिणाम अथवा उत्पाद को पाने के लिए

किया जाना है (कागज़ काटना, रंगना, चित्र बनाना, चिपकाना, आदि)। इस सारे कार्य में बच्चे अपने व्यष्टित्व को अलग-अलग ढंगों से अभिव्यक्त करते हैं। कुछ पहले से ही निर्धारित करके कि कौन सी चीज़ें बनानी हैं (लक्ष्य), तदनुकूल सामग्री चुनते हैं, सभी आवश्यक संक्रियाएं करते हैं और वांछित परिणाम या उत्पाद पा लेते हैं। अन्य लक्ष्य के बारे में भूल जाते हैं और, मिसाल के लिए, कार या घर बनाना शुरू कर देते हैं। कुछ बच्चे मुख्यतः उस सामग्री से निर्दिष्ट होते हैं, जो उनके पास है या जिससे काम करने का उन्हें अनुभव है। उदाहरण के लिए, पहली कक्षा के एक बच्चे ने कागज़ का झुनझुना बनाना चाहा। लेकिन मेज़ पर रूई पड़ी है और वह गोला बनाने लग जाता है। पूछे जाने पर कि वह क्या बना रहा है, वह जवाब देता है: "मालूम नहीं, क्या बनेगा।" दो गोलों को जोड़कर वह बर्फ़ का पुतला बनाता है, फिर पेंसिल देखकर पुतले के लिए एक छड़ी बनाता है और बाकी पेंसिलों को सड़क और स्लेजगाड़ी की शक्ल में सजाकर कहता है: "बच्चों ने बर्फ़ का पुतला बनाया है और स्लेज की सवारी कर रहे हैं।" यहां न केवल ठोस उद्देश्य (झुनझुना बनाना), बल्कि अधिक व्यापक उद्देश्य (नववर्ष वृक्ष को सजाने की चीज़ें बनाना) भी भुला दिया गया है।

उद्देश्य और उसका अभिप्रेरकों के साथ संबंध सक्रियता में निर्णायक महत्त्व रखते हैं। बच्चे में लक्ष्योन्मुख सक्रियता शनैःशनैः ही विकसित होती है। उदाहरणार्थ, ३ वर्ष तक के बच्चे अपनी क्रियाओं को पूर्व-निर्धारित उद्देश्य के अनुसार नियोजित नहीं कर सकते और उद्देश्य को आसानी से भुला बैठते हैं। ५-७ वर्ष की आयु के बच्चों की क्रियाएं काफ़ी हद तक सामग्री से और उस वस्तुपरक स्थिति से निर्धारित होती हैं, जिसमें वे क्रियाएं की जाती हैं। उदाहरण के लिए, वे जब चौकोर टुकड़ों से घर बनाते हैं, तो उनकी क्रियाएं इसपर निर्भर होती हैं कि उनके सामने कैसे (किस रूप अथवा रंग के) टुकड़े पड़े हैं। घर बनाने की पहले से सोची हुई योजना पर उनकी क्रियाएं बहुत ही कम निर्भर होती हैं। स्कूलपूर्व आयु के अंत में ही भावी उत्पाद अथवा परिणाम की धारणा क्रियाकलाप में प्रमुख स्थान लेने लगती है। किंतु ऐसा सभी बच्चों के मामले में नहीं होता। स्कूल में पहुंचने के बाद भी बहुत से

बच्चों की सक्रियता में लक्ष्योन्मुखता, संगठनशीलता तथा संकल्प का स्तर काफ़ी नीचा होता है और यह उनके शिक्षण को अत्यधिक कठिन बना देता है।

प्राथमिक कक्षाओं के अंत तक अधिकांश छात्रों में सक्रियता के उद्देश्य और अभिप्रेरक के बीच स्वयं ही संबंध स्थापित करने की योग्यता पैदा हो जाती है। कार्य का सामान्य प्रयोजन बदलने पर बच्चे ठोस उद्देश्य को भी बदल सकते हैं और अपनी क्रियाओं को तदनुकूल संगठित कर सकते हैं। यह बात, मिसाल के लिए, निम्न प्रयोग में देखी जा सकती है। पहली से चौथी कक्षा तक के बच्चों को चौकोर टुकड़ों और अन्य सामग्रियों से नगर बनाने को कहा गया। किंतु आम कृत्यक हर बार बदल दिया जाता था। मिसाल के लिए, पहली बार ऐसा नगर बनाना था, जिसमें बौने और भीमकाय रहते हों। दूसरी बार ऐसे निवासियों का नगर बनाया जाना था, जो केवल दो ही रंग पहचानते हैं – लाल और नीला। तीसरी बार कहा गया कि ऐसा नगर बनायें, जिसके निवासी चलते नहीं, उड़ते हों। पहली और दूसरी कक्षाओं के बहुत से छात्रों ने तीनों बार एक ही तरह के नगर बनाये और बनाने के ढंग में भी कोई तब्दीली नहीं की। किंतु तीसरी और विशेषतः चौथी कक्षाओं के छात्रों ने हर बार उद्देश्य भी बदला और अपनी क्रियाएं भी।

आयु में वृद्धि के साथ अपनी सक्रियता को संगठित करने और अपनी योजना को साकार बनाने की योग्यता भी बढ़ती है। ये सब योग्यताएं बच्चों के शिक्षा कार्यकलाप में भी प्रकट होती हैं। कुछ बच्चे नियत कार्य पूरा करते हुए प्रश्न के केवल अलग-अलग हिस्सों पर ध्यान केंद्रित करते हैं और उन्हें आपस में संबद्ध नहीं करते, दूसरे पूरे तौर पर प्रश्न की समझ और अन्य पाठ्य-सामग्रियों से उसके संबंध, आदि को ध्यान में रखकर अनुरूप कार्य-रीतियां चुनते हैं। इस प्रकार सक्रियता की मानसिक संरचना के विकास की प्रक्रिया में बच्चों के सामान्य व्यवहार की विशेषताएं भी बदलती हैं (लक्ष्योन्मुखता, संगठनशीलता और संकल्प का विकास होता है) और स्वयं शिक्षा कार्यकलाप की संरचना भी बदलती है।

३. **चेतना के तंत्रों का विकास।** चेतना के विकास की प्रक्रिया में

संश्लेषित करने की योग्यता चेतना के विकास का एक मुख्य सूचक है। बच्चों को, मिसाल के लिए, ४ से ७ लक्षण (तेज़, हरा, लंबा, कड़ा) गिनाये जाते हैं और कहा जाता है कि उन वस्तुओं के नाम बतायें, जिनमें ये सभी लक्षण हों। पता चलता है कि विभिन्न बच्चे (पहली से चौथी कक्षाओं के छात्र) कृत्यक को एक ही जैसी सफलता के साथ हल नहीं कर पाते। कुछ सभी लक्षणों को ध्यान में रख सकते हैं (उनके अनुसार उपरोक्त लक्षण-समूह से युक्त चीज़ "रेलगाड़ी", हो सकती है, "सांप" हो सकता है), दूसरे कुछ ही लक्षणों को ध्यान में रखते हैं और "प्याज़", "पत्ता", आदि का नाम लेते हैं। कुछ बच्चों को तो दो लक्षणों को जोड़ने में भी दिक्कत होती है। वे एक ही लक्षण को ध्यान में रखते हुए और उनके मन में जो सहचारी संबंध बना हुआ है, उसके मुताबिक जवाब देते हैं ("हरा – पेड़", "कड़ा – पत्थर", "लंबा – रस्सी", आदि)।

आयु के साथ उन लक्षणों की संख्या ही नहीं बढ़ती, जिन्हें बच्चे किसी अविभाज्य में समेकित कर सकते हैं। संश्लेषण किये जानेवाले लक्षणों का स्वरूप भी बदलता है। ५ से ७ वर्ष तक की आयु के बच्चे मुख्यतया केवल ठोस, मूर्त लक्षणों को ही किसी चीज़ से संबंधित कर सकते हैं। दूसरी-तीसरी कक्षाओं में अमूर्त लक्षणों को संश्लेषित करने की क्षमता बढ़ जाती है। केवल विकास के अधिक ऊंचे स्तरों पर (उनका सभी बच्चों के लिए समान होना ज़रूरी नहीं है) अमूर्त और मूर्त लक्षणों का संश्लेषण करने की योग्यता प्रकट होती है। अध्ययनों के परिणाम दिखाते हैं कि अमूर्त सैद्धांतिक लक्षणों और मूर्त लक्षणों का विश्लेषण करने और उन्हें किसी अविभाज्य अंतर्वस्तु में जोड़ने की क्षमता चिंतन-क्रिया की कारगरता और कृत्यकों को स्वयं सृजनात्मक ढंग से करने की संभावना से परस्पर संबद्ध होती है।

इस प्रकार बच्चे के विकास की अविभाज्य प्रक्रिया में **तीन बुनियादी पहलुओं** को हम अलग कर सकते हैं: **१) शिक्षण की प्रक्रिया में ज्ञान और कार्य-रीतियों का विकास**; **२) सीखी हुई रीतियों के प्रयोग के मानसिक तंत्रों का विकास**; और **३) व्यष्टित्व के सामान्य विशेषकों** (झुकाव, सक्रियता की मानसिक संरचना, चेतना और चिंतन-शक्ति) **का विकास**। विकास के इनमें से हर पहलू की कुछ खास विशेषताएं

होती हैं, किंतु ये तीनों पहलू मिलकर ही व्यक्तित्व के परिवर्तन की वैसी प्रक्रिया को रचते हैं, जिसे मानसिक विकास कहा जा सकता है।

§३. शैक्षिक परिस्थितियां और शिक्षण की प्रक्रिया में बच्चों के विकास के नियम

मानसिक निर्मितियों के आरंभ तथा विकास के सामान्य नियमों और उन खास विशेषताओं को पहचाना जा सकता है, जो बच्चे के विकास के उपरोक्त पहलुओं में से प्रत्येक पहलू के लिए लाक्षणिक हैं।

मनोविकास की शर्त के रूप में बच्चे के व्यष्टित्व की क्रियाशीलता

ऐसा एक सामान्य नियम यह है कि बच्चे में नयी मानसिक निर्मितियों का प्रादुर्भाव अनिवार्यतः स्वयं बच्चे की क्रियाशीलता से संबद्ध होना चाहिए। हर नयी चीज़, चाहे वह शिक्षण में बाहर से, उदाहरणार्थ, रीति के रूप में, दी जा रही है, बच्चे के कार्यकलाप में शामिल और इस कार्यकलाप के परिवर्तन से संबंधित होनी चाहिए।

किसी भी सामग्री को तरह-तरह से सीखा, आत्मसात् किया जाता है। फलस्वरूप यह बच्चे के विकास के स्तर को देखते हुए विभिन्न शैक्षिक परिस्थितियों की अपेक्षा करता है। इ० म० सेचेनोव कहा करते थे कि "सीखना दूसरे के अनुभव के फलों का अपने पास उपलब्ध तथ्यों से मिलाना है।" सीखने की प्रक्रिया में बच्चा एक व्यष्टि के रूप में सामने आता है, जिसके झुकाव, चेतना और सक्रियता की अपनी विशेषताएं हैं। बच्चे के व्यष्टित्व के मुख्य पहलुओं का विकास सीखने के तंत्रों को बदलना आवश्यक बना देता है और यह शिक्षण विधियों में प्रतिबिंबित होना चाहिए। उदाहरणार्थ, यह ज़रूरी है कि जिस आयु-वर्ग के बच्चे हैं, उसके लिए लाक्षणिक मुख्य झुकाव की विशेषताओं को ध्यान में रखा जाये। ज्ञात है कि स्कूलपूर्व आयु में बहुत

सी नयी मानसिक निर्मितियां बच्चों की क्रीड़ा-सक्रियता के आधार पर प्रकट होती हैं। इस कारण उनकी शिक्षा प्राय: शिक्षात्मक खेलों के रूप में आयोजित की जाती है। वे नयी बातों, नयी रीतियों का ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया में बच्चे की क्रियाशीलता की वृद्धि में सर्वाधिक सहायक होते हैं।

प्राथमिक कक्षाओं के छात्रों का नयी बातों को सीखना काफ़ी हद तक स्कूली पढ़ाई की सार्थकता और साथ ही संज्ञानात्मक अभिरुचियों की वृद्धि से संबंधित होता है। अत: शिक्षा कार्यकलाप को ऐसा बनाया जाना चाहिए कि उसमें सीखने की ओर झुकाव, अपनी (अपने ज्ञान, अपनी योग्यता की) जांच और अपनी उपलब्धियों का मूल्यांकन करने की क्षमता भी शामिल हों। शिक्षा की प्रक्रिया में नयी बात का ज्ञान बच्चे के लिए अर्थवान और रुचिकारक होना चाहिए। आगे चलकर अधिक व्यापक अभिप्रेरकों (उदाहरणार्थ, सामाजिक अभिप्रेरकों, आत्म-परिष्कार की आकांक्षा, आदि) के द्वारा शिक्षा कार्यकलाप स्वयं ही प्रभावित होने लग जाता है। अनेक अग्रणी शिक्षाशास्त्रियों का अनुभव बहुत पहले ही सिद्ध कर चुका है कि शिक्षण में सबसे अधिक सफलता तब मिलती है, जब उसमें दत्त आयु-वर्ग के या व्यष्टिक-प्रारूपिक समूह के लिए जो झुकाव और अभिप्रेरक प्ररूप लाक्षणिक है, उन्हें ध्यान में रखा जाता है। शिक्षा कार्यकलाप की प्रत्येक छात्र के लिए सार्थकता ही उसकी कारगरता की सबसे मुख्य शर्त है।

मानसिक निर्मितियों के विकास का एक सामान्य नियम यह है कि वे व्यष्टि की सक्रियता के आधार पर बनती हैं। उल्लेखनीय है कि यह सक्रियता वयस्कों की मदद से और उनकी देखरेख में विकसित हो सकती है। बच्चे की सक्रियता में नये तत्त्वों का समावेश बाहर से, अर्थात बाह्य क्रियाकलाप के रूप में होता है और शनै:शनै: यह बाह्य सक्रियता आंतरिक, संकल्पनात्मक, मानसिक सक्रियता में बदलती जाती है।

अत: अभिप्रेरणात्मक क्षेत्र का विकास, चेतना, चिंतन-शक्ति और सक्रियता का विकास एक ऐसी बुनियादी आभ्यंतरिक पूर्वापेक्षा है, जो नयी मानसिक निर्मितियों के उद्‌भव तथा विकास को निर्धारित तथा व्यवहित करती है।

ज्ञान के विकास, उसके प्रयोग के तंत्रों और व्यक्तित्व के सामान्य विशेषकों के विकास की शैक्षिक परिस्थितियां

यह सिद्ध किया जा चुका है कि शिक्षण की प्रक्रिया में बच्चों के विकास के जो सामान्य नियम हैं, उनके अलावा बच्चे के मानसिक विकास के विभिन्न पहलुओं के लिए विशिष्ट ठोस शैक्षिक परिस्थितियों को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। शिक्षण की प्रक्रिया में छात्र विभिन्न शिक्षा-विषयों से संबंधित ज्ञान तथा कार्य-रीतियों को सीखते हैं। शिक्षा पाते हुए बच्चा मानवजाति और विज्ञान द्वारा तय किये हुए सारे रास्ते की पुनरावृत्ति नहीं करता है। ज्ञान और कार्य-रीतियों का वह नये सिरे से आविष्कार नहीं करता, अपितु वे बाहर से उसे अंतरित किये जाते हैं और वह उन्हें आत्मसात् करता है। शिक्षण में नयी क्रियाओं और नयी रीतियों का समावेश अनिवार्यतः किसी विशिष्ट कृत्यक के संदर्भ में किया जाता है और वे इस कृत्यक की पूर्ति का साधन होती हैं। यह ज़रूरी है कि बच्चे पहले पूर्ण कर दिये गये कृत्यकों की तुलना में इस नये कृत्यक की विशेषताओं को और उसकी पूर्ति के साधन के तौर पर नयी क्रिया की विशेषताओं को समझ सकें। केवल तभी नयी क्रियाओं का और विशेषतः संकेतों से युक्त संक्रियाओं का आत्मसात्करण सुविचारित और सार्थक होगा।

अनेक मनोवैज्ञानिक और शिक्षाशास्त्रीय अनुसंधानों द्वारा प्रमाणित हो चुका है कि नयी अंतर्वस्तु को संप्रेषित करने की सर्वाधिक कारगर विधि वह है, जिसमें वह अंतर्वस्तु बच्चों के लिए विशेषतः पृथक्कृत और प्रतिरूपण के ज़रिये अंकित की जाती है। इस तरह से वह सामान्यीकृत, अमूर्त रूप में आत्मसात् हो जाती है और फिर ठोस परिस्थितियों में उपयोग की जाती है। शिक्षण का यह तरीका ऐसी अंतर्वस्तु को आत्मसात् करने में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, जो मूर्त वस्तुओं में प्रत्यक्ष नहीं दिखायी देती, अर्थात सैद्धांतिक और खास तौर से वैज्ञानिक ज्ञान को आत्मसात् करने में।

दूसरी शैक्षिक परिस्थितियों में उन मानसिक तंत्रों का निर्माण और विकास होता है, जो छात्रों के किसी ठोस क्रियाकलाप में कार्य-

रीतियों और ज्ञान के सफल **प्रयोग** को सुनिश्चित बनाते हैं। सक्रियता के ये घटक बच्चों को रीति की भांति तैयार रूप में, सामान्यीकृत क्रिया के रूप में "अंतरित" नहीं किये जा सकते। उनका विकास शनैःशनैः और किसी ठोस सामग्री से क्रियाएं करने की प्रक्रिया में होता है। विशेष अभ्यासों के ज़रिये बच्चों में ऐसी बौद्धिक क्रियाएं विकसित की जा सकती हैं, जो ज्ञान और कार्य-रीतियों का अधिकतम प्रयोग संभव बनाती हैं।

व्यक्तित्व के सामान्य विशेषकों, जैसे लक्ष्योन्मुखता, संगठनशीलता और संकल्प (अर्थात अधिक ऊंचे स्तर की संरचनाओंवाली सक्रियता) के विकास के लिए भी विशेष परिस्थितियां अपेक्षित होती हैं। यह आवश्यक है कि बच्चे अपनी सक्रियता को संगठित करने के साधनों का इस्तेमाल करना जानें। उन्हें उसके निश्चित चरणों को पहचानना सिखाया जाता है। ये चरण हैं नियोजन, तैयारी, क्रियान्वयन, जांच और मूल्यांकन। आरंभ में, खास तौर से स्कूलपूर्व आयु और प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के मामले में, सक्रियता के इन चरणों में से प्रत्येक की पूर्ति को दर्ज करना लाभकर होता है। बच्चे प्रायः नियोजन, जांच और मूल्यांकन पर सामान्यतः कम ध्यान देते हैं। इसलिए उनकी पूर्ति को बाहर से निरंतर प्रोत्साहित किया जाना चाहिए – पहले प्रत्यक्ष निर्देशों और देखरेख द्वारा और फिर मात्र बाह्य संकेतों से। बच्चे अपनी सक्रियता के दौरान उसके विभिन्न चरणों का ग्राफ़ बनाकर उसका अवलंब ले सकते हैं और इसके बाद शनैःशनैः आभ्यंतरीय साधनों पर आ सकते हैं।

लक्ष्योन्मुखता का विकास बच्चे के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं से संबद्ध एक बहुत ही जटिल प्रक्रिया है। अतः एक ओर तो बच्चों को अपनी क्रियाओं को उद्देश्य के साथ, भावी उत्पाद के साथ, अपनी सक्रियता के अभीष्ट परिणाम के साथ जोड़ना और उद्देश्य या कृत्यक में परिवर्तन होने पर क्रिया को भी बदलना, पुनर्गठित करना सिखाना चाहिए। दूसरी ओर, उनसे न केवल निश्चित परिणाम पाने, काम को पूर्ण परिणति पर पहुंचाने और नियत अपेक्षाओं को ध्यान में रखने की मांग की जानी चाहिए, अपितु प्राप्त परिणाम को उनके लिए विशेष रूप से निर्दिष्ट करके और लक्ष्य तथा कृत्यक की दृष्टि से उसका

विश्लेषण करके भी दिखाना चाहिए। साथ ही जिन बच्चों ने सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त किये हैं, उन्हें शाबाशी दी जानी चाहिए। किंतु मूल्यांकन का स्वरूप बच्चे की नज़रों में औपचारिक व अनिवार्य न होकर उसकी सक्रियता की उपलब्धियों से संबंधित होना चाहिए।

इस प्रकार **बच्चे के विकास की प्रक्रिया** को किसी एक ही पहलू का परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। यह एक **जटिल और बहुमुखी** प्रक्रिया है। फलस्वरूप **मानसिक विकास के विभिन्न पहलुओं को सुनिश्चित करनेवाली शैक्षिक परिस्थितियां भी काफ़ी भिन्न-भिन्न होती हैं।**

§४. आयुगत विकास का काल-विभाजन

आयु। आयु-वर्ग अथवा विकास का आयुगत चरण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर मनुष्य के मनोविकास की प्रकृति की समझ के संबंध में सामान्य उपागम पर निर्भर करता है। एक बहुप्रचलित दृष्टिकोण के अनुसार आयु-वर्ग अपरिवर्तनीय और निरपेक्ष होते हैं। आयु-वर्ग की ऐसी धारणा मानसिक विकास को एक नैसर्गिक जैविक प्रक्रिया मानने से संबद्ध है। इसका विरोधी दृष्टिकोण आयु-वर्ग की अवधारणा को मानने से लगभग इन्कार ही कर देता है और विकास को ज्ञान और अनुभव का मात्र सामान्य संचय समझता है।

सोवियत मनोविज्ञान इस संबंध में **आयु-कालों के ऐतिहासिक स्वरूप** विषयक प्रस्थापनाओं का अनुसरण करता है। ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में सामान्य सामाजिक परिस्थितियां, जिनमें कि बच्चा बड़ा होता है, और शिक्षण की अंतर्वस्तु तथा विधियां बदलती रहती हैं, जिसके फलस्वरूप आयु-वर्ग अथवा विकास के आयुगत चरणों में भी परिवर्तन आना अनिवार्य हो जाता है।

हर आयु-वर्ग गुणात्मक रूप से मानसिक विकास का एक विशेष चरण होता है और अपने साथ ऐसे अनेक परिवर्तन लाता है, जो अपनी समष्टि में बच्चे के विकास के दत्त स्तर पर उसके व्यष्टित्व की विशिष्ट संरचना का निर्माण करते हैं। ल० स० विगोत्स्की ने **आयु अथवा आयु-वर्ग को विकास का एक निश्चित युग, चक्र या सीढ़ी**

और एक विशेष, अपेक्षया पूर्ण अवधि कहा था, जिसका महत्त्व विकास के सामान्य चक्र में उसके स्थान से निर्धारित होता है और जिसमें विकास के सामान्य नियम हर बार गुणात्मक दृष्टि से नये रूप में प्रकट होते हैं। एक आयु-वर्ग से दूसरे आयु-वर्ग में संक्रमण करते हुए नयी मानसिक निर्मितियां पैदा होती हैं, जो पूर्ववर्ती कालों में नहीं थीं, और स्वयं विकास का क्रम भी बदलता और पुनर्गठित हो जाता है।

किसी भी आयु-वर्ग की विशेषताएं अनेक बातों की समष्टि पर निर्भर होती हैं, जैसे **जीवन के दत्त चरण में बच्चे से की जानेवाली अपेक्षाएं, परिवेश के साथ संबंधों का सार, बच्चे के ज्ञान और सक्रियता का रूप और इस ज्ञान को आत्मसात् करने की रीतियां।** आयु-वर्ग की विशिष्टता को निर्धारित करनेवाले कारकों की समष्टि में बच्चे के शारीरिक विकास के विभिन्न पहलुओं की विशेषताएं भी शामिल होती हैं (उदाहरणार्थ, बाल्यकाल में कुछ निश्चित आकृतिक निर्मितियों का परिपक्वन, किशोरावस्था में होनेवाले शारीरिक परिवर्तनों की विशेषताएं, आदि)।

आयु-वर्ग की विशेषताओं को निर्धारित करनेवाली बाह्य परिस्थितियां बच्चे को प्रत्यक्षतः प्रभावित नहीं करतीं। वस्तुगत रूप से परिवेश के एक ही घटक प्रत्येक बच्चे पर अलग-अलग तरह से प्रभाव डाल सकते हैं। यह इसपर निर्भर होता है कि वे बच्चे की किन पूर्वविकसित मानसिक विशेषताओं से अपवर्तित होती हैं। **इन बाह्य और आभ्यंतरिक कारकों अथवा परिस्थितियों की समष्टि ही किसी आयु-वर्ग के विशिष्ट स्वरूप को निर्धारित करती है और उनके परस्पर संबंध में परिवर्तन अगले आयु-वर्ग में संक्रमण की आवश्यकता तथा विशेषताओं को जन्म देता है।**

इस प्रकार किसी भी आयु-वर्ग की पहचान **जीवन के उस चरण में बच्चे के जीवन की परिस्थितियों तथा उससे की जानेवाली अपेक्षाओं की विशिष्टता से, परिवेश के साथ बच्चे के संबंधों से, उसकी मानसिक संरचना, व्यष्टित्व, ज्ञान तथा चिंतन-शक्ति के विकास के स्तर से और कुछ खास शरीरक्रियात्मक विशेषताओं की समष्टि से होती है।**

विकास के आयुगत चरणों के परिवर्तन का मुख्य क्रियातंत्र

आयु-वर्ग का निर्धारण **परिवेश के साथ संबंधों के विकास के स्तर से और ज्ञान, रीतियों तथा योग्यताओं के विकास के स्तर से** होता है। विकास-प्रक्रिया के इन दो विभिन्न पहलुओं का संबंध अगले आयु-वर्गों में संक्रमण का सबसे मुख्य आभ्यंतरीय आधार (प्रेरक शक्ति) होता है। उदाहरणार्थ, प्रारंभिक बचपन से ही बाह्य जगत के साथ बच्चे का संबंध वयस्कों के साथ उसके संबंधों द्वारा व्यवहित होता है। ऐसी संबंध प्रणाली के आधार पर ही बच्चा नयी बातें सीखता है, उसकी धारणाओं के सामान्य स्तर बनते हैं, वयस्कों के साथ संपर्क-स्थापन की नयी रीतियों से वह परिचित होता है, उसकी वाक्शक्ति विकास करती है, आदि। यह सब बच्चे की स्वतंत्र क्रियाशीलता को बढ़ाता है और इसलिए आसपास के लोगों के साथ संबंधों के संरूप को भी बदलता है। अपनी बारी में संबंधों के संरूप का परिवर्तन मनोविकास के आगे के क्रम की परिस्थितियों में तब्दीली लाता है (उदाहरणार्थ बच्चा अब बाह्य जगत का संज्ञान स्वयं अपनी सक्रियता के माध्यम से भी करने लगता है)। ऐसी ही स्थिति (यद्यपि सर्वथा भिन्न स्तर पर) किशोरावस्था में भी पैदा होती है, जब बच्चे के पूर्ववर्ती विकास की उपलब्धियों और जीवन की परिस्थितियों में हुए परिवर्तनों की समष्टि परिवेश के साथ बच्चे के संबंधों की अंतर्वस्तु तथा संरूप का बदलना और खुद वयस्कों द्वारा भी उसके साथ अपने संबंधों के स्वरूप को बदलना आवश्यक बना देती है। तथाकथित "**विकास के संकट-काल**" पालन की उन परिस्थितियों में भी पैदा होते हैं, जब बदले हुए संबंधों को ध्यान में नहीं रखा जाता और पूर्वविकसित तथा पूर्ववर्ती आयु-काल के लिए लाक्षणिक परिवेश के साथ संबंधों का इस आयु-काल के दौरान विकसित योग्यताओं व क्षमताओं के साथ संतुलन भंग हो जाता है।

शिक्षा और पालन की प्रक्रिया में यह ध्यान में अवश्य रखा जाना चाहिए कि एक ओर परिवेश के साथ संबंधों के संरूपों और, दूसरी ओर, बच्चे के ज्ञान तथा मानसिक सक्रियता की रीतियों के विकास के बीच संतुलन दोनों ही ओर से बनता या बिगड़ता है। उदाहरणार्थ,

बच्चे की सक्रियता की संभावनाओं का विस्तार और उसकी आवश्यकताओं का परिवर्तन परिवेश के साथ संबंधों की समस्त प्रणाली को बदलने की आवश्यकता पैदा कर देता है। अपनी बारी में खुद नयी संबंध प्रणाली बच्चे की सक्रियता के आगे विकास का आधार बन जाती है।

मनोविज्ञानवेत्ताओं ने प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों में एक ओर तो परिवेश के साथ उनके संबंधों के विकास के स्तर तथा इस आधार पर निर्मित अभिप्रेरकों और, दूसरी ओर, उनकी सक्रियता की अंतर्वस्तु तथा रीतियों के बीच एक प्रकार का असंतुलन अथवा अननुरूपता पायी है। प्रायः बच्चे जब स्कूल जाने लगते हैं, उनके संज्ञानात्मक अभिप्रेरक, चाहे बहुत सरल रूप में ही सही, विकसित हो चुके होते हैं और वे पढ़ाई के लिए बहुत उत्कंठित रहते हैं। किंतु स्कूलों में शिक्षण की जो अंतर्वस्तु और रीतियां प्रचलित थीं, वे बच्चों की ज्ञान-लिप्सा से मेल नहीं खाती थीं। पाठ्यक्रम में ऐसी बहुत सी, शुद्ध तकनीकी बातें होती थीं, जो न केवल बच्चे के लिए अप्रेरणादायी थीं तथा मानसिक स्तर पर जिनका अर्थ वह अभी समझ नहीं पाया था, बल्कि जो उससे बौद्धिक सक्रियता दिखाने की बेहद कम अपेक्षा भी करती थीं। यह उन अभिप्रेरणात्मक संबंधों और उन क्षमताओं के कतई अनुरूप नहीं था, जो अब तक बच्चे में विकसित हो चुके थे। फलस्वरूप यह संज्ञानात्मक सक्रियता के और प्रायः पढ़ाई के भी अभिप्रेरकों व अभिरुचि को मंद तथा कभी-कभी अवरुद्ध कर देता था। सोवियत संघ के प्राथमिक विद्यालयों में प्रचलित वर्तमान पाठ्यक्रम इस दोष या असंतुलन को काफ़ी हद तक दूर कर देता है। वह चूंकि बच्चों को चाहे सामान्य ही सही, लेकिन पूर्णतः वैज्ञानिक ज्ञान देने की ओर लक्षित है और अवबोधन व चिंतन की अपेक्षा करता है और चूंकि शिक्षण के रूप भी अब प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों की आयुगत विशेषताओं के काफ़ी हद तक अनुरूप हैं, इसीलिए आज के बच्चे बड़े चाव और मनोयोग से स्कूल में पढ़ते हैं।

बच्चे के जीवन की परिस्थितियों और पालन व शिक्षण के रूपों का परिवर्तन ही वह आधारभूत कारक है, जो आयु-वर्ग की विशिष्टता को निर्धारित करता है।

स्कूल में प्रवेश के लिए बच्चों को तैयार करने के वास्ते बच्चों को किंडरगार्टन में जो शिक्षा – पूर्वप्राथमिक शिक्षा – दी जाती है, उसने स्कूलपूर्व आयु-वर्गों की सीमाओं तथा अंतर्वस्तु को काफ़ी बदल डाला है। शिक्षा मानोवैज्ञानिक अध्ययनों का अनुभव और अधिक परिष्कृत कार्यक्रमों के अनुसार शिक्षण के परिणाम दिखाते हैं कि शिक्षा-प्रक्रिया का एक खास ढंग से संगठन और शिक्षण की अंतर्वस्तु तथा विधियों में परिवर्तन किये जाने से प्राथमिक कक्षाओं के छात्रों की आयुगत विशेषताओं में उल्लेखनीय तब्दीलियां आ जाती हैं। विशेषत: उनमें चिंतन सक्रियता के कुछ आरंभिक सैद्धांतिक रूप विकसित होने लगते हैं और शिक्षा सक्रियता भी अधिक ऊंचे स्तरों पर पहुंच जाती है। इसलिए आयु-वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान में शिक्षाशास्त्रीय मानदंडों पर आधारित आयु-विभाजन इस्तेमाल किया जाता है। स्कूलपूर्व आयु-वर्गों का निर्धारण किंडरगार्टन के वर्गों के अनुसार किया जाता है: शिशु वर्ग – ३ वर्ष की आयु तक; कनिष्ठ वर्ग – ४ वर्ष; मध्यम वर्ग – ५ वर्ष; ज्येष्ठ वर्ग – ६ वर्ष; उपक्रम अथवा प्राक्-स्कूल वर्ग – ७ वर्ष (कतिपय शिक्षाशास्त्री इन्हें तीन ही वर्गों में बांटते हैं: शिशु वर्ग, प्राक्-स्कूलपूर्व वर्ग और स्कूलपूर्व वर्ग)। स्कूली शिक्षा के मुख्य चरणों और उनसे संबंधित बच्चों की विशेषताओं के मुताबिक स्कूली बच्चों को तीन आयु-वर्गों में बांटा जाता है: प्राथमिक कक्षाओं के छात्र (पहली से तीसरी-चौथी कक्षा तक); बिचली कक्षाओं के छात्र (चौथी-पांचवीं से सांतवीं-आठवीं कक्षा तक); और बड़ी कक्षाओं के छात्र (आठवीं से दसवीं कक्षा तक)।

ध्यान रहे कि विभिन्न आयु-वर्गों के लक्षण-वर्णन सामान्य लक्षणों व विशेषनाओं पर आधारित हैं। शिक्षाशास्त्री के लिए आवश्यक है कि वह बच्चों की सामान्य आयुगत विशेषताओं के साथ-साथ वैयक्तिक विशेषताओं को भी ध्यान में रखे, जो हर बच्चे के मामले में काफ़ी भिन्न हो सकती हैं।

अध्याय ३

प्राक्-स्कूलपूर्व और स्कूलपूर्व आयु-वर्गों की मनोवैज्ञानिक विशेषताएं

§१. शैशवावस्था में मानसिक विकास की पूर्वापेक्षाएं और विशेषताएं

नवजात (एक-दो महीने तक का बच्चा)

मानवशिशु जन्म के समय अधिसंख्य प्राणियों के बच्चों से कहीं ज़्यादा असहाय होता है। उसके व्यवहार के अननुकूलित परावर्ती रूप, बाह्य परिवेश से अनुकूलन-क्षमताएं अपेक्षया सीमित होते हैं। वह जिन प्रतिवर्तों के साथ पैदा होता है, वे हैं विभिन्न शरीरक्रियात्मक कार्यों का नियमन करनेवाले प्रतिवर्त, जैसे चूसने का प्रतिवर्त, प्रतिरक्षा तथा अभिविन्यास प्रतिवर्त और पकड़ने, सहारा लेने, डग भरने के प्रतिवर्त, आदि के प्रतिवर्त। ये सभी मेरुदंडीय तथा अवप्रांतस्था तंत्रिका केंद्रों से नियंत्रित होते हैं, जो बच्चे की ज्ञानेंद्रियों की भांति जन्म के समय तक पर्याप्त विकसित हो चुके होते हैं। अधिकांश बाह्य प्रभावों का उत्तर नवजात बच्चा हाथों और पैरों की अविभेदीकृत हरकतों से देता है। बड़े गोलार्धों की प्रांतस्था अभी पूरी तरह नहीं बनी होती है : तंत्रिका कोशिकाओं से शाखाएं लगभग नहीं फूटी होती हैं और चालन मार्ग सुरक्षात्मक माइलिनी आवरणों से नहीं ढके होते हैं। इसके फलस्वरूप उत्तेजन का व्यापक किरणन होता है और अनुकूलित प्रतिवर्त बनने में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। व्यवहार के काफ़ी अधिक जन्मजात रूपों का अभाव बच्चे का कमज़ोर पक्ष नहीं, अपितु शक्ति है, क्योंकि इस वजह से उसमें नये अनुभव और मनुष्य के लिए लाक्षणिक व्यवहार के नये रूपों को ग्रहण अथवा आत्मसात् करने की क्षमता आ जाती है।

नवजात बच्चे के मस्तिष्क के ठीक विकास के लिए विश्लेषकों – इंद्रियों – का सक्रिय रूप से काम करना बहुत आवश्यक है। यदि वह "संवेदन अलगाव" (पर्याप्त बाह्य प्रभावों के अभाव की स्थिति) में पड़ जाता है, तो उसका विकास अति मंद हो जायेगा। नवजात बच्चे के विकास की एक विभेदकारी विशेषता यह है कि उसके विश्लेषकों की सक्रियता कायिक सक्रियता से अधिक तेज़ी से बढ़ती है। उच्चतर विश्लेषकों – दर्शन और श्रवण इंद्रियों – की सक्रियता का विकास तो बहुत ही तीव्र गति से होता है। इसके परिणामस्वरूप अभिविन्यास प्रतिवर्त भी विकसित होता है और नये-नये तथा विविध अनुकूलित प्रतिवर्ती संबंध भी बनने लगते हैं। जीवन के पहले दस दिन में ही बहुत से बच्चों में दुग्धपान करते समय स्थिति का अनुकूलित प्रतिवर्त पैदा हो जाता है। पहले दो महीनों में सभी विश्लेषकों से संबंध रखनेवाले अनुकूलित प्रतिवर्त बन सकते हैं।

अभिविन्यास प्रतिवर्त का विकास दृष्टि और श्रवण-शक्ति की एकाग्रता के पैदा होने में प्रकट होता है, जिसके दौरान आवेगी और अव्यवस्थित हरकतें रुक जाती हैं। यदि जन्म के बाद के पहले दिनों में निद्रा तथा जागृत अवस्थाओं में कम भेद होता है, तो दो-तीन महीने के अंत तक उनमें पूर्ण भेद हो जाता है और जागृतावस्था अधिक सारगर्भित तथा सक्रियतापूर्ण बन जाती है। **उदीयमान मानसिक सक्रियता आवेगी हरकतों के दमन में प्रकट होती है।**

दो-तीन महीने का होते-होते बच्चा वयस्कों के प्रति कुछ खास प्रतिक्रियाएं दिखाने लगता है। वह समझने लग जाता है कि परिवेश के साथ संपर्क में वयस्क एक अनिवार्य माध्यम है, कि वह उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति का स्रोत है। शनैःशनैः वयस्क के सामने आने पर बच्चे में एक विशिष्ट संवेगात्मक व अंग-संचालनात्मक प्रतिक्रिया विकसित होने लग जाती है, जिसे "जीवंतता मनोग्रंथि" कहते हैं। यह मनोग्रंथि हाथ-पैर ज़ोर-ज़ोर से चलाने में व्यक्त होती है। बच्चा अपने ऊपर झुके आदमी के चेहरे पर दृष्टि एकाग्र करता है और उसे देखकर मुस्कराता है। "जीवंतता मनोग्रंथि" के आविर्भाव को नवजात-अवस्था के अंत और शैशव का आरंभ माना जाता है।

शिशु-वर्ग में एक-दो महीने से एक वर्ष की आयु तक के बच्चे सम्मिलित किये जाते हैं।

अनेक बुर्जुआ मनोविज्ञानवेत्ताओं के अनुसार जीवन के पहले महीनों में बच्चा समाज-उदासीन होता है और अपनी ही बंद दुनिया में रहता है। इसीलिए नवजात के रुदन को वे एक परायी, प्रतिकूल दुनिया के सामने बच्चे की घबड़ाहट का सूचक मानते हैं। आस्ट्रियाई मनोविज्ञानवेत्ता सिगमंड फ़ायड (१८५६-१९३९) ने सद्यःजात बच्चे के रोने को उस पीड़ा का परिचायक क्रंदन कहा था, जो बच्चा तब अनुभव करता है, जब वह मां के शरीर से विलग होता है। फ़ायड के अनुसार, इस क्षण से बच्चे की मूलप्रवृत्तिक आवश्यकताओं और समाज में जीवन की आवश्यकताओं के बीच स्थायी टकराव पैदा हो जाता है। फ़ायड इसका निराशावादी चित्र खींचते हैं कि ये टकराव कैसे बच्चे के मानसिक जीवन को एक अनवरत नाटक में बदल देते हैं।

फ़ायड के इस विचार का जां पियाजे के आरंभिक अध्ययनों पर काफ़ी प्रभाव पड़ा। पियाजे की मान्यता थी कि बच्चा जन्म के क्षण से दो वर्ष की आयु तक वास्तविकता से पूरी तरह कटा रहता है: उसका मनोजगत अपनी आवश्यकताओं को यथार्थ विश्व में नहीं, अपितु अपने ही स्वप्नलोक में, स्वप्नवत् अनुभवों में तुष्ट करने की जन्मजात क्षमता तक सीमित होता है।

फ़ायड और पियाजे की इन मान्यताओं की गंभीर आलोचना हुई। प्रगतिशील फ़्रांसीसी विद्वान आंरी वाल्लों (१८७९-१९६२) ने कहा कि किसी पूर्वाभास या किसी चीज़ के बारे में खेद को रुदन का मनोवैज्ञानिक अभिप्रेरक मानना सरासर निराधार है। बाल मानस की आरंभिक असंपृक्तता से संबंधित पियाजे के विचार को विगोत्स्की ने और बाद में अन्य सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं ने भी सर्वथा अयुक्तिसंगत ठहराया है।

सोवियत और प्रगतिशील विदेशी विद्वानों के अध्ययनों से प्राप्त बहुसंख्य तथ्य सिद्ध करते हैं कि शिशु का जीवन पूर्णतः वयस्कों पर निर्भर होता है। वयस्क आदमी बच्चे की बुनियादी आवश्यकताएं तुष्ट

करता है, यानी उसे खिलाता है, नहलाता है, पलटता है। वयस्क आदमी बच्चे की मानसिक सक्रियता की आवश्यकता भी पूरी करता है – वह उसे गोद में लेता है और वह चहक उठता है। वयस्क की मदद से स्थान परिवर्तन करते हुए बच्चा बहुत सारी वस्तुओं को देखने और उनके एक दूसरे की सापेक्षता में जगह बदलने को देखने की संभावना पाता है, जो उसके संवेदनात्मक अनुभव का निर्माण करता है। वयस्कों की मदद से ही वह अपने ध्वनि तथा स्पर्श बिंब भी बनाता है।

ल० स० विगोत्स्की ने कहा था कि बाह्य संसार से बच्चे का संबंध आरंभ से ही **सामाजिक संबंध** होता है। उनके अनुसार, शिशु को इस दृष्टि से अधिकतम सामाजिक प्राणी कहा जा सकता है। उसका सारा जीवन ही ऐसे बना होता है कि उसमें सभी स्थितियों में दूसरे आदमी की दृश्य अथवा अदृश्य उपस्थिति अवश्य रहती है।

वयस्क आदमी बच्चे के लिए वस्तुजगत से संपर्क स्थापन में **मध्यस्थ** का काम करता है। प्रायः बच्चा वयस्क की उपस्थिति में किसी वस्तु को उठाने, उसे उलटने, पलटने, देखने, आदि लगता है, किंतु वयस्क के हटते ही वह उसमें रुचि खो बैठता है। जब वह चाहता है कि वयस्क उसके साथ मिल-जुलकर क्रिया करे, **संयुक्त सक्रियता** वयस्क के साथ उसके संपर्क का मुख्य रूप बन जाती है। बच्चे की सामाजिक प्रतिक्रियाएं सारे शैशव काल में विकसित होती रहती हैं।

संपर्क के दायरे में ही **बोली की प्रथम पूर्वापेक्षाएं** भी पैदा होती हैं। दूसरे महीने में ही तुतलाने के पहले लक्षण दिखायी दे जाते हैं, जिसमें आगे चलकर अनुकरण के ज़रिये मातृभाषा के ध्वनिग्राम प्रकट होते हैं। पहले वर्ष के अंत तक शिशु कुछ शब्द समझने लग जाता है। यह इससे प्रकट होता है कि किसी वस्तु का नाम लेते ही बच्चा उसकी ओर सिर घुमा देता है या जिस क्रिया का नाम लिया गया है, उसे करने लगता है। इसके साथ ही वह पहले शब्द भी उच्चारण करने लगता है। इस प्रकार वयस्क के साथ संपर्क की प्रक्रिया में, एक ओर, बच्चे की आवश्यकताएं पैदा होती और लगातार बढ़ती हैं (उनमें मुख्य संपर्क की आवश्यकता है, जिसे "संवेग भूख" भी कहा

जाता है) और, दूसरी ओर, उनकी तुष्टि की संभावनाएं उत्पन्न होती हैं।

यह सोचना ठीक न होगा कि बच्चे में परिपक्वता पहले आती है और उसके बाद ही उसे सिखाया जाता है। सभी प्रकार के मानवोचित व्यवहार, मानसिक गुण तथा विशेषताएं बच्चे में केवल इसी की बदौलत आ पाते हैं कि शैशव काल में उसे चलना, वस्तुएं इस्तेमाल करना, देखना, सुनना, प्रेक्षण करना, जानना और याद रखना सिखाया जाता है। बेशक शैशव काल में बच्चे का शिक्षण प्राय: अनियोजित तथा स्वत:स्फूर्त ही होता है।

संयोगवश यदि बच्चे को मानव परिवेश में रहने का अवसर नहीं मिल पाता, तो उसमें मानवोचित क्षमताओं का विकास रुक जाता है। **केवल समाज के बीच रहकर ही और विशेष शिक्षण द्वारा ही बच्चा ऐसी व्यष्टि बन पाता है, जो आदमियों जैसे अनुभव कर सकता है और सोच सकता है।** यहां वयस्क आदमी बच्चे और पूरे समाज के बीच की कड़ी होता है। लोगों के बीच रहते और उनसे निरंतर नयी-नयी जानकारियां पाते हुए बच्चे में उत्तरोत्तर अदम्य ज्ञानपिपासा उत्पन्न होती है। नन्हे शिशु के अभिविन्यास प्रतिवर्त जिज्ञासा में बदल जाते हैं। वह अपने आसपास की सभी चीज़ों में रुचि लेने लगता है। इस प्रकार की जिज्ञासा को रूसी शरीरक्रियाविज्ञानी इ० प० पाव्लोव (१८४६-१६३६) ने "नि:स्वार्थ जिज्ञासा" कहा था, क्योंकि वह किसी बुनियादी आवश्यकता की तुष्टि से प्रत्यक्षत: संबद्ध नहीं होती।

शिशु का मनोविकास

जीवन के प्रथम वर्ष में बच्चा अंगसंचालन के विकास और मानसिक प्रक्रियाओं तथा विशेषताओं के निर्माण में काफ़ी सफलताएं पा लेता है। वह सिर को सभालना, बैठना, रेंगना और अंतत: खड़ा होना व कुछ डग भरना सीख लेता है। तीसरे-चौथे महीने में पकड़ने की हरकतें विकास करने लगती हैं। बच्चे को कोई रंग-बिरंगी चीज़ अच्छी लगती है, वह उसकी ओर हाथ बढ़ाता है और पकड़ने की चेष्टा करता है। आरंभ में इन हरकतों में तालमेल नहीं होता: बच्चा प्राय: गलती कर

बैठता है, उसका हाथ चूक जाता है। किंतु शनैःशनैः हरकतें सधती जाती हैं और पकड़ी जानेवाली वस्तुओं की जगह, आकार तथा आकृति से उनका तालमेल बैठने लगता है। इस प्रकार की गत्यात्मक क्रिया का बहुत बड़ा महत्त्व होता है। उसकी बदौलत बच्चा अनेक आवश्यक गति कौशल सीख जाता है। इसके अतिरिक्त, वस्तुओं की विशेषताओं के अनुरूप हरकतों को ढालने के परिणामस्वरूप ये विशेषताएं चाक्षुष प्रत्यक्ष में पृथकतः उभरने लगती हैं। यदि आरंभ में बच्चा केवल बाह्य अभिविन्यासात्मक क्रियाएं भी करता है और अनेकानेक चेष्टाएं करके हाथों की स्थिति को वस्तुओं की विशेषताओं के अनुकूल बनाता है, तो बाद में ये अभिविन्यासात्मक क्रियाएं आंतरीभूत हो जाती हैं, यानी चाक्षुष प्रत्यक्ष के धरातल पर आ जाती हैं।

पकड़ने की क्षमता बढ़ने के साथ-साथ बच्चा वस्तुओं को हिलाना, झटकना, पटकना, ठोकना, आदि भी शुरू कर देता है, जो प्रहस्तन के सामान्यतम रूप हैं। ऐसी क्रियाएं करके बच्चा वस्तुओं की बहुसंख्य विशेषताओं से परिचित होता है। क्षणिक, परिवर्तनशील अनुभवों के स्थान पर बच्चे के सामने स्थायी, उससे स्वतंत्र रूप से अस्तित्वमान वस्तुओं का संसार उद्घाटित होने लगता है। इस तरह उसका प्रत्यक्ष ज्ञान वस्तुपरक और स्थायी बनता जाता है।

शैशव काल के दौरान बच्चे की मानसिक सक्रियता का रूप बदलता है। उसकी सक्रियता पूर्वनियोजित बनती जाती है। उसमें सांयोगिक हरकतों की पुनरावृत्ति करने की क्षमता आ जाती है। यद्यपि इन हरकतों को करने से पहले बच्चे को उनका पूर्वज्ञान नहीं होता, फिर भी वह उन्हें **जान-बूझकर** दोहराने में समर्थ बन जाता है, ताकि उनसे परिवेश में जो परिवर्तन आते हैं, उन्हें देख सके।

शैशवावस्था के अंत में बच्चे में **अनुकरण** की, वयस्कों की देखा-देखी बहुत सी क्रियाएं दोहराने की प्रवृत्ति आ जाती है।

पूर्वनियोजित क्रिया और अनुकरण इसका प्रमाण हैं कि बच्चे की बुद्धि तेज़ी से विकास कर रही है। सचमुच बच्चे जब जान-बूझकर वस्तुओं से क्रियाएं करने लगते हैं (जैसे ठोकना, हिलाना, मरोड़ना, आदि) और वयस्कों की सामान्यतम क्रियाओं की नकल करने में कुछ सफलता पा लेते हैं, उनकी क्रियाओं में चिंतन के भ्रूणरूप दिखने लग

जाते हैं। स्वयं वस्तुओं के प्रहस्तन में बच्चे के लिए एक ऐसी समस्या-मूलक स्थिति पैदा हो जाती है, जिसे वह हस्तादि-प्रयोग द्वारा ही निपटाने की चेष्टा करता है। दूसरे शब्दों में, इस प्रहस्तन में सामान्य समस्या-मूलक स्थितियां पैदा होती और निपटायी जाती हैं। इस प्रकार बच्चा कोई क्रिया करते हुए अथवा अपनी व दूसरों की हरकतों की अनुकृति करते हुए सोचना सीखता है।

§२. आरंभिक बाल्यकाल

आरंभिक बाल्यकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां

आरंभिक बाल्यकाल की सीमा एक वर्ष से तीन वर्ष तक है।

व्यक्तिवृत्त में मनुष्य का मानस समान कालावधियों में विकास की दृष्टि से विभिन्न "दूरियां" तय करता है। जीवन के पहले तीन वर्षों में बच्चे के मानस में जो गुणात्मक परिवर्तन आते हैं, वे बहुत ही महत्त्व-पूर्ण होते हैं। इसलिए बहुत से मनोविज्ञानवेत्ता जब इस प्रश्न पर सोचने लगे कि जन्म से लेकर वयस्कता-प्राप्ति तक मनुष्य के विकास के मार्ग का मध्यबिंदु कौन सा है, तो तीन वर्ष की अवस्था ही वह मध्यबिंदु लगा।

तीनवर्षीय बच्चा अपना काम स्वयं कर सकता है, वह अपने आसपास के लोगों से परस्पर संबंध बनाना भी जानता है। वह दूसरों के साथ संपर्क के लिए बोलचाल तथा भाषा का ही नहीं, व्यवहार के बुनियादी रूपों का भी इस्तेमाल कर सकता है। तीन वर्ष की आयु का बच्चा पर्याप्त क्रियाशील तथा स्वतंत्र होता है और अपने को लोगों को समझा सकता है।

एक से तीन वर्ष की आयु के बच्चे का विकास कई कारकों पर निर्भर होता है।

बच्चे के मनोविकास में **ऋजु चलन की योग्यता** का बहुत हाथ होता है। शैशवावस्था के अंत तक बच्चा पहले डग भरने लग जाता है। खड़ी स्थिति में एक जगह से दूसरी जगह जाना उसके लिए कठिन

होता है। छोटे-छोटे पैर बड़ी मुश्किल से उठते हैं। गमन-सहायक तंत्र अभी पूरी तरह नहीं बना होता है, इसलिए बच्चा हर समय संतुलन खो बैठता है। फिर भी गिरने के भय पर काबू पाने और चलने का प्रयास बारंबार करने के लिए उसे क्या चीज़ विवश करती है? मुख्य प्रेरक तो पेशीय अनुभूति है, जो चलने पर काम करनेवाली पैर, हाथ और सारे शरीर की पेशियों से उत्पन्न होती है। कहा जा सकता है कि अपने शरीर पर नियंत्रण की अनुभूति बच्चे के लिए एक प्रकार के आत्मपारितोषिक का काम करती है। चलने के निश्चय को वांछित लक्ष्य पाने और इसी प्रकार वयस्कों की सहभागिता तथा शाबाशी से भी बल मिलता है। पहले सहमे-सहमे डग भरने के शीघ्र ही बाद सामंजस्यपूर्ण ऋजुरेखीय चलने-फिरने की क्षमता आनी शुरू हो जाती है। जीवन के दूसरे वर्ष में बच्चा चलते-फिरते हुए सहर्ष अपने लिए बाधाएं खोजता है। कठिनाइयां और उन्हें लांघना बच्चे में सकारात्मक संवेग जगाते हैं।

चलने-फिरने की क्षमता चूंकि एक शारीरिक उपलब्धि है, अतः उसके मनोवैज्ञानिक परिणाम भी निकलते हैं। इस क्षमता की बदौलत बच्चा बाह्य जगत के साथ अधिक निर्बाध व स्वतंत्र संपर्क के दौर में प्रवेश करता है। चलना जानने से दिग्विन्यास योग्यता बढ़ती है। पेशीय अनुभूति वस्तु की दूरी और देशिक स्थिति को मापने का मापदंड बन जाती है। यह दृष्टि, गति-संवेदन तथा स्पर्श की संयुक्त क्रिया द्वारा संभव होता है। बच्चा वस्तु को देखते और उसके निकट आते हुए व्यावहारिकतः उसकी दिशा और दूरी का अवबोध करता है। चलना-फिरना सीख लेने से उसे अपनी जिज्ञासा का विषय बननेवाली वस्तुओं का दायरा कहीं अधिक बढ़ाने की संभावना मिलती है। वह ऐसी बहुविध वस्तुओं को भी हाथ में लेने, उलटने-पलटने, आदि में समर्थ बन जाता है, जिन्हें पहले माता-पिता उसकी पहुंच से बाहर रखना ही उचित समझते थे। नयी वस्तुएं अपने साथ प्रेक्षण और जांच की नयी रीतियां लेकर आती हैं और वस्तुओं के जो गुणधर्म तथा परस्पर संबंध बच्चे से अब तक छिपे हुए थे, उन्हें उद्घाटित करती हैं।

बच्चे के मानसिक विकास पर **वस्तुमूलक क्रियाओं के विकास** का काफ़ी प्रभाव पड़ता है। शैशवावस्था में पायी जानेवाली प्रहस्तन

सक्रियता का स्थान आरंभिक बाल्यावस्था में वस्तुमूलक सक्रियता ले लेती है। इसका विकास वस्तुओं का उपयोग करने की उन रीतियों में निपुणता पाने से संबद्ध है, जिन्हें समाज ने विकसित किया है। मनुष्य के लिए वस्तुओं का एक नियत, स्थायी प्रयोजन होता है – जीवों के विपरीत लोग स्थायी वस्तुओं के संसार में रहते हैं। जैसा कि ज्ञात है, गिलास से पानी बंदर भी पी सकता है। किंतु जीवों के लिए वस्तुओं का स्थितिमूलक अभिप्राय होता है: यदि पानी गिलास में है, तो बंदर गिलास से पियेगा, यदि बाल्टी में है, तो बाल्टी से और अगर ज़मीन पर है, तो ज़मीन पर से। बच्चा वयस्कों से वस्तुओं के उस स्थायी प्रयोजन को ध्यान में रखना सीखता है, जो मनुष्य की सक्रियता ने नियत किया हुआ है। बच्चे के इर्द-गिर्द का वस्तु संसार – फ़र्नीचर, वस्त्र, बर्तन, खिलौने, आदि – ऐसी वस्तुओं की समष्टि है, जिनका लोगों के जीवन में एक निश्चित प्रयोजन है। वस्तुओं के प्रयोजन को ही बच्चा आरंभिक बाल्यकाल में सीखता है।

वस्तुओं की नियत अंतर्वस्तु बच्चे को स्वत: नहीं मालूम हो जाती। बच्चा आलमारी के किवाड़ को दर्जनों बार खोल और बंद कर सकता है, इसी तरह वह देर तक चम्मच से फ़र्श पर ठक-ठक भी कर सकता है, किंतु ऐसी सक्रियता उसे वस्तुओं के प्रयोजन से अवगत नहीं करा सकती। वस्तुओं के प्रकार्यात्मक गुणों का ज्ञान उसे वयस्कों के पालन व शिक्षणमूलक प्रभाव के ज़रिये ही होता है। बच्चे को पता चलता है कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं से की जानेवाली क्रियाओं में स्वतंत्रता की भिन्न-भिन्न मात्रा होती है। कुछ वस्तुएं अपने बाह्य गुणों के कारण क्रियाएं एक बहुत ही निश्चित रीति से किये जाने की अपेक्षाएं करती हैं (इनमें इस प्रकार की परस्पर संबद्ध क्रियाएं शामिल हैं, जैसे डिब्बे का ढक्कन बंद करना, छल्लों के पिरामिड में छल्ले डालना, आदि)। कुछ वस्तुओं के मामले में क्रिया-रीति उनका सामाजिक प्रयोजन नियत करता है। ये वे वस्तुएं हैं, जो उपकरण का काम करती हैं, जैसे पेंसिल, चम्मच, हथौड़ी, आदि। उल्लेखनीय है कि **परस्पर संबद्ध और उपकरण-मूलक क्रियाएं ही बच्चे के मानसिक विकास पर सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं।** इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि बच्चा आरंभिक बाल्यकाल में अपेक्षया बहुत कम उपकरणों का प्रयोग ही सीख पाता है। प्रश्न

उनके कम या ज़्यादा होने का नहीं, बल्कि इसका है कि ये वस्तुएं ही बच्चे में हर नये वस्तु-उपकरण में उसका विशिष्ट प्रयोजन खोजने की प्रवृत्ति अथवा आदत पैदा करती हैं।

आरंभिक बाल्यकाल के अंत तक (जीवन के तीसरे वर्ष में) सक्रियता के नये रूप प्रकट होने लगते हैं। उनका पूर्ण प्रस्फुटन इस आयु-वर्ग को लांघ लेने के बाद ही होता है और शनैःशनैः वे मानसिक विकास को निर्धारित करने लग जाते हैं। ये हैं तरह-तरह के खेल और सक्रियता के उत्पादक रूप, जैसे चित्र बनाना, मिट्टी, प्लास्टिसीन, आदि से विभिन्न आकृतियां गढ़ना, अलग-अलग पुर्ज़ों को जोड़कर कोई चीज़ बनाना। भविष्य में सक्रियता के ये रूप जो महत्त्व रखेंगे, उसे ध्यान में रखना और उनके अंकुरण के लिए आरंभिक बाल्यकाल में ही अनुकूल परिस्थितियां बनाना बहुत ज़रूरी है।

वस्तुमूलक सक्रियता से अर्जित अनुभवों का संचय **बच्चे की बोली के विकास** के आधार का काम करता है। जब शब्द के पीछे यथार्थ-जगत के बिंब निहित होते हैं, तभी शब्द को सफलतापूर्वक सीखा व हृदयंगम किया जाता है। परिवेश से संपर्क की आवश्यकता, जो शैशव-काल में ही पैदा हो जाती है, ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, बच्चे की बोली भी निखरती जाती है। बोली संपर्क तब उत्पन्न होता है, जब बच्चे से संप्रेषण क्षमता की अपेक्षा की जाती है, यानी जब वयस्क बच्चे को साफ़-साफ़ बोलने और अपने विचारों को शब्दों में अधिकतम स्पष्ट ढंग से व्यक्त करने को बाध्य करते हैं। यदि वयस्क बच्चे की हर इच्छा को भांपकर ही काम चला लेते हैं, तो उसमें बोली के विकास के लिए कोई प्रेरणा, रुचि नहीं पैदा होगी। बोली के विकास के लिहाज़ से आरंभिक बाल्यावस्था **संवेदनशील काल** होती है, क्योंकि इसी काल में बच्चे का बोलना सीखना सबसे कारगर ढंग से होता है। यदि किन्हीं कारणों से बच्चा इन वर्षों में बोली के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों से वंचित हो जाता है, तो आगे चलकर यह कमी बड़ी मुश्किल से पूरी हो पाती है। इसलिए जीवन के दूसरे-तीसरे वर्षों में बच्चे की बोली के विकास के लिए सघन प्रयत्न करना बहुत ज़रूरी है।

आरंभिक बाल्यावस्था में ही वयस्कों के साथ अपनी संयुक्त सक्रियता के दौरान बच्चा उच्चारित शब्दों और उनके पीछे विद्यमान यथार्थ

वास्तविकता के संबंध को पहचानने लग जाता है। शब्दों को उनसे अभिप्रेत वस्तुओं और क्रियाओं से जोड़ने की योग्यता तुरंत नहीं आती। इसी प्रकार वयस्कों की बातों और अपनी क्रियाओं के बीच संबंध स्थापित करने की योग्यता भी दीर्घ विकास का परिणाम होती है। तीसरे वर्ष में वयस्कों की बोली की बच्चे की समझ में गुणात्मक परिवर्तन आ जाता है। बच्चा अब अलग-अलग शब्द ही नहीं समझता, वयस्कों के निर्देशानुसार क्रियाएं संपन्न करने में ही समर्थ नहीं हो जाता। जो बातें सीधे उसे संबोधित नहीं होतीं, वह उन्हें भी रुचिपूर्वक सुनने लगता है। प्रत्यक्ष संबोधन करके न कही हुई वयस्कों की बातों को सुनना और समझना बच्चे के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। वह उसे प्रत्यक्ष अनुभव की सीमा से बाहर स्थित वास्तविकता को जानने के लिए बोली को एक मुख्य साधन के तौर पर इस्तेमाल करने की संभावना देती है।

आरंभिक बाल्यकाल बच्चे की **वाक्-सक्रियता के निर्माण का काल** है। डेढ़ वर्ष की आयु तक बच्चा ३०-४० से १०० शब्दों तक ही सीख पाता है और उन्हें भी बहुत कम इस्तेमाल करता है। वह अभी काफ़ी निष्क्रिय होता है। बोली के विकास में उल्लेखनीय परिवर्तन लगभग डेढ़ वर्ष की आयु में आता है। बच्चा अब उपक्रमी भी बन जाता है। वह लगातार चाहता है कि उसे वस्तुओं के नाम बताये जायें। बोली के विकास की गति बढ़ जाती है। दूसरे वर्ष के अंत में उसका शब्द-भंडार ३०० तक और तीसरे वर्ष के अंत में १५०० शब्दों तक पहुंच जाता है।

बोली के विकास का अर्थ मातृभाषा के ध्वनि पक्ष और व्याकरणिक संरचना को सीखना भी है। आरंभ में बच्चा शब्दों के सामान्य लय-ताल को ग्रहण करके बोलना सीखता है। दूसरे वर्ष के अंत तक उसमें अपनी मातृभाषा के सभी ध्वनिग्रामों को ग्रहण करने की क्षमता भी विकसित होने लग जाती है। इस आधार पर उसका शब्द-भंडार भी बढ़ता है और वह सही उच्चारण भी सीखता है।

व्याकरणिक संरचना के आत्मसात्करण के अपने विकास-काल होते हैं।

पहला काल – एक वर्ष से दो वर्ष की आयु तक – आकारहीन शब्द-मूलों से बने वाक्यों का काल है। इस दौर में वाक्य एकशब्दीय

अथवा द्विशब्दीय ही होते हैं। बच्चे की बोली वयस्क की बोली से बहुत कम मिलती-जुलती है: बच्चा ऐसे शब्द इस्तेमाल करता है, जिन्हें वयस्क सामान्यत: प्रयोग में नहीं लाते। ऐसी बोली को **निरुपाधिक** बोली कहा जाता है। बच्चे की वाक्-शक्ति यदि ठीक से विकसित हो, तो निरुपाधिक बोली का दौर शीघ्र ही खत्म हो जाता है।

बच्चे की बोली में व्याकरणिक संरचना के विकास का दूसरा काल तीन वर्ष की आयु तक जारी रहता है। इस दौर में बच्चा काफ़ी सुसंबद्ध ढंग से बोलने और वस्तु जगत के बहुत से संबंधों की समझ का प्रदर्शन करने लगता है। तीसरे वर्ष तक बच्चा कई कारक चिह्नों का प्रयोग भी सीख जाता है। वस्तुमूलक संबंधों के द्योतक बोली रूपों को सीखने में बच्चे की सक्रियता का काफ़ी बड़ा हाथ होता है, जिसके दौरान वह वस्तुओं के प्रयोग की रीतियों को सीखता है। बच्चा जल्दी ही यथार्थ वस्तुमूलक संबंधों को व्यक्त करनेवाले व्याकरणिक अर्थों के संबंध से निर्दिष्ट होने लग जाता है। उदाहरणार्थ, "हथौड़ा रखा", "हथौड़े से ठोंका" शब्दों के सही प्रयोग को सीखकर वह "से" अंत-प्रत्यय में निहित उपकरणमूलक अर्थ को पकड़ लेता है और यांत्रिक ढंग से उसे सभी उपकरणों पर लागू करने लगता है: "चाकू से", वगैरह। फिर वाक्-संपर्क की निरंतर प्रक्रिया के दौरान यह यांत्रिकता खत्म हो जाती है और बच्चा सही कारक चिह्नों का प्रयोग करने लग जाता है। मातृभाषा के व्याकरणिक रूपों को सीखकर बच्चा भाषा को महसूस करना सीखता है। वह शब्दों से वाक्य बनाने लगता है। आरंभिक बाल्यकाल के अंत तक बच्चा मातृभाषा की मुख्य वाक्यरचनात्मक विशेषताओं, व्याकरणिक रूपों और ध्वनियों को हृदयंगम कर लेता है।

वाक्-सक्रियता का निर्माण बच्चे के समस्त मानसिक विकास के लिए बुनियाद का काम करता है।

आरंभिक बाल्यकाल में चिंतन-शक्ति का विकास

बच्चे की चिंतन-शक्ति का विकास दो बातों पर निर्भर होता है: पहले, स्वयं बच्चे की सक्रियता पर, क्योंकि चिंतन के मूल में उसका

ऐंद्रिक अनुभव निहित होता है, और, दूसरे, वयस्कों के प्रभाव पर, जो बच्चे को क्रिया-रीतियां सिखाते हैं और वस्तुओं के सामान्यीकृत नामों से अवगत कराते हैं। वस्तुओं के साथ व्यावहारिक क्रिया के फलस्वरूप बच्चा किसी ठोस स्थिति में उत्पन्न समस्याओं को प्रायः स्वयं ही हल कर लेता है। क्रिया के दौरान सहज शिक्षण की प्रक्रिया घटती है: किसी वस्तु से काम करते हुए बच्चा देखता है कि कुछ क्रियाएं सफल रहती हैं और कुछ नहीं रहतीं। पूर्ववर्ती क्रिया का अनुभव परवर्ती क्रिया में प्रतिबिंबित होता है। बच्चा वस्तुमूलक समस्या के समाधान की प्रक्रिया में सोचता भी जाता है। इस प्रकार का चिंतन ऐंद्रिक क्रियामूलक चिंतन होता है।

चिंतन-शक्ति के विकास में निजी व्यावहारिक अनुभव का महत्त्व कितना भी बड़ा क्यों न हो, बच्चे की चिंतन-शक्ति के विकास पर विशेष प्रभाव सामाजिक परिवेश का ही पड़ता है। ल० स० विगोत्स्की कहते थे कि सामाजिक स्थिति बच्चे के व्यवहार पर उसके जीवन के पहले दिन से ही अति गहन प्रभाव डालती है। अपने बौद्धिक क्रियाकलाप में बच्चा हर समय वयस्कों से निर्दिष्ट होता है। वस्तुओं के साथ वयस्कों की क्रियाओं को देख-देखकर बच्चा व्यावहारिक वस्तुमूलक सक्रियता के मानवीय रूप आत्मसात् करता जाता है। वस्तुओं के साथ व्यावहारिक क्रिया करते हुए उसे पता चलता है कि विभिन्न वस्तुओं को मिलते-जुलते ढंग से इस्तेमाल किया जा सकता है। ऐसी खोज के फलस्वरूप वह न केवल मिलती-जुलती (किन्हीं लक्षणों की दृष्टि से मिलती-जुलती) वस्तुओं, बल्कि सक्रियता के अनुभव का भी सामान्यीकरण करने में समर्थ बन जाता है।

चिंतन-शक्ति के विकास के लिए उपकरणमूलक क्रियाएं विशेषतः महत्त्वपूर्ण हैं। **उपकरण वस्तु-जगत पर बच्चे के प्रभाव को व्यवहित करता है।** विभिन्न स्थितियों में और विभिन्न वस्तुओं के संबंध में प्रयोग किये जाते हुए उपकरण **सामान्यीकरण का प्रथम साधन** बन जाता है।

बच्चे की अभिवृद्धि के प्रथम चरणों में चिंतन-शक्ति में गुणात्मक परिवर्तन बच्चे द्वारा व्यावहारिक वस्तुमूलक सक्रियता के मानवीय रूपों को सीखने और मानव बोली के शनैःशनैः संपर्क में आने पर निर्भर

होते हैं। बच्चा वयस्कों से सबसे अधिक भाषायी संपर्क की बदौलत सीखता है। वह मानवजाति द्वारा विकसित संकल्पनाओं और चिंतन-रीतियों को आत्मसात् करता है। वयस्कों की अनुकृति करके वह विचारों को व्यवस्थित करना तथा निष्कर्ष निकालना सीखता है। बच्चे के बौद्धिक विकास की चर्चा करते हुए इ० म० सेचेनोव ने लिखा था कि बच्चे को उसके जीवन के प्रथम क्षणों से ही हम कथनी में भी और करनी में भी जो अनुभव अंतरित करते हैं, वह तैयारशुदा, पराया अनुभव होता है।

आरंभिक बाल्यकाल में वयस्क के शब्द बच्चे के ऐंद्रिक क्रियामूलक चिंतन के विकास में सहायक हो सकते हैं। वयस्क क्रिया द्वारा ही नहीं, शब्दों के ज़रिये भी बच्चे को किसी स्थितिमूलक कृत्यक को संपन्न करने की रीति सुझा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि बच्चा अपनी पलंग के सीखचों में कोई डिब्बा ज़बर्दस्ती घुसा रहा है और दूसरी तरफ़ नहीं निकाल पा रहा है, यानी उसकी क्रिया सफल नहीं हो पा रही है, तो वयस्क की सलाह कि "घुमाकर डालो, निकल जायेगा", बच्चे को तदनुरूप सोचने व क्रिया करने को प्रेरित करती है।

आरंभिक बाल्यकाल में बच्चा कोई कार्य ज्यों-ज्यों करता जाता है, त्यों-त्यों बोलता भी रह सकता है। किंतु पहले चरण में यह बोलना एक प्रकार से स्वतंत्र प्रक्रिया जैसा होता है: इस काल में बच्चे के व्यवहार में दो तरह की सक्रियताएं दिखायी देती हैं – शाब्दिक और बौद्धिक। आगे चलकर दोनों एक दूसरे में विलयित होकर शब्द-चिंतन का रूप ग्रहण कर लेती हैं।

बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण का आरंभ

आरंभिक बाल्यावस्था में बच्चे और वयस्क की संयुक्त वस्तुमूलक सक्रियता का सघन विकास होता है। इस सहयोग का स्वरूप वयस्क द्वारा निर्धारित होता है। वयस्क "संप्रेषण" के निदेशन का दायित्व संभालता है और परस्पर समझ बनी रहे, इसकी व्यवस्था करता है। जीवन के तीसरे वर्ष में बच्चा अधिक आत्मनिर्भर बन जाता है:

वह अपने काम खुद करना सीख लेता है और पेंसिल और खड़िया का इस्तेमाल, आकृतियां गढ़ना तथा मामूली एप्लीक के काम करना जान जाता है। बच्चा अपने को वयस्क से अलग करना भी सीख जाता है और अपने को स्वतंत्र सत्ता – "मैं" – की तरह मानने लग जाता है, यानी उसमें आत्मचेतना के अंकुर प्रस्फुटित हो जाते हैं। बोलने में वह अपने को, स्थायी तत्त्व की भांति और अपनी क्रियाओं को, अस्थायी तत्त्व की भांति प्रस्तुत करता है: "राम अब सो रहा है, राम अब दौड़ रहा है, राम अब गिर पड़ा है", वगैरह। दूसरे शब्दों में, वह अपनी क्रियाओं और अपने बीच भेद करना सीख जाता है।

विकास में प्राप्त सफलताएं बच्चे के समस्त व्यवहार को गुणात्मक रूप से बदल देती हैं। हालांकि वयस्क की भूमिका फिर भी मुख्य रहती है, अपने व्यावहारिक जीवन के संकीर्ण क्षेत्र और अपनी सीमित क्षमताओं के दायरे में बच्चा वयस्कों की मदद के बिना कार्य करने का प्रयास करता है। नयी प्रवृत्तियां बच्चे की क्रियाशीलता को बढ़ा देती हैं ("मैं खुद") और वयस्कों के साथ नये परस्पर संबंधों के जन्म का कारण बनती हैं। इस अवधि को क्रांतिक माना जाता है ("तीसरे वर्ष का संकट"), क्योंकि वयस्क बच्चे के साथ अपने संबंधों में कठिनाइयां महसूस करने लगता है, जो अपनी नकारवृत्ति और ज़िद्दीपन की वजह से असह्य तक बन सकता है।

तीसरे वर्ष का संकट वयस्कों के साथ बच्चे के संबंधों के विकास की एक यथार्थ परिघटना है। बच्चे में अपनी आवश्यकताओं को स्वयं तुष्ट करने की प्रवृत्ति पैदा होती है, जबकि वयस्क संबंधों का प्ररूप पूर्ववत् ही बनाये रखता है और इस तरह बच्चे की सक्रियता को सीमित कर देता है। सामान्य और सही ढंग से विकास करता हुआ बच्चा पहले जैसे संबंधों का प्रतिरोध करता है। वह नखरे दिखाता है, सब काम उल्टे करता है, वयस्कों की अपेक्षाओं के प्रति हर प्रकार से अपना नकारात्मक रवैया प्रदर्शित करता है। बेशक ऐसा व्यवहार वह सभी से या सबके सामने नहीं करता: उसकी नकारवृत्ति काफ़ी चयनात्मक होती है और उन्हीं के सामने उभरती है, जो उसकी स्वतंत्रता पर अंकुश लगाने की कोशिश करते हैं। यदि वयस्क बच्चे की स्वतंत्रता, आत्म-

निर्भरता को विवेकपूर्ण ढंग से प्रोत्साहित करें, तो परस्पर संबंधों में उत्पन्न कठिनाइयां दूर हो जाती हैं।

तीसरे वर्ष का संकट एक अस्थायी परिघटना है, किंतु उससे संबंधित नयी बातें – परिवेश से अपना पृथक्करण, दूसरों से अपनी तुलना – मानसिक विकास की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम होती हैं।

वयस्कों जैसा बनने की आकांक्षा खेल के रूप में ही अपना अधिकतम समाधान पा सकती है (केवल खेल में ही बच्चा दूकान जा सकता है, खाना पका सकता है, राकेट में उड़ सकता है, इत्यादि)। इसलिए तीसरे वर्ष का संकट बच्चे के क्रीड़ा सक्रियता में संक्रमण के ज़रिये ही हल किया जाता है।

§३. स्कूलपूर्व आयु-वर्ग के बच्चे के विकास की मानसिक विशेषताएं

स्कूलपूर्व आयु (तीन से सात वर्ष तक) में बच्चे के शरीर का सघन परिपाक जारी रहता है। सामान्य वृद्धि के साथ-साथ ऊतकों और अंगों का शारीरी और प्रकार्यात्मक विकास होता है। अस्थि ढांचा दृढ़ व कठोर बनता है, पेशियों की संहति बढ़ती है, श्वसन तथा रक्त-परिसंचरण अंगों का विकास होता है। मस्तिष्क भार बढ़कर १११० ग्राम से १३५० ग्राम हो जाता है। बड़े गोलार्धों की प्रांतस्था की नियामक भूमिका और धूसर द्रव्य पर उसका नियंत्रण बढ़ता है। अनुकूलित प्रतिवर्त अधिक तीव्रता से बनने लगते हैं और **द्वितीय संकेत प्रणाली** विशेष तेज़ी से विकसित होती है।

शारीरिक विकास बच्चे के अधिक स्वतंत्र बनने के लिए और पालन तथा शिक्षण की प्रक्रिया में उसके द्वारा नये प्रकार के सामाजिक अनुभवों के आत्मसात्करण के लिए आवश्यक परिस्थितियां तैयार करता है।

स्कूलपूर्व आयु में बच्चे का विकास एक नयी **सामाजिक स्थिति** में होता है। आसपास के लोगों के बीच स्कूलपूर्व आयु-वर्ग के बच्चे

का स्थान आरंभिक बाल्यावस्था के बच्चे के स्थान से काफ़ी भिन्न होता है। अब बच्चा कुछ सामान्य उत्तरदायित्व भी वहन करने लग जाता है। वयस्कों के साथ उसका संबंध नये रूप ग्रहण कर लेता है: संयुक्त सक्रियता का स्थान वयस्कों के निर्देशों को बच्चे द्वारा स्वतंत्र रूप से पूरा किया जाना ले लेता है। पहली बार बच्चे को किसी निश्चित कार्यक्रम के अनुसार अपेक्षया प्रणालीबद्ध ढंग से शिक्षा देना संभव बन जाता है। किंतु, जैसा कि ल० स० विगोत्स्की ने कहा था, यह कार्यक्रम उसी हद तक व्यवहार में चरितार्थ हो सकता है, जिस हद तक कि वह बच्चे का खुद अपना कार्यक्रम बनता है।

स्कूलपूर्व आयु-वर्ग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता बच्चे के अपने समवयस्कों के साथ निश्चित परस्पर संबंधों का आविर्भाव, यानी "बाल मंडली" का निर्माण है। दूसरे लोगों के प्रति बच्चे का अपना आंतरिक रवैया उसके अपने "अहं" की तथा अपने कार्यों के अर्थ की बढ़ती हुई समझ और वयस्कों की दुनिया, उनके क्रियाकलाप तथा परस्पर संबंधों में गहन रुचि में व्यक्त होता है।

स्कूलपूर्व आयु के बच्चे का विकास जिस सामाजिक स्थिति में होता है, उसकी विशेषताएं ऐसे बच्चे के लिए लाक्षणिक सक्रियता-रूपों, विशेषत: कथानक व भूमिकापरक खेल में प्रतिलक्षित होती हैं। वयस्कों की दुनिया के संसर्ग में आने की आकांक्षा और इसके साथ ही इसके लिए आवश्यक ज्ञान व दक्षताओं के अभाव का परिणाम यह होता है कि बच्चा इस दुनिया को खेल के रूप में ही, जो कि उसकी पहुंच के भीतर है, अपना पाता है। सामाजिक स्कूलपूर्व पालन की प्रणाली स्कूलपूर्व आयु के बच्चों के विकास के लिए विशेष अनुकूल परिस्थितियां बनाती है। स्कूलपूर्व बाल संस्थाओं में बच्चों को विशेष कार्यक्रम के अनुसार शिक्षण दिया जाता है, उनकी संयुक्त सक्रियता के आरंभिक रूप उत्पन्न होते हैं और उनका आम मत तैयार किया जाता है। जैसा कि विशेषत: किये गये अनुसंधानों के परिणाम दिखाते हैं, जो बच्चे किंडरगार्टन नहीं जाते, उनकी अपेक्षा किंडरगार्टन जाने-वाले बच्चों के मानसिक विकास का स्तर और स्कूली शिक्षा के लिए तैयारी का स्तर औसतन ऊंचा होता है।

स्कूलपूर्व आयु-वर्ग के बच्चों की सक्रियता के मुख्य रूप

इस आयु-वर्ग में बच्चों की सक्रियता का प्रमुख रूप **खेल** है। उसकी प्रमुखता का कारण यह नहीं कि आज का बच्चा सामान्यतः अपना अधिकांश समय मन बहलानेवाले खेलों में बिताता है और वयस्कों के श्रम-क्रियाकलाप में भाग अपेक्षया कम अथवा बिल्कुल भी नहीं लेता है। खेल बच्चे के मानस में गुणात्मक परिवर्तन लाता है: उसके दौरान शिक्षा सक्रियता की, जो आगे चलकर, स्कूली जीवन में, प्रमुख सक्रियता बन जाती है, बुनियाद पड़ती है।

बच्चों की वयस्कों के साथ सहजीवन की आकांक्षा संयुक्त श्रम के ज़रिये तुष्ट नहीं हो सकती। अपनी इस आवश्यकता को बच्चे खेल में तुष्ट करने लगते हैं, जिसमें वे अपने को वयस्कों की भूमिका में रखकर न केवल श्रम जीवन की, बल्कि सामाजिक संबंधों की भी प्रतिकृति कर सकते हैं। इस प्रकार समाज में बच्चे का विशिष्ट स्थान वयस्कों के जीवन से तादात्म्य स्थापित करने के एक अनूठे तरीके के रूप में भूमिकापरक खेल की उत्पत्ति का आधार बन जाता है। खेल में बच्चे का पहली बार लोगों के बीच वस्तुतः विद्यमान संबंधों से साक्षात्कार होता है, उसकी समझ में आने लगता है कि सक्रियता का रूप कोई भी क्यों न हो, उसमें भाग लेना आदमी से कुछ **दायित्वों** की पूर्ति की अपेक्षा करता है और उसे कुछ **अधिकार** भी देता है। उदाहरणार्थ, ग्राहक की भूमिका अदा करते हुए बच्चा समझ जाता है कि वह जो वस्तु खरीदना चाहता है, उसकी भली भांति जांच कर लेने का उसे अधिकार है, किंतु चुनाव कर लेने पर उसे दूकान से बाहर ले जाने से पहले उसे उसका दाम भी चुकाना होगा। कथानक-मूलक खेल में कोई भूमिका अदा करने का सार ही यह है कि उस भूमिका द्वारा प्रदत्त दायित्वों का पालन और अधिकारों का उपभोग किया जाये। निर्धारित भूमिकाओं का सुसंगत निर्वाह खेलनेवाले बच्चों में अनुशासन पैदा करता है। संयुक्त सक्रियता में वे अपनी क्रियाओं के बीच सामंजस्य स्थापित करना सीखते हैं। समूह के अन्य सदस्यों के साथ ये यथार्थ परस्पर संबंध बच्चे में न केवल सामूहिकतावाद

की भावना का पोषण करते हैं, अपितु उसकी आत्मचेतना को उभारते भी हैं। समवयस्कों से, समुदाय के मत से निर्दिष्ट होना बच्चे में सामाजिक भावना – आत्मनिर्भरता, समुदाय के पीछे चलने की योग्यता, संवेदनशीलता, आदि – उत्पन्न करता है।

इस प्रकार यदि खेल का कथानक बच्चे को वयस्कों के क्रियाकलाप और परस्पर संबंधों से अवगत होने की संभावना देता है, तो **यथार्थ परस्पर संबंध** उसे बाल क्रीड़ाओं में पायी जानेवाली विभिन्न स्थितियों में यथानुकूल आचरण करना सिखाते हैं। बेशक हर बच्चा खेल की सामान्य स्थिति, अपने समूह की अपेक्षाओं तथा स्वयं अपनी वैयक्तिक योग्यताओं के अनुरूप आचरण करना सीखता । व्यवहार का चयन अन्य बच्चे कैसे हैं, इसपर और अपनी क्षमताओं के मूल्यांकन पर निर्भर होता है। कुछ बच्चे हुक्म चलाना पसंद करते हैं और कुछ पीछे और चुप रहना। किंतु खेल में स्थान बच्चे की निष्क्रियता का मानदंड नहीं होता। छोटी से छोटी भूमिका अदा करते हुए भी बच्चा कहीं अधिक सक्रिय और संवेगात्मक हो सकता है, बजाय उस स्थिति के कि जब उसे कोई अधिक बड़ी भूमिका अदा करने को बाध्य किया जाता है।

उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि बच्चों का क्रीड़ारत समूह एक प्रकार का सामाजिक संबंधों का स्कूल है, जिसमें व्यवहार के सामाजिक रूप निरंतर गढ़े और मज़बूत बनाये जाते हैं। खेल के दौरान बच्चे परस्पर सहयोग का पाठ सीखते हैं।

खेल में बच्चा बहुत जल्दी ही जान जाता है कि यथार्थ वस्तु को खिलौने अथवा किसी सांयोगिक वस्तु से बदलना संभव है। यथार्थ वस्तुओं का प्रतिस्थापन वह वयस्कों से सीखता है। स्कूलपूर्व आयु का बच्चा रोटी की जगह पर कंकड़, आदमी की जगह पर डंडा इस्तेमाल कर सकता है। वह एक तरह की वस्तुओं का दूसरी तरह की वस्तुओं से प्रतिस्थापन ही नहीं करता, बल्कि वस्तुओं, जीवों और दूसरे लोगों के स्थान पर स्वयं अपने को भी रख सकता है। उदाहरणार्थ, वह गोली दागता है और भेड़िये के बदले, जिसे गोली लगी है, खुद गिर जाता है, वह कल्पित इंजन चलाता है और इंजन की हैसियत से खुद सीटी देता है अथवा रफ़्तार तेज़ कर लेता है।

इस प्रकार इस चरण में खेल सारतः प्रतीकात्मक बन जाता है। प्रतीकात्मक खेल, बच्चे द्वारा प्रतीकों का उपयोग उसके मानस के विकास का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। प्रतीकों का उपयोग, एक प्रकार की वस्तुओं का दूसरे प्रकार की वस्तुओं से प्रतिस्थापन एक ऐसी उपलब्धि है, जो बच्चे को **आगे चलकर सामाजिक संकेतों में पारंगत होने की संभावना देती है।** प्रतीकात्मक प्रकार्य के विकास की बदौलत बच्चे में वर्गीकरण क्षमता आती है, उसकी बौद्धिक व अन्य योग्यताओं में गुणात्मक परिवर्तन होते हैं। उल्लेखनीय है कि एक प्रकार की वस्तुओं की जगह पर दूसरे प्रकार की वस्तुओं का व्यापक उपयोग देखकर ही हम यह नहीं कह सकते कि बच्चों के खेल में कोई भी चीज़ कुछ भी बन सकती है। बच्चा प्रतिस्थापक वस्तुओं की विशेषताओं से निर्दिष्ट होता है। मिसाल के लिए, खेल के लिए सामग्री चुनते हुए वह इससे संतोष कर सकता है कि आइसक्रीम की जगह सफ़ेद ईंट, सासेज की जगह लाल डंडी, सेब की जगह प्लास्टिक के हरे गोले, आदमी की जगह छड़ी अथवा मकान की जगह कोई डिब्बा ले लेगा। ये और इस तरह के सभी अनुकल्पन आकार, रंग अथवा प्रकार्यात्मक विशेषताओं के साम्य की उपज होते हैं। इसी तरह यह भी उल्लेखनीय है कि बच्चा जब किसी वस्तु को कोई नाम दे देता है, तो उसके बाद वह उसके साथ उसकी मूल विशेषताओं के अनुसार नही, बल्कि **उसके नये नाम के अनुसार** क्रियाएं करने लगता है। डंडा यदि बंदूक बन गया है, तो उससे गोली ही दागी जाती है, यदि घोड़ा, तो उसपर सवार हुआ जाता है, वगैरह।

क्रीड़ामूलक सक्रियता जान-बूझकर ध्यान देने और जान-बूझकर याद रखने की आदत के विकास में सहायक होती है। बच्चे प्रयोगशाला प्रयोगों के मुकाबले खेल में अपना ध्यान कहीं ज़्यादा एकाग्र कर पाते हैं और कहीं ज़्यादा बातें याद रख सकते हैं। **सचेतन उद्देश्य – ध्यान एकाग्र करना, याद रखना और याद करना – बच्चे द्वारा सबसे पहले और सबसे आसानी से खेल में ही पहचाना जाता है।** स्वयं खेल की शर्तें उसमें भाग लेनेवालों से खेल की वस्तुओं, क्रियाओं तथा विषय पर ध्यान एकाग्र करने की अपेक्षा करती हैं। यदि बच्चा इसपर ध्यान नहीं देगा कि खेल की अगली स्थिति उससे क्या अपेक्षा करती है और

यदि वह खेल की शर्तों को याद नहीं रखेगा, तो कोई उसके साथ नहीं खेलना चाहेगा। दूसरों की संगति की आवश्यकता, संवेगात्मक प्रोत्साहन की आवश्यकता बच्चों को अपने में सोद्देश्य एकाग्रता और स्मरण की आदत डालने के लिए बाध्य करती है।

खेल बच्चे की बोली के विकास पर बहुत बड़ा प्रभाव डालता है। वह उसमें भाग लेनेवाले प्रत्येक बच्चे से कुछ विशेष संप्रेषण योग्यताओं की अपेक्षा करता है। यदि बच्चा खेल के बारे में अपनी रायें, अपनी इच्छाएं साफ़-साफ़ व्यक्त नहीं कर पाता और यदि वह अपने साथियों के मौखिक निर्देशों को समझने में समर्थ नहीं है, तो समवयस्क उसे बोझ मानने लगेंगे। ऐसी स्थिति में संवेगात्मक असंतोष बोली के विकास को प्रेरित करता है। मनोवैज्ञानिक साहित्य में ऐसे जुड़वां लड़कों के असंतोषजनक मानसिक विकास का वर्णन मिलता है, जिन्हें अपने समवयस्कों की संगति नहीं मिल पायी थी। एक दूसरे की ही संगति उपलब्ध होने से दोनों की अपनी, केवल उन्हें ही बोधगम्य, निरुपाधिक बोली ही विकास कर पायी। केवल जब उन्हें अलग करके कुछ समय के लिए विभिन्न बाल समुदायों में रखा गया, तभी उनमें सामान्य बोली संपर्क की क्षमता आ सकी।

खेल बौद्धिक विकास पर प्रभाव डालता है। खेल में बच्चा वस्तुओं और क्रियाओं का सामान्यीकरण करना, शब्दों के सामान्यीकृत अर्थ को इस्तेमाल में लाना, आदि सीखता है। क्रीड़ामूलक स्थिति में प्रवेश बच्चे की बौद्धिक सक्रियता के विभिन्न रूपों के विकास की एक शर्त है। बच्चा वस्तु-संचालनमूलक चिंतन से बिंबमूलक चिंतन में संक्रमण तभी कर लेता है, जब वह वस्तु को उसका अपना नाम नहीं (हालांकि उसे वह अच्छी तरह जानता है), बल्कि दत्त क्रीड़ामूलक स्थिति में जो वस्तु अपेक्षित है, उसका नाम देने लगता है। इस मामले में चुनी हुई वस्तु पहले तो कल्पित वस्तु संबंधी विचारों के लिए एक प्रकार के बाह्य अवलंब का काम करती है और, दूसरे, स्वयं इस कल्पित वस्तु के साथ वास्तविक क्रियाओं का अवलंब बनती है। इस प्रकार भूमिकामूलक खेल में चिंतन के धरातल पर कार्य करने की योग्यता बढ़ने लगती है। निस्संदेह, आरंभ में, चिंतन के धरातल पर क्रियाएं केवल यथार्थ वस्तुओं के सहारे ही होती हैं। किंतु फिर बच्चा वस्तुओं

के साथ, जिन्हें वह नये नाम और फलस्वरूप नये प्रकार्य देता है, वास्तविक क्रियाओं से शनैःशनैः आंतरिक, पूर्णतः बौद्धिक क्रियाओं की ओर बढ़ने लगता है। बौद्धिक क्रियाओं में संक्रमण का आधार खेल से संबंधित क्रियाओं का संक्षिप्तीकरण तथा सामान्यीकरण होता है। भूमिकामूलक खेल का मानसिक सक्रियता के अन्य रूपों के विकास के लिए भी बहुत बड़ा महत्त्व है। इस प्रकार कल्पनाशक्ति केवल खेल की परिस्थितियों में और उसके प्रभाव से ही विकसित होने लगती है।

सारी स्कूलपूर्व आयु के दौरान खेल की अंतर्वस्तु में गुणात्मक परिवर्तन आते रहते हैं। कनिष्ठ स्कूलपूर्व वर्ग के बच्चे खेल में वस्तुओं के साथ मुख्यतया ऐसी क्रियाएं संपन्न करते हैं, जिनमें यथार्थ वस्तुओं के साथ वयस्कों द्वारा की जानेवाली क्रियाओं की अनुकृति की जाती है। उदाहरणार्थ, बच्चे कोई तीन वर्ष की आयु में मेज़ पोंछते हैं, झाड़ू लगाते हैं, रोटी काटते हैं, जूता साफ़ करते हैं, वगैरह। **क्रियाओं की अनुकृति ही नन्हे बच्चे के खेलों की मुख्य अंतर्वस्तु होती है।** उल्लेखनीय है कि इस काल में बच्चे सामान्यतः अकेले ही खेलते हैं। यहां तक कि जब क्रीड़ा सामग्रियों के कारण या वयस्कों के कहने पर वे मिलजुलकर खेलते हैं, तब भी यह संयुक्त खेल नहीं, बल्कि **आस-पास खेलना** ही होता है। बच्चे एक दूसरे के खेल पर बहुत कम ध्यान देते हैं और हर कोई शांति से अपनी वस्तु के साथ क्रिया करता रहता है। किंतु ज्येष्ठ स्कूलपूर्व आयु-वर्ग के बच्चे कुछ दूसरे ही ढंग से खेलते हैं। कनिष्ठ वर्ग के बच्चे वयस्कों की देखादेखी कुछेक क्रियाएं करते हुए इन क्रियाओं के अनुरूप भूमिकाएं अपने ऊपर आरोपित नहीं करते, किंतु ज्येष्ठ वर्ग के बच्चे कोई न कोई भूमिका अवश्य ही निभाने लगते हैं। उदाहरणार्थ, यदि दो-तीन वर्ष की बच्ची गुड़िया को थपकियां देती है, तो वह ऐसा करते हुए अपने को मां नहीं समझती और ऐसी स्थिति में पूछे जाने पर कि तुम कौन हो, वह अपना नाम बता देती है। किंतु, पांच-छह वर्ष की बच्ची का ऐसी स्थिति में उत्तर होगा कि मैं इसकी (गुड़िया की) मां हूं। ज्येष्ठ स्कूलपूर्व आयु में बच्चा क्रियाएं स्वयं क्रियाओं की खातिर नहीं करता। उसके लिए वे भूमिका का अंग होती हैं। अब क्रियाएं शिथिल तथा बारंबार दोहरायी जानेवाली नहीं रह जातीं, बल्कि कमोबेश सुगठित, सुसंहत बन जाती हैं। खेल के विकास

की इस अवस्था में बच्चा लोगों के परस्पर संबंधों में रुचि लेने लगता है और क्रियाएं संबंधों को उघाड़ने का साधन बन जाती हैं। खेल की शुरूआत से पहले ही बच्चे आपस में तय कर लेते हैं कि कौन क्या बनेगा। सामान्यतः ये सामाजिक भूमिकाएं ही होती हैं। कभी-कभी बच्चे खुद बच्चों की भूमिकाएं भी खेलते हैं। ऐसे खेलों से उन्हें मानव संबंधों की प्रणाली में अपने स्थान का बेहतर ज्ञान प्राप्त होता है और उन्हें अपनी कमज़ोरियों और अपनी ताकत का पता चलता है।

वयस्कों के साथ वास्तविक संबंधों में बच्चे को न केवल बच्चा होने की, बल्कि बच्चे की भूमिका अदा करने की भी संभावना प्राप्त रहती है। परवर्ती मामले में वह वयस्कों का निदेशन-नियमन भी कर सकता है, हालांकि वास्तविक सत्ता वयस्कों के ही हाथों में रहती है। उदाहरण के लिए, बच्चा वयस्कों का ध्यान अपने ऊपर केंद्रित रखने अथवा वांछित वस्तु पाने के लिए अपने "बच्चा होने" का लाभ उठा सकता है। बच्चे की कमज़ोरी एक प्रभावी शक्ति में बदल जाती है और बच्चा उसे इस्तेमाल करना सीख लेता है। जीवन के अनुभव का अभाव और सब कुछ यथाशीघ्र जानने की उत्कंठा बच्चे को असाधारण रूप से अतिवादी बना देते हैं। "ऐसा होता है", "ऐसा नहीं होता", "यह ठीक है", "यह खराब है" – ये बाल मूल्यांकनों के बहुप्रचलित रूप हैं। इसी से बच्चों में नियमों के प्रति प्रेम भी पैदा होता है।

स्कूलपूर्व आयु-वर्ग के ज्येष्ठ बच्चों के लिए खेल की अंतर्वस्तु में मुख्य बात नियमों का पालन होता है। वे आत्मनियंत्रण और अनुशासनबद्ध संबंधों को सर्वोपरि महत्त्व देने लगते हैं। वे खेल में बड़ी सहजता से अपनी क्रियाओं को समन्वित कर लेते हैं, एक दूसरे की अधीनता मान लेते हैं, झुक जाते हैं, क्योंकि यह उनकी भूमिकाओं की अंतर्वस्तु में सम्मिलित होता है। भूमिकाओं की परस्पर अधीनता और क्रियाओं का समन्वय उस दौर की विशेषताएं हैं, जिसमें बच्चा अपने किसी समवयस्क में अपेक्षया काफ़ी लंबे समय तक रुचि भी लेने लगता है, जब खेल सक्रिय संपर्क का बहाना बन जाता है। किंतु सामाजिक संपर्क की विधियों के अनुभव के बिना दूसरे बच्चे के साथ मिलकर कुछ करना इतना आसान नहीं होता। समवयस्क के साथ संबंध बनाने और उसकी सद्‌भावना न खोने के लिए बच्चा परस्पर समझ कायम

करने के उपाय खोजता है। संबंधों में किंचित् "लापरवाही" बरतने और साथियों को प्रायः बदलने का कारण यह होता है कि बच्चा मानव संबंधों को भली भांति जान लेना चाहता है। नये-नये मित्र, साथी बनाकर वह अनेकानेक व्यवहार-रूपों से परिचित होता है, जो उसे अपने जान-पहचान के समवयस्कों के बीच कुछ हद तक स्वतंत्रता प्रदान करते हैं।

स्कूलपूर्व आयु-वर्ग के बच्चे के मानसिक विकास में खेल के अलावा **उत्पादक सक्रियता** भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, जैसे चित्रकारी, मॉडलिंग, एप्लीक का काम, डिज़ायनिंग, आदि। इनमें से हर प्रकार की सक्रियता किन्हीं निश्चित विशेषताओं से युक्त उत्पाद (चित्र, मकान, आदि) की प्राप्ति की ओर लक्षित होती है। बच्चे से अपेक्षा की जाती है कि वह किसी दत्त क्षण में इस प्रकार की जिस सक्रियता में प्रवृत्त है, उसकी प्रक्रिया में उस समय विशेष रुचि न होने पर भी वांछित परिणाम प्राप्त करना जाने, ताकि उसमें अपनी कल्पना को सुसंगत रूप से साकार बनाने की क्षमता विकसित हो सके। स्वाभाविक है कि स्कूलपूर्व आयु-वर्ग के कनिष्ठ बच्चे अभी अपनी क्रियाओं को पूर्णतः ऐसी अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं बना सकते। आरंभ में उन्हें परिणाम उतना आकृष्ट नहीं करता, जितना कि सक्रियता की प्रक्रिया, जैसे चौकोर टुकड़ों को एक दूसरे के ऊपर रखना, मिट्टी का रूप बदलना, कागज़ पर पेंसिल चलाना, वगैरह। परिणामोन्मुखता शनैःशनैः, सक्रियता में दक्षता बढ़ते जाने के साथ ही आती है। ज्यों-ज्यों ऐसी लक्ष्योद्दिष्टता विकसित होती जाती है, बच्चा आवश्यक बाह्य तथा व्यावहारिक और आंतरिक तथा मानसिक क्रियाओं में प्रवीण बनता जाता है और उसमें सौंदर्यबोध तथा सृजनात्मक क्षमता उत्पन्न होते हैं।

विशेषज्ञों का ध्यान सबसे ज़्यादा बच्चों की चित्रकारी आकृष्ट करती है। स्कूलपूर्व आयु के बच्चों के बनाये हुए चित्रों की कुछ खास विशेषताएं होती हैं: वे रूढ़ाकृतिक होते हैं (मिसाल के लिए, उनमें आदमी कुछ ही रेखाएं खींचकर दिखाया जाता है), उनमें आकार के अनुपात प्रायः भुला दिये जाते हैं (मिसाल के लिए, फूल मकान से बड़ा हो सकता है), देशिक संबंधों को ध्यान में नहीं रखा जाता, कभी-कभी वस्तु एक साथ कई पहलुओं से चित्रित की जाती है, वगैरह।

कुछ हद तक इसका कारण यह है कि बच्चों के चित्र प्रायः किसी खेल के अथवा किन्हीं दिलचस्प घटनाओं की कहानियों के अंग होते हैं। जो चित्र द्वारा संप्रेषित नहीं हो पाता, उसे बच्चा शब्दों अथवा मुद्राओं द्वारा व्यक्त करता है। कारण यह भी है कि बच्चा अत्यल्प चित्रण उपाय जानता है। किंतु इसके साथ ही इन चित्रों की विशेषताओं में बच्चे के प्रत्यक्षण तथा चिंतन के कुछ मूलभूत लक्षणों की छाप रहती है। इसका प्रमाण यह तथ्य है कि अनेक मामलों में बच्चे अपने समवयस्कों द्वारा चित्रित वस्तुओं को आसानी से पहचान जाते हैं, जबकि वयस्क इसमें कठिनाई अनुभव करते हैं। चित्रकारी की शिक्षा यदि ठीक से दी जाये, यानी जिन वस्तुओं के चित्र बनाये जाते हैं, बच्चों को यदि उनका ध्यानपूर्वक तथा भली प्रकार से अध्ययन करना तथा उनके विशिष्ट लक्षणों को पहचानना सिखाया जाये और आवश्यक तकनीकी युक्तियों का प्रशिक्षण भी दिया जाये, तो बच्चे स्कूलपूर्व आयु में ही वस्तुओं का काफ़ी यथार्थपरक चित्रण करने लग जाते हैं। ऐसा शिक्षण सक्रिय सोद्देश्य प्रत्यक्षण और चिंतनात्मक क्रियाओं के विकास में सहायक होता है। बच्चे को अपने विचारों को साकार बनाने के "उपकरण" मिल जाते हैं और यह सृजन योग्यता का विकास करता है।

स्कूलपूर्व आयु के बच्चों को कुछ **श्रम कृत्यक** संपन्न करना भी सिखाया जाता है। हालांकि उनके लिए श्रम अभी सक्रियता का एक विशिष्ट स्वतंत्र रूप नहीं होता है, फिर भी इस प्रकार के कार्य करते हुए उनमें कतिपय ऐसे मानसिक गुण जड़ें जमाने लगते हैं, जो श्रम के विकसित रूपों के लिए लाक्षणिक हैं। उनमें मुख्य गुण अपनी सक्रियता को सामाजिक अभिप्रेरकों के अधीन बनाने और इस सक्रियता से दूसरे लोगों को जो लाभ हो सकता है, उससे निदेशित होने की योग्यता है। इसके परिणामस्वरूप बच्चा स्कूलपूर्व आयु में ही **शिक्षा सक्रियता** के कतिपय तत्त्वों से परिचित हो जाता है। वैसे तो सीखना किसी न किसी रूप में बच्चों की हर प्रकार की सक्रियता में शामिल रहता है। किंतु बच्चे के लिए शिक्षा एक विशेष सक्रियता शिक्षा लक्ष्य यानी कोई **नयी बात सीखने** के लक्ष्य के प्रकट होने के साथ ही बनती है। शिक्षा 'लक्ष्य का जन्म स्कूलपूर्व आयु के अंत में जाकर ही होता है, जब बच्चा वयस्कों को ध्यान से सुनना व उनके निर्देश पूरे करना

सीख लेता है, नियत कार्यों को संपन्न करने की रीतियों में रुचि लेने लगता है और थोड़ा-बहुत आत्मनियंत्रण भी सीख लेता है। शिक्षा सक्रियता बच्चे के मानस से, विशेषतः मानसिक प्रक्रियाओं – प्रत्यक्षण, ध्यान, स्मृति तथा चिंतन – की संकल्पाधीनता तथा नियंत्रणीयता के मामले में, काफ़ी ऊंची अपेक्षाएं करती है और इस प्रकार तदनुरूप मानसिक गुणों के विकास में सहायक होती है।

स्कूलपूर्व आयु में संवेदों का विकास

स्कूलपूर्व आयु वह अवधि है, जिसके दौरान बच्चे का ऐंद्रिक अनुभव बहुत अधिक बढ़ता तथा व्यवस्थित बनता है, बच्चा प्रत्यक्षण तथा चिंतन के विशिष्ट मानवीय रूपों में दक्षता प्राप्त करता है, उसकी कल्पना-शक्ति का तीव्र विकास होता है और स्वेच्छा से ध्यान देने की आदत तथा समझ पर आधारित स्मृति के भ्रूण उत्पन्न होते हैं।

तीन से सात वर्ष की आयु के बीच दृष्टि, श्रवण, स्पर्श संवेदों के अवरोध काफ़ी कम हो जाते हैं। दृष्टि प्रखर बनती जाती है, आंखें रंगों और उनके भेदों को अधिक सूक्ष्मता से पहचानने लगती हैं, स्वनिमात्मक और सूक्ष्म स्वर श्रवण-शक्ति विकसित होती है, हाथ सक्रिय स्पर्श इंद्रिय बन जाता है। किंतु ये सभी परिवर्तन स्वतः नहीं आते। वे यथार्थ जगत की वस्तुओं तथा परिघटनाओं और उनकी नानाविध विशेषताओं तथा संबंधों के अध्ययन की ओर लक्षित प्रत्यक्षण की नयी क्रियाओं में बच्चे के दक्षता प्राप्त करते जाने का परिणाम होते हैं। प्रत्यक्षण की क्रियाओं का जन्म बच्चे की उन सार्थक सक्रियताओं में दक्षता से संबंध होता है, जो वस्तुओं तथा परिघटनाओं के गुणों को पहचानने तथा ध्यान में रखने की अपेक्षा करते हैं। आकृति, परिमाण तथा रंग के चाक्षुष प्रत्यक्षण के विकास के लिए उत्पादक क्रियाकलाप – एप्लीक का काम, चित्रकारी, डिज़ायनिंग – का विशेष महत्त्व होता है। स्पर्श प्रत्यक्षण मॉडलिंग तथा हस्तश्रम की प्रक्रिया में, स्वनिमात्मक श्रवण-शक्ति वाक् संपर्क की प्रक्रिया में और सूक्ष्म स्वर श्रवण-शक्ति संगीताभ्यासों में विकसित होते हैं।

स्कूलपूर्व आयु में प्रत्यक्षण के विकास में बच्चों द्वारा **संवेद मानकों**

की प्रणाली को हृदयंगम किये जाने का विशेष महत्त्व होता है (संवेद मानक वस्तुओं के गुणों के मानवजाति द्वारा एक खास ढंग से विभेदित तथा परस्पर संबंधित प्ररूपों को कहते हैं, जैसे वर्णक्रम के रंग, ज्यामितीय आकृतियां, संगीत के स्वर, भाषा के स्वनिम, आदि)। संवेद मानक बच्चों द्वारा इंद्रियबोध की क्रियाएं करते हुए प्रयोग किये जाते हैं। वे एक प्रकार के मापदंड होते हैं, जो प्रेक्षणाधीन वस्तुओं की विशेषताएं समझ पाने की संभावना देते हैं।

स्कूलपूर्व आयु के अंत में भी बच्चा अभी सर्वमान्य मानकों से पूर्णतः परिचित नहीं होता। ठोस, सुपरिचित वस्तुओं के गुणों के बारे में उसकी अपनी धारणाएं ही उसके प्रत्यक्षण के मापदंड होते हैं। यह विशेषतः उन शाब्दिक संकेतों से प्रकट होता है, जिनसे बच्चा वस्तुओं के गुणों को इंगित करता है। उदाहरणार्थ, तिकोनी आकृति के लिए वह कहेगा: "घर जैसा", "छत जैसा", गोल आकृति के लिए कहेगा: "गेंद जैसा", लाल रंग के लिए कहेगा: "चेरी जैसा", वगैरह। सर्वमान्य मानक प्रणालियों का ज्ञान प्रत्यक्षण को परिष्कृत करता है और बच्चे को सामाजिक अनुभव के ज़रिये विश्व का अवबोध करने की संभावना देता है। यदि बच्चे को मानक प्रणालियों से खास तौर से अवगत नहीं कराया जाता, तो वह उन्हें विभिन्न – मुख्यतया उत्पादक – सक्रियताएं करते हुए शनैःशनैः और स्वतःस्फूर्त ढंग से ही हृदयंगम कर पाता है। प्रयुक्त सामग्री (रंगीन पेंसिलों, रंगों, मोज़ाइक, डिज़ायनिंग में इस्तेमाल किये जानेवाले टुकड़ों, आदि) में मुख्य रंगों तथा आकृतियों के नमूने और परिमाणों की सारिणियां होती हैं। बच्चा वस्तु की विशेषताओं के अनुरूप नमूनों को इस्तेमाल करते हुए उसका चित्र अथवा प्रतिरूप बनाता है। ऐसा व्यावहारिक प्रतिरूपण चिंतन के धरातल पर प्रतिरूपण में संक्रमण के लिए आरंभबिंदु का काम करता है।

प्रत्यक्षण का विकास विशेषतः संगठित संवेदात्मक शिक्षा की परिस्थितियों में बहुत ही कारगर ढंग से होता है। चित्रकारी शिक्षण में, संगीत के अभ्यासों में, शिक्षात्मक खेलों के दौरान स्कूलपूर्व आयु के बच्चों को सुनियोजित ढंग से संवेद मानकों से परिचित कराया जाता है, वस्तुओं के अध्ययन के तरीके सिखाये जाते हैं, उनके गुणों की

परिचित मानकों से तुलना करने की शिक्षा दी जाती है। इसका परिणाम यह निकलता है कि बच्चे का प्रत्यक्षण पूर्ण, परिशुद्ध और विभेदित हो जाता है।

प्रत्यक्षण के विकास का एक विशेष क्षेत्र कलाकृतियों (चित्रों, संगीत रचनाओं, आदि) के सौंदर्यबोधात्मक प्रत्यक्षण का निर्माण है। किसी चित्र को ठीक से समझने के लिए बच्चे को उसकी विशेषताओं को ध्यान में रखना आना चाहिए। उसे समाज में विकसित चित्रकला के नियमों का ज्ञान होना चाहिए। इसके बिना बच्चा सड़क पर जाते बच्चों के परिप्रेक्ष्यात्मक चित्र को देखकर कह सकता है: "यह बड़ा लड़का है, यह छोटा और यह बिल्कुल गुड़िया जैसा।" चटकीले रंगोंवाले चित्र को देखकर तो वह मुग्ध होगा और मात्र छाया-प्रकाशवाले चित्रों को देखकर मुंह मोड़ लेगा, क्योंकि छाया उसे गंदगी लगेगी। चित्र को ठीक से समझने, अंकित वस्तुओं तथा आकृतियों को न केवल बताने, बल्कि चित्र की कथा को पकड़ पाने की योग्यता वयस्कों की देखरेख में चित्रों को देखने के अभ्यास के फलस्वरूप आती है। चित्र को गौर से देखना और समझना चित्रकला के रसास्वादन की एक पूर्वशर्त है। रसानुभूति पहले रंगों और उनके मेलों से जुड़ी होती है और कुछ बाद में चित्र के लय और अन्य विन्यासात्मक विशेषताओं से जुड़ जाती है। इसमें देखे जा रहे चित्रों की गुणवत्ता का बड़ा महत्त्व होता ह। उन्हें पर्याप्त सादा और सजावटी होना चाहिए।

बच्चों की संगीत को ग्रहण करने की क्षमता और उससे संबंधित रसानुभूतियों का इतना अधिक अध्ययन नहीं किया गया है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि स्कूलपूर्व आयु में बच्चे संगीत का रसास्वादन करने में पूर्णतया सक्षम होते हैं और उनकी संगीत से संबंधित अनुभूतियां मुख्यतया ध्वनिगुणता और लय-ताल पर निर्भर होती हैं। छह-सात वर्ष की आयु में बच्चा धुन को काफ़ी कुछ सही-सही दोहराने लग जाता है और जो मुख्य बात है, उसका सौंदर्यपरक मूल्यांकन भी करने लग जाता है ("पसंद है", "पसंद नहीं है")। जहां संगीत को नियमित रूप से सुनने और आसपास के लोगों से गहन संवेगात्मक प्रतिक्रिया सीखने के अवसर उपलब्ध होते हैं, वहां बच्चों की संगीत योग्यता जल्दी ही प्रकाश में आ जाती है।

स्कूलपूर्व आयु-वर्ग के बच्चों का बौद्धिक विकास

प्रत्यक्षण के परिष्कृत होने के साथ-साथ बच्चे की **चिंतन-शक्ति** भी विकास करती जाती है। यदि आरंभिक बाल्यकाल में चिंतन वस्तु-मूलक (विशेषत: उपकरणमूलक) क्रियाओं का सहगामी होता है, तो स्कूलपूर्व आयु में वह व्यावहारिक क्रिया से पहले होने लग जाता है। ऐसा इसकी बदौलत होता है कि बच्चा किसी कार्य-रीति को, जो कि गत अनुभव का फल है, दूसरी, किंतु पहली से सर्वथा भिन्न स्थिति में लागू करना सीखता है।

स्कूलपूर्व आयु में बच्चा अपने सामने उत्पन्न समस्याओं को तीन रीतियों से हल कर सकता है: ऐंद्रिक क्रियामूलक रीति, ऐंद्रिक बिंबमूलक रीति और संकल्पना पर आधारित तार्किक चिंतन की विधि। बच्चा जितना ही छोटा होगा, उतना ही अधिक वह व्यावहारिक प्रयोगों का सहारा लेगा और जितना ही वह बड़ा होगा, उतना ही अधिक वह ऐंद्रिक बिंबमूलक और फिर तार्किक रीतियों का इस्तेमाल करेगा।

स्कूलपूर्व आयु के बच्चे के चिंतन के विकास के मूल में बौद्धिक क्रियाओं का विकास निहित होता है, जिसका आरंभबिंदु भौतिक वस्तुओं के साथ यथार्थ क्रियाएं है। ऐसी क्रिया से बच्चा यथार्थत: कल्पित भौतिक वस्तुओं के साथ परिसीमित मानसिक क्रियाओं में और अंतत: पूर्णत: मानसिक धरातल पर, जहां यथार्थ वस्तुओं का स्थान धारणाएं अथवा संकल्पनाएं ले लेती हैं, की जानेवाली क्रियाओं में संक्रमण करता है। इस प्रकार बाह्य क्रियाओं के आभ्यंतरीकरण के ज़रिये चिंतन के ऐंद्रिक बिंबमूलक और तर्क-संकल्पनामूलक रूप जन्म लेते हैं।

चिंतन के विकास के उच्चतर स्तरों पर, यानी उसके तार्किक रूपों में, बौद्धिक क्रियाएं आंतरिक बोली के धरातल पर संपन्न होती हैं या अनेकानेक संकेत प्रणालियां प्रयोग की जाती हैं। किंतु स्कूलपूर्व आयु के बच्चे का चिंतन संकेतों पर उतना आधारित नहीं होता, जितना कि बिंबों पर, जो कुछ मामलों में मूर्त वस्तुओं को प्रतिबिंबित करते हैं, तो कुछ मामलों में न्यूनाधिक सामान्यीकृत और प्रतीकात्मक होते हैं। ऐसी स्थिति में बच्चा समस्या के समाधान को वस्तुओं अथवा उनके प्रतिस्थापकों के साथ कई पूरी क्रियाओं के रूप में कल्पित करता है।

जां पियाजे के प्रयोगों में दिखाया गया था कि दो से सात वर्ष की अवस्था में बौद्धिक धरातल पर कृत्यकों का समाधान अत्यंत मूर्त बौद्धिक प्रयोग के रूप में हो सकता है। प्रयोगों के दौरान बाल चिंतन की ऐसी विशेषताएं प्रकाश में आयीं, जैसे उत्क्रमणीयता (अर्थात किसी परिवर्तन का अन्वीक्षण करके मस्तिष्क में उसे "विपरीत दिशा में" दोहराना और पूर्वस्थिति पर आना) का अभाव और ठोस स्थिति का कृत्यक के समाधान की क्रिया पर प्रभाव। प्रत्यक्ष का बिंब धारणा से कहीं प्रबल सिद्ध होता है, जो सिद्धांततः सही होते हुए भी अभी क्षीण और अस्थिर होती है।

किंतु इसके बावजूद कि बच्चे का बिंबमूलक चिंतन कुछ मामलों में उथला होता है और त्रुटियों का कारण बनता है, वह बाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त करने का एक प्रबल साधन है और बच्चे को वस्तुओं तथा परिघटनाओं के बारे में सामान्यीकृत धारणाएं बनाने की संभावना देता है। यह बात स्कूलपूर्व शिक्षण की प्रक्रिया में पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है।

स्कूलपूर्व आयु में चिंतन के शब्दमूलक रूपों का विकास बोली और व्यावहारिक क्रिया के परस्पर संबंधों के परिवर्तन से जुड़ा होता है। कनिष्ठ स्कूलपूर्व आयु के बच्चे के कथन व्यावहारिक कार्य के निष्पादन की प्रक्रिया में क्रियाओं के अनुगामी होते हैं और मानो उनका लेखा-जोखा पेश करते हैं। अगले चरण में बोली क्रिया की **पूर्वगामी** बन जाती है, यानी आयोजन का प्रकार्य करती है। यह बच्चे को कोई कार्य करते समय दृष्टि परिसर से बाहर तक फैले अर्थ-संबंधों को भी जानने और प्रयोग करने की संभावना देता है। शनैःशनैः, अर्थात ज्यों-ज्यों बच्चा व्यावहारिक अनुभव अर्जित करता है, त्यों-त्यों शब्दमूलक आयोजन का स्थान ठोस कृत्यकों का पूर्णतः शब्दमूलक चिंतन के स्तर पर समाधान लेने लगता है। जब बच्चा कृत्यक को समझता है, जब वह अपनी पहुंच के भीतर स्थित तथ्यों के प्रेक्षण का सहारा ले सकता है, उसके विचार पूर्णतः सुसंगत और तर्क की दृष्टि से सही हो सकते हैं। इस तरह, मिसाल के लिए, पानी के टब में डालने पर विभिन्न वस्तुओं के "व्यवहार" को देखकर स्कूलपूर्व आयु के बच्चे इस सर्वथा सत्य निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि लकड़ी की वस्तुएं तैरती हैं और धातु की वस्तुएं डूब जाती हैं।

स्कूलपूर्व आयु के बच्चों द्वारा शब्दमूलक चिंतन के उपयोग का यह अर्थ कतई नहीं कि बच्चे अमूर्त संकल्पनाओं की मदद से सोचते हैं। ल० स० विगोत्स्की ने दिखाया था कि बच्चा शब्दों को जो अर्थ देता है, वे वयस्कों द्वारा दिये जानेवाले अर्थों से बिल्कुल भिन्न भी हो सकते हैं। यह अंतर शब्दो के पीछे निहित सामान्यीकरणों के रूप तथा अंतर्वस्तु, दोनों के मामले में हो सकता है। रूप की दृष्टि से ये सामान्यीकरण अधिकांशत: बिंबात्मक होते हैं और उनकी अंतर्वस्तु केवल शनै:शनै: ही "वयस्क" संकल्पनाओं के समनुरूप बनती है, जो वस्तुओं के सामान्य और विशिष्ट लक्षणों से संबंधित प्रत्यय होती हैं। स्कूलपूर्व आयु का बच्चा समुच्चयों और "पूर्वधारणाओं" में सोचता है, जिनमें वस्तुएं एक दूसरी से हमेशा ही अपनी विशिष्ट और सामान्य विशेषताओं से नहीं जुड़ी होती हैं। एक छहवर्षीया लड़की से कई सारे चित्रों में से वे चित्र चुनने को कहा गया, जिनपर जानवर बने हुए थे। "घोड़ा जानवर है।" "क्यों?" "इसलिए कि वह घास खाता है, सवारी के काम आता है... भालू जानवर है।" "क्यों?" "वह जंगल में रहता है... हाथी जानवर है, क्योंकि वह अफ़्रीका में रहता है... लोमड़ी भी जानवर है, क्योंकि वह खरगोश का शिकार करती है..." छहवर्षीय बच्चे का शब्दमूलक चिंतन कुछ इसी प्रकार का होता है।

किंतु बोली बच्चों के सामान्यीकरणों के लिए मात्र पासंग नहीं होती। शब्द सामाजिक अनुभव का एक अंश है। वह बच्चे की चिंतन सक्रियता को एक खास ढंग से निदेशित करता है, उसके सामान्यीकरण बनाता है और शनै:शनै: उच्चतर संकल्पनात्मक रूपों को आत्मसात् करने में सहायता देता है।

स्कूलपूर्व आयु के बच्चों के चिंतन का विकास विभिन्न सक्रियताओं के दौरान होता है। इस संबंध में खेल विशेष महत्त्व रखते हैं। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, खेल में ही पहली बार प्रतीक-प्रयोग, यानी कुछ वस्तुओं के स्थान पर दूसरी वस्तुओं का प्रयोग होने लगता है। खेल में किये जानेवाले प्रतिस्थापन सीखकर ही बच्चा अन्य प्रकार के प्रतिस्थापन (यथार्थ वस्तुओं का अनेक भौतिक अथवा कल्पित चित्रों, मॉडलों और अंतत: संकेतों द्वारा प्रतिस्थापन) सीखता है।

उत्पादक सक्रियताओं में क्रियाओं का शब्दमूलक आयोजन पैदा होता है और सोद्देश्य चिंतन की नींव पड़ती है।

चिंतन के विकास में निर्णायक भूमिका **शिक्षण** की होती है। पिछले वर्षों में किये गये अध्ययनों से पता चला है कि स्कूलपूर्व आयु के बच्चों के चिंतन की जिन बहुत सी विशेषताओं को पहले आयु का अभिन्न लक्षण माना जाता था, वे वस्तुतः बच्चों के जीवन तथा सक्रियता की विशिष्ट परिस्थितियों की उपज होती हैं और स्कूलपूर्व शिक्षण की अंतर्वस्तु तथा विधियां बदलकर उन्हें भी बदला जा सकता है। मिसाल के लिए, जब बच्चों को अलग-अलग वस्तुओं तथा उनके गुणों से नहीं, वरन यथार्थ जगत की परिघटनाओं के सामान्य संबंधों तथा नियमों से परिचित कराया जाता है, तो बाल चिंतन की मूर्तता और किसी निश्चित वस्तु अथवा घटना से बद्धता लुप्त हो जाती हैं और उनका स्थान चिंतन के सामान्यीकृत रूप ले लेते हैं। पांच-छह वर्ष के बच्चे पिंडों के कतिपय भौतिक गुणों तथा अवस्थाओं, पशुओं की शरीर-रचना की उनके अस्तित्व की परिस्थितियों पर निर्भरता, समग्र और अंश के सहसंबंध, एकत्व और बहुलत्व, आदि से संबंधित जानकारियों को सहजतापूर्वक आत्मसात् कर लेते हैं और अपनी चिंतन सक्रियता में प्रयोग करने लगते हैं। शिक्षण के समुचित रूप अपनाये जाने पर, यानी बौद्धिक क्रियाओं को क्रमशः विकसित किये जाने पर स्कूलपूर्व बच्चों को संकल्पनाओं तथा तार्किक चिंतन की रीतियों को हृदयंगम करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

किंतु स्कूलपूर्व अवस्था में संकल्पनाएं और तार्किक संक्रियाएं बच्चों की पहुंच के भीतर होने का यह अर्थ नहीं कि इसे उनकी बौद्धिक शिक्षा का मूलभूत लक्ष्य होना चाहिए। ऐसी शिक्षा का मुख्य लक्ष्य चिंतन के ऐंद्रिक बिंबमूलक रूपों का सर्वतोमुखी विकास है, जिनके लिए स्कूलपूर्व आयु सबसे अधिक सुग्राही होती है और जिनका बच्चे के भावी जीवन के लिए बहुत बड़ा महत्त्व है, क्योंकि वे हर प्रकार की सृजनमूलक सक्रियता के अभिन्न अंग होते हैं।

स्कूलपूर्व आयु-वर्ग के बच्चों की चिंतन-शक्ति का विकास चिंतन रीतियों के परिष्करण और नये प्रकार की बौद्धिक क्रियाओं को सीखने तक ही सीमित नहीं रहता। बच्चों द्वारा हल किये जानेवाले बौद्धिक

कृत्यकों के दायरे का बदलना तथा बढ़ना और चिंतन की अंतर्वस्तु का समृद्धतर होना भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। स्कूलपूर्व आयु में पहली बार बच्चे का न केवल व्यावहारिक, बल्कि विशेष **ज्ञानवर्द्धक कृत्यकों** से भी साक्षात्कार होता है। शनैःशनैः ऐसे कृत्यकों का अनुपात बढ़ता जाता है। संज्ञानमूलक सक्रियता के दायरे में ही बौद्धिक क्रियाओं के उच्चतर रूप पनपते हैं ।

स्कूलपूर्व आयु के बच्चे के अन्वीक्षण दिखाते हैं कि उसकी **कल्पना** बहुत समृद्ध होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि बच्चा मानो एक साथ दो दुनियाओं में रह रहा है–एक यथार्थ दुनिया और दूसरी उसकी अपनी कल्पना की दुनिया, जो उसके खेलों, चित्रों, उसकी गढ़ी हुई कहानियों, आदि में प्रतिबिंबित होती है। इस प्रथम प्रतीति का परिणाम यह निकला कि कुछ अनुसंधानकर्त्ता कल्पना को स्कूलपूर्व आयु के बच्चे की सभी सक्रियताओं का स्रोत मान बैठे। किंतु अधिक गहरे अनुसंधानों ने दिखाया है कि कल्पना का विकास बच्चे की विभिन्न सक्रियताओं में दक्षता का कारण नहीं, परिणाम होता है। कल्पना के आरंभिक रूप न केवल बहुत क्षुद्र होते हैं, बल्कि उनका जन्म भी स्वयं सक्रियता के दौरान होता है। शनैःशनैः और सारी स्कूलपूर्व आयु के दौर में ही कल्पना अपेक्षया स्वतंत्र बन पाती है। बच्चे की कल्पना के बिंब उज्ज्वल, सुस्पष्ट और संवेगों से भरपूर तो होते हैं, किंतु पर्याप्त नियंत्रणीय नहीं होते। कल्पना के विकास की मुख्य दिशा उसे शनैःशनैः सचेतन अभिप्रायों के अधीन और निश्चित विचारों के साकारीकरण का साधन बनाना है।

स्कूलपूर्व बाल्यकाल वह अवस्था है, जिसमें अनभिप्रेत **ध्यान और स्मृति** की प्रधानता होती है। बच्चा उस चीज़ पर ध्यान देता है, जो उसे रुचिकर लगती है और संवेग जगाती है। वह उस चीज़ को याद रखता है, जो उसका ध्यान आकृष्ट करती है और "स्वतः याद हो जाती है"। शब्दमूलक विचारों के बजाय बिंबों को याद रखना कहीं आसान होता है। यहां तक कि कोई टेक्स्ट याद करते हुए भी अंतर्वस्तु के बजाय लय और तुक प्रायः अधिक महत्त्व रखते हैं। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि स्कूलपूर्व आयु के बच्चे जान-बूझकर ध्यान देने और इरादतन याद रखने में बिल्कुल असमर्थ होते हैं। इस आयु के अंत तक

उनमें अधिकाधिक देर तक अपने ध्यान का स्वेच्छा से नियामन करने की क्षमता पैदा हो जाती है और शब्द तथा अर्थमूलक स्मृति विकास करने लगती है, जो सातवें वर्ष के अंत तक लगभग बिंबमूलक स्मृति जैसी ही बन जाती है। यह बच्चे की सक्रियता के सामान्य जटिलीकरण से, विशेषतः जब उसे कक्षाओं में नियमित शिक्षण दिया जाने लगता है, जुड़ा होता है। स्मृति के विकास में मोड़बिंदु तब आता है, जब विशेष स्मृति-संस्कारक क्रियाएं उत्पन्न होती हैं, जिनमें बच्चा अपने सामने याद रखने का लक्ष्य रखता है और तदनुरूप रीतियां (उदाहरणार्थ, कई-कई बार दोहराना) इस्तेमाल करने लगता है।

सभी संज्ञानमूलक क्रियाओं का परिष्कार बच्चे की **बोली** के विकास पर निर्भर होता है। शब्द बच्चों द्वारा हृदयंगमित संवेदी मानकों को दर्ज कर देता है, धारणाओं और संकल्पनाओं का वाहक होने के कारण चिंतन की प्रक्रिया में शामिल हो जाता है और तार्किक ढंग से सोचने की संभावना सुनिश्चित करता है। बोली कल्पना के कार्य को निदेशित करती है, ध्यान और स्मृति में संकल्प के तत्त्व का समावेश करके उनके सामने निश्चित लक्ष्य रखती है और स्मरण को समझ पर आधारित बनाती है। बोली के ज़रिये बच्चे को मानवजाति द्वारा अर्जित अनुभव, विशेषतः स्वयं मानसिक सक्रियता का अनुभव, अंतरित किया जाता है।

स्कूलपूर्व आयु के अंत तक बच्चा अपनी मातृभाषा को व्यावहारिक रूप में काफ़ी अच्छी तरह जान जाता है। किंतु उसकी बोली स्थिति-सापेक्ष होती है – वह दत्त ठोस स्थिति के बाहर अबोधगम्य रहती है। वह अभी बच्चे की अपनी क्रियाओं का बहुत कम नियमन करती है। बच्चा अभी बोली की परिघटनाओं को यथार्थ जगत की परिघटनाओं के एक विशेष रूप की भांति नहीं लेता और शब्दों को उनके द्वारा अभिप्रेत वस्तुओं से अलग नहीं कर पाता। स्कूलपूर्व आयु के अंत तक उसका शब्दभंडार बढ़ जाता है और उसकी बोली की व्याकरणिक संरचना में और सुधार आता है। बोली स्थितिसापेक्ष न रहकर संदर्भ-सापेक्ष, स्थिति के बाहर भी अवगम्य बन जाती है। व्यवहार और सभी प्रकार की मानसिक क्रियाओं के निष्पादन में बोली की नियामक भूमिका बहुत बढ़ जाती है। आभ्यंतरिक बोली का निर्माण होता है, जो बोलीमूलक चिंतन की बुनियाद बन जाती है। समुचित शिक्षण

दिये जाने पर बच्चे बोली की शब्दरचना और शब्द की ध्वनिरचना का महत्त्व समझने और बोली की परिघटनाओं को यथार्थ जगत की परिघटनाओं के एक विशेष रूप की भांति लेना शुरू कर देते हैं।

यद्यपि बोली में दक्षता पाये बिना सामान्य मानसिक विकास असंभव बन जाता है, इससे यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि बोली ही मानसिक परिघटनाओं की रचना व विकास करती है। वे बोली की **सहभागिता से**, विभिन्न सक्रियताओं की प्रक्रिया में और पालन तथा शिक्षण के निर्णायक प्रभाव से पैदा और विकसित होती हैं।

संवेगों, इच्छा-शक्ति और व्यष्टिक विशेषताओं का निर्माण

सोवियत बाल मनोविज्ञान की मान्यता है कि बच्चे के व्यक्तित्व का निर्माण यथार्थतः स्कूलपूर्व आयु में ही आरंभ हो जाता है। बाल व्यक्तित्व का निर्माण संवेगों तथा इच्छा-शक्ति के निर्माण, रुचियों तथा व्यवहार-अभिप्रेरकों के निर्माण से घनिष्ठ रूप से जुड़ा होता है। स्वयं परवर्तियों का निर्माण सामाजिक परिवेश पर, मुख्यतया वयस्कों के साथ बच्चे के उन संबंधों के व्यावहारिक रूप धारण करने पर निर्भर होता है, जो बच्चे के विकास के दत्त चरण के लिए लाक्षणिक हैं।

आरंभिक बाल्यकाल में बच्चे को वयस्क की भूमिका की, उसके प्रभाव की और स्वयं अपने आप की भी समझ नहीं होती। निश्चित स्थिति में बच्चा वयस्क के साथ निश्चित संयुक्त सक्रियता दिखाता है। इस स्थिति की केंद्रीय कड़ी वयस्क होता है और बच्चा स्वयं काम करते हुए वयस्क द्वारा उससे की जानेवाली अपेक्षा को पूरा करता है अथवा नहीं करता है। यहां न आज्ञापालन की समस्या होती है, न "करूं या न करूं" की उलझन और न अभिप्रेरकों का आपस में टकराव ही। बच्चा अंतःप्रेरणा के वशीभूत होकर काम करता है।

किंतु स्कूलपूर्व आयु के आरंभ में ही बच्चों तथा वयस्क के बीच सर्वथा नये संबंध पैदा हो जाते हैं। बच्चा अपने को वयस्क से पृथक् करना शुरू कर देता है। "मैं चाहता हूं" – उसमें अपनी इच्छा की चेतना आ जाती है। "यह मैं हूं" – वह अपना फ़ोटो दिखाते हुए कहता है। वयस्क से पृथक् होते हुए, अपने को एक अलग व्यष्टि दिखाते हुए बच्चा

अपनी सक्रियता और वयस्क की सक्रियता में भेद करने लग जाता है। वह मानो वयस्क से अलग हटता है, पाता है कि वयस्क अनुकरण के लिए एक प्रतिमान है और फिर "बड़े जैसे" ही काम करने की चेष्टा करता है। अपने व्यवहार को वयस्क के प्रतिमान के अनुरूप ढालने की चेष्टा क्रियाओं की ऐच्छिकता का निर्माण करती है, क्योंकि यहां कम से कम दो आकांक्षाओं में निरंतर टकराव होता है: जैसे भी बन पड़े काम करना और प्रतिमान के अनुसार, वयस्क की अपेक्षाओं के अनुसार काम करना। व्यवहार के प्रतिमान आत्मसात् करने से क्रियाएं सामाजिक मापदंडों के अनुरूप बनती जाती हैं। स्कूलपूर्व अवस्था में पहली नैतिक धारणाएं उत्पन्न होती हैं और व्यवहार का नया प्ररूप, जिसे **व्यष्टिक** व्यवहार कहते हैं, प्रकट होता है।

सोवियत मनोविज्ञान व्यक्तित्व के निर्माण को स्कूलपूर्व आयु में प्रकट और विकसित हो रही **अभिप्रेरकों की सहनिर्भरता** से जोड़ता है। इस आयु-वर्ग के बच्चे की सक्रियता का कारण कोई अलग-थलग, एक दूसरे से असंबद्ध अभिप्रेरक नहीं होते, जो एक दूसरे की जगह पर आते हैं, एक दूसरे को प्रबलित करते हैं या आपस में टकराते हैं, बल्कि उनका सोपानक्रम होता है, जिसमें बुनियादी और स्थायी अभिप्रेरक शनैःशनैः सबसे महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं और गौण तथा स्थितिमूलक अभिप्रेरकों को अपने अधीन बना लेते हैं। अभिप्रेरकों की सहनिर्भरता अति भावपरक नकारात्मक रवैये पर सचेतन ढंग से काबू पाने से और किसी संवेगात्मक दृष्टि से आकर्षक लक्ष्य के हेतु की जाने-वाली इच्छामूलक चेष्टा से जुड़ी होती है। बच्चा बहुत कम उम्र में ही आंतरिक उथल-पुथल महसूस करने लग जाता है। ऐसा तब होता है, जब वह किसी एक इच्छा को वरीयता नहीं दे पाता। आंतरिक द्वंद्व पैदा होने पर कनिष्ठ स्कूलपूर्व आयु के बच्चे की द्विविधा का अंत प्रायः अधिक स्थितिसापेक्ष इच्छा की विजय में होता है, जो समीपवर्ती, सहज उपलभ्य लक्ष्य की ओर धकेलती है। बच्चे जितने ही बड़े होते हैं, उतनी ही सहजता से वे आवश्यक क्रिया को – आकर्षक, किन्तु क्रिया से विमुखकारी लक्ष्य के बावजूद – संपन्न करने में सफल हो जाते हैं। अति भावपरक क्रियाओं की संख्या कम होती जाती है और सामाजिक अंतर्वस्तु से युक्त अभिप्रेरक अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण बनते जाते हैं।

सारी स्कूलपूर्व आयु के दौरान नये-नये अभिप्रेरक प्रकट होते रहते हैं। सक्रियता में सफलता अथवा असफलता, स्वयं सक्रियता की अंतर्वस्तु, आदि भी अभिप्रेरक की हैसियत से काम कर सकते हैं। जायमान अभिप्रेरक तरह-तरह के संबंधों से आपस में जुड़े होते हैं। पालन की ठोस परिस्थितियों को देखते हुए मुख्य अभिप्रेरक महत्वाकांक्षा, सामाजिक महत्त्व अथवा सक्रियता की अंतर्वस्तु में दिलचस्पी, आदि कुछ भी हो सकता है। बच्चे जितने ही बड़े होंगे, उतना ही अधिक वे इससे निर्दिष्ट होने लगेंगे कि आसपास के लोगों की नज़रों में उनकी किसी निश्चित हरकत का क्या महत्त्व होगा।

मानव संबंधों की प्रणाली में स्कूलपूर्व आयु के बच्चे का नया स्थान उसे अधिक स्वतंत्रता देता है। वयस्क से पृथक् होकर बच्चा अपने समवयस्कों के साथ सक्रिय संबंध कायम करता है। ये परस्पर संबंध खेल में साकार बनते हैं। उस में बच्चा कोई भूमिका स्वीकार करता है और इस तरह कुछ निश्चित क्रियाएं पूरी करने और व्यवहार के कुछ खास नियमों को मानने के लिए कर्त्तव्यबद्ध हो जाता है। ये क्रियाएं खुद में उसके लिए अनाकर्षक हो सकती हैं और किसी स्थिति में तो वह उन्हें बड़ी मुश्किल से या बिल्कुल भी नहीं पूरा कर सकता है। बच्चे की इच्छा-शक्ति के निर्माण में खेल का महत्त्व इस बात में निहित है कि खेल में वह अपनी भूमिका द्वारा विहित सामाजिक व नैतिक दायित्वों के अनुरूप कार्य करना सीखता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई पांचवर्षीया लड़की दूकानदारिन की भूमिका अदा करती है, तो वह जो बिस्कुट बेच रही है, उन्हें वह खुद नहीं खाती। स्कूली छात्रों की नकल करते हुए बच्चे देर तक और लगनपूर्वक एक ही तरह के अक्षर लिखते रह सकते हैं। क्रीड़ामूलक सक्रियता बच्चे की इच्छा-शक्ति को सार्थक बनाती है। क्रीड़ामूलक अभिप्रेरणा होने पर कृत्यक अधिक कारगर ढंग से पूरे किये जाते हैं। क्रीड़ामूलक स्थिति में बच्चे के लिए अपने व्यवहार का नियंत्रण करना आसान होता है। उदाहरणार्थ, वह देर तक संतरी की मुद्रा में खड़ा रह सकता है, क्योंकि इस मुद्रा को बनाये रखना ही उसकी भूमिका की अंतर्वस्तु है।

इच्छा-शक्ति और उससे संबंधित गुणों के विकास पर उत्पादक सक्रियताओं का बड़ा प्रभाव पड़ता है। चित्रकारी, निर्माण, एप्लीक

का काम, आदि ऐसी सभी सक्रियताओं के भीतर उत्पादनमूलक उद्देश्य पैदा होते हैं – उत्पाद बनाना। बच्चा चौकोर टुकड़े लेता है और अपने सामने मीनार बनाने का निर्माणमूलक उद्देश्य रखता है। पेंसिल और कागज़ लेते हुए वह चित्रांकन का उद्देश्य रखता है – किसी लड़के का चित्र बनाना। बच्चा अपने सामने जो उत्पादनमूलक उद्देश्य रखता है, वे आरंभ में बड़े अस्थिर होते हैं। बहुत संभव है कि मीनार बनाना शुरू करके वह एकाएक कह बैठे कि नहीं, जहाज़ बनाऊंगा। लड़के का चित्र बनाना शुरू करके बच्चा एकाएक यह कहते हुए कागज़-पेंसिल परे फेंक सकता है कि मैं खेलने जा रहा हूं। केवल सामूहिक सक्रियता में ही, अथवा जब प्रतियोगिता हो रही हो ("देखें, मीनार बनाना कौन जानता है", "कौन लड़के का बेहतर चित्र बनाता है?") तभी उत्पादनमूलक उद्देश्य अधिक देर तक बने रहते हैं और सक्रियता के परिणाम को निर्धारित करते हैं।

बच्चे द्वारा श्रम कृत्यकों की पूर्ति इच्छा-शक्ति के विकास के लिए बड़ा महत्त्व रखती है। ऐसी हालत में बच्चे का व्यवहार नैतिक अभिप्रेरकों पर निर्भर होता है। विभिन्न अभिप्रेरक सक्रियता को विभिन्न प्रकार से गठित करते हैं। उदाहरणार्थ, जब बच्चों से अपने मनोरंजन के लिए अथवा नन्हे बच्चों को उपहार में देने के लिए झंडियां बनाने को कहा गया, तो पाया गया कि दूसरे मामले में बच्चे काम में ज़्यादा समय लगाते हैं, ज़्यादातर बच्चे काम को परिणति पर पहुंचाने की कोशिश करते हैं और फिर काम की गुणवत्ता भी कहीं बेहतर होती है। इस प्रकार श्रम के सामाजिक अभिप्रेरक अपने सरलतम रूप – दूसरे आदमी के लिए कुछ करना – में बहुत पहले ही पनपने लग जाते हैं। बच्चा जो कुछ कर रहा है, उसकी आवश्यकता और सामाजिक लाभ के प्रति जितना अधिक सचेत होगा, उसका काम उतना ही सोद्देश्य बनेगा। मिसाल के लिए, बच्चा सहज ही कल्पना कर सकता है कि झंडी हाथ में लिये कोई नन्हा बच्चा कैसे चलेगा। किंतु यदि कृत्यक को बदल दिया जाये और बच्चों से कहा जाये कि अपनी मांओं के लिए झंडियां बनायें, श्रम सक्रियता की उत्पादिता काफ़ी घट जायेगी। बच्चा नहीं जानता कि झंडी लिये हुए मां कैसे चलेगी और इसलिए झंडी बनाने का काम उसके लिए दिलचस्प नहीं रहेगा।

इस प्रकार स्पष्ट श्रम अभिप्रेरक स्कूलपूर्व आयु के बच्चे की इच्छा-शक्ति के विकास की एक शर्त है।

स्कूलपूर्व आयु में बच्चा न केवल उत्पादनमूलक उद्देश्यों (जैसे मीनार बनाना) और सामाजिक दृष्टि से लाभदायक श्रम के अभिप्रेरकों (जैसे, नन्हे बच्चे के लिए झंडी बनाना) से निदेशित होता है, अपितु सीखे हुए नैतिक मानदंडों से भी निदेशित होने लगता है। वह अपने व्यवहार को अच्छे या बुरे की अपनी धारणाओं के अनुरूप ढालने की कोशिश करता है। अभिप्रेरक सोपान ज्यों-ज्यों विकसित होगा, बच्चा अभिप्रेरकों के टकराव को अनुभव करने, निर्णय लेने और फिर अधिकतर उच्च अभिप्रेरक की खातिर उस निर्णय को त्यागने लगेगा। अभिप्रेरक सोपानक्रम में कौन से अभिप्रेरक प्रमुख स्थान प्राप्त करते हैं, यह बच्चे के व्यक्तित्व की विशेषताओं को स्पष्टतः द्योतित कर देता है।

आरंभिक बाल्यकाल में बच्चे कुछ काम वयस्कों के कहने पर करते । अपनी मरज़ी से वे अपनी इच्छाएं विरले ही दबाते हैं। वे वही काम करते हैं, जो उन्हें रुचिकर लगता है और जिसमें विशेष मेहनत नहीं करनी पड़ती। किन्तु वस्तुपरक रूप से अच्छे काम करते हुए (मिसाल के लिए, मां के लिए चप्पलें ले आना, बूढ़ी दादी को पानी देना, आदि) बच्चे को न इसका अहसास होता कि वह कोई अच्छा काम कर रहा है, न अन्य लोगों के प्रति अपने कर्त्तव्य का ही उसे कोई भान होता है। बच्चे के काम का वयस्क जो मूल्यांकन करते हैं, उसके प्रभाव से ही कर्त्तव्यबोध की भावना बच्चे में जागती है। इस मूल्यांकन के आधार पर बच्चा अच्छे और बुरे में भेद को पहचानना शुरू करता है। सबसे पहले वे दूसरे बच्चों के कार्यों का मूल्यांकन करने लगते हैं। बाद में वे इस स्थिति में आ जाते हैं कि अपने समवयस्कों ही नहीं, स्वयं के कार्यों को भी आंक सकें। इस तरह **आत्ममूल्यांकन** विकसित होता है।

आत्मूल्यांकन की योग्यता आसपास के लोगों के साथ संपर्क तथा संप्रेषण में बच्चे का दिग्दर्शन करती है। उदाहरण के लिए, बच्चा भली भांति महसूस कर सकता है कि हठ करना, किसी भी कीमत पर अपनी बात मनवाकर रहना अनुचित तथा गलत है। सामान्यतया बच्चा हठ उसी व्यक्ति के सामने करता है, जिससे उसे अपनी वांछित

वस्तु पाने की आशा होती है (इसीलिए वयस्क के रोकने पर बच्चा उत्तर दे सकता है: "मैं तुमसे नहीं, दादी से मांग रहा हूं। तुम हट जाओ!")

आत्ममूल्यांकन बच्चे की सचेतन सक्रियता के विकास का एक सबसे जटिल उत्पाद है। बच्चे अपनी बाह्य क्रियाओं ही नहीं, मनःस्थिति और भावनाओं के सिलसिले में भी वयस्कों से संप्रेषण का प्रयास करते हैं। उन्हें अपनी भावनाओं और अनुभूतियों की समझ दूसरे से कहकर और अपने लिए उनका महत्त्व जानकर पैदा होती है। बच्चा अब न केवल हर्षित अथवा लज्जित होता है और बुरा मानता है, बल्कि अपनी इन मनःस्थितियों को शब्दों में व्यक्त भी करता है: "मैं खुश हूं", "मैं लज्जित हूं," "मुझे बुरा लगा है"। वह जान जाता है कि वह क्या अनुभव कर रहा है।

आत्ममूल्यांकन और आत्मचेतना का विकास स्कूलपूर्व आयु की एक मुख्य नवनिर्मिति है। आत्मचेतना में बच्चे की समझ कि सामाजिक संबंधों की प्रणाली में उसका क्या स्थान है, व्यावहारिक क्रियाओं के क्षेत्र में अपनी क्षमताओं का उसका मूल्यांकन और स्वयं अपने मनोजगत में रुचि का जागरण प्रतिबिंबित होते हैं। आत्मचेतना व्यष्टि को एक अनूठे व्यष्टित्व में बदल देती है।

स्कूली शिक्षा के लिए मानसिक तैयारी

स्कूल में प्रवेश के साथ बच्चे के जीवन में एक सर्वथा नया चरण आरंभ हो जाता है। अब तक उसे इस नये दौर के लिए पर्याप्त तैयार कर दिया जाना चाहिए। सबसे पहले तो उस गंभीर सक्रियता के निष्पादन में समर्थ होना चाहिए, जो उसे न केवल नये अधिकार देती है, अपितु कठिन दायित्व भी सौंपती है। नन्हा छात्र आशा कर सकता है कि दूसरे लोग उसकी पढ़ाई को सम्मान की नज़रों से देखेंगे, किंतु दूसरी ओर, स्वयं उसे भी अध्यापक द्वारा दिये हुए कृत्यकों को नियमित रूप से पूरा करना और स्कूल के नियमों के अनुसार आचरण करना होगा, चाहे दत्त क्षण में वह ऐसा करना चाहता है या नहीं।

स्कूली आयु तक पहुंचते-पहुंचते अधिकांश बच्चे स्कूली छात्र का

दर्जा प्राप्त करने के लिए आतुर हो जाते हैं, किंतु इसकी पर्याप्त स्पष्ट समझ हर किसी को नहीं होती कि यह दर्जा वास्तव में है क्या। कभी-कभी उन्हें मात्र बाह्य पहलू आकर्षित करता है, जैसे अपना बस्ता होना, बड़ा समझा जाना, अंक पाना, आदि। स्कूली छात्र के दर्जे के लिए वस्तुतः तैयार वही बच्चा होता है, जिसे स्कूल की बाहरी ताम-झाम नहीं, अपितु नयी बातें जानने की संभावना आकृष्ट करती है, यानी ऐसा बच्चा, जिसकी ज्ञानार्जन रुचि पर्याप्त विकसित होती है। केवल तभी बच्चे अपने स्कूली कर्त्तव्यों को पर्याप्त उत्तरदायित्व की भावना के साथ वहन करने में समर्थ हो सकते हैं। किंतु छात्र बनने की आकांक्षा और पढ़ाई के प्रति गंभीर रवैया अपने आप में काफ़ी नहीं हैं। बच्चे को स्थितिसापेक्ष अभिप्रेरकों को इस आकांक्षा, इस रवैये के अधीन बनाना, कक्षा में ध्यान एकाग्र रखना, नियमों को, जो कभी-कभी नीरस भी हो सकते हैं, सीखना और कठिन प्रश्नों का हल मनोयोगपूर्वक खोजना भी आना चाहिए। दूसरे शब्दों में, भावी छात्र के लिए आवश्यक है कि वह अपने व्यवहार, विशेषतः संज्ञानमूलक सक्रियता का स्वेच्छा से नियमन करे और इस सक्रियता को शिक्षा लक्ष्यों की सिद्धि में सहायक बनाये। यह तभी संभव होता है, जब बच्चे के मन में अभिप्रेरकों का सोपानक्रम बन चुका हो, जो महत्त्वहीन अभिप्रेरकों को अधिक महत्त्वशील, अधिक स्थायी उद्देश्यों तथा इरादों के अधीन बनाने की संभावना देती है।

आधुनिक स्कूली शिक्षा शून्य से शुरू नहीं होती। उसमें यह मानकर चला जाता है कि बच्चा जब पहली कक्षा में भरती होता है, तो वह काफ़ी कुछ जानता है और, जो खास बात है, उसके प्रत्यक्षबोध और चिंतन-शक्ति इतने विकसित हैं कि वह अध्ययनगत वस्तुओं तथा परि-घटनाओं का क्रमबद्ध प्रेक्षण तथा उनकी महत्त्वपूर्ण विशेषताओं की पहचान कर सकता है, सोच-विचार सकता है और निष्कर्ष निकाल सकता है। यह सब बच्चे के बौद्धिक विकास के स्तर से कुछ निश्चित अपेक्षाएं करता है: बच्चे में क्रमबद्ध तथा विभेदित प्रत्यक्षण-शक्ति होनी चाहिए, उसे अध्ययनगत वस्तु के प्रति सैद्धांतिक उपागम, चिंतन के सामान्यीकृत रूपों तथा मुख्य तार्किक संक्रियाओं से परिचित होना चाहिए और उसकी स्मरण-शक्ति समझ पर आधारित होनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त उसे शिक्षा सक्रियता से संबंधित बुनियादी बातों का ज्ञान होना चाहिए (जैसे ध्यान परिणाम पर नहीं, अपितु शिक्षण कृत्यकों के निष्पादन की रीति पर देना, आत्मनियंत्रण, आदि)।

स्कूल में बच्चा तुरंत ही अपने समवयस्कों के समूह में पहुंच जाता है, जिनका एक साझा, गंभीर लक्ष्य होता है। इस दृष्टि से स्कूल का समूह किंडरगार्टन के समूह से काफ़ी भिन्न है। स्कूली बच्चों के परस्पर संबंध किंडरगार्टन से भिन्न आधार पर बनते और विकसित होते हैं और कक्षा में भी बच्चे की स्थिति भिन्न मानदंडों से, विशेषतः शिक्षा में उसकी सफलताओं से निर्धारित होती है। ऐसी परिस्थितियों में बच्चा समूह का अंग बन सके, इसके लिए उसे अन्य बच्चों के साथ परस्पर संबंध बनाने के काफ़ी लचीले तरीके आने चाहिए और उसमें साथीपन की भावना भी काफ़ी विकसित होनी चाहिए।

सहज ही देखा जा सकता है कि स्कूली शिक्षा के लिए मानसिक तैयारी, चाहे हम उसका कोई भी पहलू क्यों न लें, बच्चे के संपूर्ण पूर्ववर्ती मानसिक विकास और परिवार तथा किंडरगार्टन में पालन व शिक्षण की संपूर्ण प्रणाली का परिणाम होती है। सफल शिक्षण के लिए आवश्यक गुण एकाएक पैदा नहीं होते। वे शनैःशनैः ही बनते हैं और यह प्रक्रिया जन्म के क्षण से ही आरंभ हो जाती है। इन गुणों के निर्माण के लिए सक्रियता के ऐसे रूपों के महत्त्व का उल्लेख अवश्य किया जाना चाहिए, जैसे खेल, चित्रकारी, डिज़ायनिंग, आदि। असल में सक्रियता के इन रूपों में ही व्यवहार के सामाजिक अभिप्रेरक पहली बार पैदा होते हैं, अभिप्रेरक सोपान बनता है, प्रत्यक्षण और चिंतन की क्रियाएं विकसित व परिष्कृत होती हैं और बच्चों के परस्पर संबंध बढ़ते हैं। बेशक यह सब स्वतः नहीं, अपितु बच्चों की सक्रियता का वयस्कों द्वारा सतत निदेशन किये जाते हुए होता है, जो उदीयमान पीढ़ी को सामाजिक व्यवहार का अनुभव अंतरित करते हैं, आवश्यक ज्ञान देते हैं और बहुत सी अन्य बातें सिखाते हैं। कतिपय गुण स्कूलपूर्व शिक्षण की प्रक्रिया में ही विकसित हो सकते हैं, जैसे शिक्षा सक्रियता से संबंधित बुनियादी बातों का ज्ञान और ज्ञानवर्द्धक क्रियाओं में उत्पादिता का पर्याप्त ऊंचा स्तर।

स्कूली शिक्षा के लिए मानसिक तैयारी में किंडरगार्टनों के ज्येष्ठ

और प्राक-प्रवेश ग्रुपों में दी जानेवाली विशेष शिक्षा का काफ़ी बड़ा महत्त्व होता है। किंतु इस शिक्षा को प्राथमिक सहायता के प्रयास जैसा नहीं, बल्कि बच्चे के मनोविकास की सभी पूर्ववर्ती उपलब्धियों पर आधारित होना चाहिए। बच्चे के मस्तिष्क पर ढेर सारी अशृंखलित जानकारियां लादने और यांत्रिक ढंग से तथा ज़बर्दस्ती उन्हें पढ़ना और गिनना सिखाने से अधिक हानिकर कुछ नहीं है। इसके विपरीत उन्हें सामान्यीकृत, सुव्यवस्थित ज्ञान दिया जाना चाहिए, यथार्थ के नये क्षेत्रों (वस्तुओं के परिमाणात्मक संबंधों, भाषा की ध्वन्यात्मक अंतर्वस्तु) को ध्यान में रखना सिखाया जाना चाहिए और इस व्यापक आधार पर विभिन्न बातों में प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। इस प्रकार का शिक्षण ही बच्चों में यथार्थ के प्रति सैद्धांतिक उपागम के बीज बोता है, जो अंकुरित और विकसित होकर उन्हें भविष्य में किसी भी प्रकार के ज्ञान को सचेतन ढंग से हृदयंगम करने की संभावना देंगे।

अध्याय ४

आरंभिक स्कूली आयु में मानसिक विकास

§१. स्कूली जीवन के आरंभिक काल की विशेषताएं

आधुनिक सोवियत शिक्षा प्रणाली में आरंभिक स्कूली आयु में बच्चे के जीवन का सातवें से दसवें-ग्यारहवें वर्ष (स्कूल की पहली से तीसरी कक्षाओं) तक का काल शामिल किया जाता है। जिन देशों में बच्चे छह वर्ष की आयु से स्कूल जाने लगते हैं और प्राथमिक शिक्षा की अवधि भी भिन्न है, आरंभिक स्कूली आयु की काल-सीमाएं स्वाभाविकतः भिन्न होंगी (अब सोवियत संघ में भी स्कूली शिक्षा छः वर्ष की आयु से शुरू की जानेवाली है। – सं०)। इसलिए स्कूली जीवन की एक विशेष कड़ी के रूप में आरंभिक स्कूली आयु की काल-सीमाओं तथा मानसिक विशेषताओं को **पूर्णतः नियत और अपरिवर्तनीय नहीं माना जा सकता।** वैज्ञानिक दृष्टि से अभी हम इस आयु की अपेक्षया स्थिर और सर्वाधिक लाक्षणिक विशेषताओं की ही बात कर सकते हैं। बच्चे के मानसिक विकास में इस आयु की भूमिका किंडरगार्टन से लेकर माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति तक बच्चों के सामाजिक पालन व शिक्षण की ऐतिहासिकतः विकासमान प्रणाली में प्राथमिक शिक्षा के उद्देश्यों तथा महत्त्व के परिवर्तन को देखते हुए बदल सकती है।

सात से दस वर्ष तक के आयु-काल की सबसे लाक्षणिक विशेषता यह है कि इसमें **बच्चा स्कूली छात्र बन जाता है।** यह एक संक्रांति काल है, जब बच्चा अपने में स्कूलपूर्व बाल्यावस्था के लक्षण भी लिये रहता है और स्कूली छात्र के लक्षण भी। ये विशेषताएं उसके व्यवहार

तथा चेतना में जटिल और कभी-कभी विरोधपूर्ण संयोगों के रूप में जड़ें जमाये रहती हैं। किसी भी अन्य संक्रांति काल की भांति यह आयु विकास की प्रच्छन्न संभावनाओं के मामले में काफ़ी संपन्न होती है, जिन्हें उचित समय पर पहचानना और बढ़ावा देना बहुत ज़रूरी है। व्यष्टि की अनेक मानसिक विशेषताओं की बुनियाद आरंभिक स्कूली आयु में ही डाली और संवर्धित की जाती है। इसलिए आजकल **वैज्ञानिक आरंभिक कक्षाओं के बच्चों के विकास की प्रच्छन्न संभावनाओं को प्रकाश में लाने पर विशेष ध्यान दे रहे हैं। इन संभावनाओं का उपयोग करके बच्चों को भावी शिक्षा तथा श्रम सक्रियताओं के लिए अधिक सफलतापूर्वक तैयार किया जा सकता है।**

आरंभिक स्कूली आयु के बच्चों की शरीररचनात्मक व शरीरक्रियात्मक विशेषताएं

इस आयु में शरीर के सभी अंगों तथा ऊतकों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आते हैं। उदाहरणार्थ, मेरुदंड के सभी बंक – ग्रीवा, वक्ष तथा कटि बंक – बनते हैं। किंतु कंकाल का अस्थि-विकास अभी समाप्त नहीं होता और इसलिए शरीर बड़ा लचीला तथा फुरतीला बना रहता है, जो एक ओर तो समुचित शारीरिक विकास तथा अनेक प्रकार के खेलों में प्रवीणता पाने के लिए महती संभावनाएं प्रस्तुत करता है और, दूसरी ओर, अगर शारीरिक विकास के लिए सामान्य परिस्थितियां न हों, तो शारीरिक विकृतियों का कारण भी बन सकता है। यही वजह है कि स्कूल में बच्चे की डेस्क की ऊंचाई का ठीक होना और बच्चे का ठीक से बैठना सामान्य शारीरिक विकास तथा ठवन के लिए, सारी भावी कार्यक्षमता के लिए बहुत महत्त्व रखते हैं।

आरंभिक स्कूली आयु के बच्चों की पेशियां और स्नायु बड़ी तेज़ी से मज़बूत बनते हैं, उनका आकार बढ़ता है और पेशियों की ताकत में वृद्धि होती है। बड़ी पेशियां छोटी पेशियों से पहले विकसित होती हैं। इसलिए बच्चे अपेक्षया ज़ोरदार और सक्रिय हरकतें करने में तो अधिक समर्थ होते हैं, किंतु छोटी, सुतथ्यता की अपेक्षा करनेवाली हरकतों के मामले में कठिनाई अनुभव करते हैं। करभ-अंगुलास्थियों

का विकास नौ-ग्यारह वर्ष की आयु में पूर्ण होता है और मणिबंध का अस्थि-विकास दस-बारह वर्ष की आयु में। यदि इस तथ्य को ध्यान में रखा जाये, तो स्पष्ट हो जायेगा कि आरंभिक कक्षाओं का छात्र प्राय: लिखने में इतनी कठिनाई क्यों अनुभव करता है। उसकी अंगुलियां जल्दी थक जाती हैं, वह तेज़ और बहुत देर तक नहीं लिख पाता। अत: आरंभिक, विशेषत: पहली व दूसरी कक्षाओं के बच्चों से लिखने का कार्य बहुत अधिक नहीं कराया जाना चाहिए। बहुत बार बच्चे गंदी लिखावट में किये गये काम को सुधारने के लिए फिर से लिखने बैठते हैं। किंतु इससे प्राय: परिणाम में सुधार आने के बजाय, उल्टे, हाथ और अधिक थक जाता है।

आरंभिक स्कूली आयु के बच्चों की हृद्-पेशी तेज़ी से बढ़ती है, उसमें खूब रक्त पहुंचता है और इसलिए हृदय अपेक्षाकृत सहनशील होता है। कैरोटिड धमनी के बड़े व्यास के कारण प्रमस्तिष्क पर्याप्त रक्त पाता है, जो उसकी कार्यक्षमता के लिए अत्यावश्यक है। प्रमस्तिष्क का भार सात वर्ष की आयु के बाद उल्लेखनीय रूप से बढ़ जाता है। मस्तिष्क के ललाट-खंडों का विशेष प्रवर्धन होता है, जो मनुष्य की मानसिक सक्रियता के उच्चतर और सर्वाधिक जटिल प्रकार्यों के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

उत्तेजन और संदमन की प्रक्रियाओं का सहसंबंध बदल जाता है। स्कूली आयु के बच्चों में संदमन, जो कि समय और आत्मनियंत्रण का आधार है, स्कूलपूर्व आयु के बच्चों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट बन जाता है। किंतु उत्तेजन की प्रवृत्ति अभी भी काफ़ी प्रखर बनी रहती है और इसलिए स्कूली आयु के बच्चे चैन से नहीं बैठ पाते। सचेतन तथा विवेकसंगत अनुशासन और वयस्कों की अपेक्षाओं की नियमितता बच्चों में उत्तेजन और संदमन की प्रक्रियाओं के सामान्य सहसंबंध के विकास की ज़रूरी बाह्य पूर्वापेक्षाएं हैं। इसके साथ ही सात वर्ष की आयु तक उनका सामान्य संतुलन नयी, स्कूल द्वारा की जानेवाली अनुशासन, अध्यवसाय और संयम जैसी अपेक्षाओं के अनुरूप हो जाता है।

इस प्रकार स्कूलपूर्व आयु की तुलना में आरंभिक स्कूली आयु में शरीर का कंकाल-पेशी तंत्र काफ़ी सुदृढ़ हो जाता है, हृद्-वाहिका सक्रियता अधिक स्थायी बन जाती है और तंत्रिका उत्तेजन व संदमन

की प्रक्रियाएं पहले से ज़्यादा संतुलित हो जाती हैं। यह सब इसलिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि **स्कूली जीवन का आरंभ एक विशेष शिक्षा सक्रियता का आरंभ है, जो बच्चे से काफ़ी अधिक बौद्धिक प्रयास ही नहीं, बड़ी शारीरिक तितिक्षा की भी अपेक्षा करती है।**

स्कूल में प्रवेश से संबंधित मानसिक पुनर्गठन

बच्चे के मनोविकास के हर चरण में सक्रियता का कोई एक रूप ही उसके लिए मुख्य और बुनियादी होता है। उदाहरणार्थ, स्कूलपूर्व बाल्यावस्था में यह स्थान क्रीड़ामूलक सक्रियता को प्राप्त होता है। हालांकि इस आयु-वर्ग के बच्चे, विशेषतः जो किंडरगार्टन जाते हैं, वे पढ़ने और यथाशक्ति श्रम भी करने लग जाते हैं, फिर भी उनकी सहज प्रवृत्ति, जो कि उनके सारे चरित्र को निर्धारित करती है, अपने विविध रूपों में भूमिकामूलक खेल की ओर ही होती है। खेल में बच्चे की समाज में महत्त्व पाने की आकांक्षा उभरती है, कल्पना-शक्ति विकसित होती है और वह प्रतीकों का प्रयोग सीखता है। ये ही वे मुख्य बातें हैं, जो दिखाती हैं कि बच्चा स्कूली शिक्षा के आरंभ के लिए तैयार हो चुका है।

स्कूल की देहरी पर कदम रखते ही बच्चा स्कूली छात्र बन जाता है। अब से उसके जीवन में खेल की प्रमुखता शनैःशनैः घटने लग जाती है, हालांकि उसका महत्त्व फिर भी बना रहता है। **पढ़ाई आरंभिक कक्षाओं के बच्चे की मुख्य सक्रियता बन जाती है। वह उसके व्यवहार के अभिप्रेरकों को काफ़ी बदल डालती है और उसकी संज्ञानात्मक तथा नैतिक शक्तियों के विकास के लिए नये साधन व स्रोत उपलब्ध करवाती है।** यह सारा पुनर्गठन कई चरणों में संपन्न होता है।

विशेषतः महत्त्वपूर्ण वह चरण है, जिसमें बच्चों का स्कूली जीवन की नयी परिस्थितियों से प्रथम साक्षात्कार होता है। अधिकांश बच्चे मानसिकतः इसके लिए तैयार होते हैं। वे खुशी-खुशी स्कूल जाते हैं, सोचते हैं कि यहां उन्हें ऐसी असाधारण चीज़ें देखने, सुनने अथवा करने को मिलेंगी, जो कि घर और किंडरगार्टन में नहीं थीं। बच्चे की ऐसी मनःस्थिति दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सबसे पहले तो यह

कि स्कूली जीवन की नवीनता की पूर्वानुभूति तथा ललक बच्चे को कक्षा में व्यवहार, साथियों के साथ संबंधों और दिनचर्या से संबंधित अध्यापक की अपेक्षाओं के अनुकूल अपने को यथाशीघ्र ढालने में मदद करती हैं। बच्चा इन अपेक्षाओं को सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य मान लेता है। अनुभवी अध्यापकों को ज्ञात यह प्रस्थापना मनोविज्ञान की दृष्टि से समीचीन ही है कि स्कूल में पहले दिन से ही बच्चे को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि कक्षा, घर तथा सार्वजनिक स्थलों पर आचरण व व्यवहार के क्या नियम होते हैं। बच्चे को उसकी नयी स्थिति, अधिकारों और कर्त्तव्यों का पहले की स्थिति, अधिकारों तथा कर्त्तव्यों से अंतर भी तुरंत ही समझा दिया जाना चाहिए। नये नियमों और मानकों का दृढ़तापूर्वक पालन किये जाने की मांग पहली कक्षा के बच्चों के प्रति अनावश्यक कठोरता की परिचायक नहीं, बल्कि उनके जीवन के संगठन की एक आवश्यक शर्त है – ऐसी शर्त, जो स्कूली शिक्षा के लिए तैयार बच्चों की स्वयं अपनी मान्यताओं से पूर्णतः मेल खाती है। यदि ढुलमुलपन और अनिश्चय दिखाया जायेगा, तो बच्चे अपने जीवन के नये चरण की भिन्नता को महसूस नहीं कर पायेंगे और इसके परिणामस्वरूप उनकी स्कूल व शिक्षा में रुचि समाप्त हो सकती है।

बच्चे की मनःस्थिति का दूसरा पहलू ज्ञान तथा कुशलता अर्जित करने की प्रक्रिया के प्रति बच्चे के सामान्य रचनात्मक दृष्टिकोण से जुड़ा हुआ है। स्कूल में प्रवेश से पहले ही वह इस विचार का अभ्यस्त बन जाता है कि खेलों में वह जो बनना चाहता था, आगे चलकर सचमुच वैसा बनने के लिए शिक्षा पाना आवश्यक है। बेशक तब बच्चा नहीं जानता कि भविष्य में उसे ठीक किस प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता पड़ेगी। ज्ञान के प्रति उसका दृष्टिकोण अभी उपयोगिता व व्यावहारिक-तामूलक नहीं होता। उसका आकर्षण सामान्यतः ज्ञान के प्रति, मात्र सामाजिक मूल्य और महत्त्व रखनेवाले निरपेक्ष ज्ञान के प्रति होता है। इसमें ही बच्चे की जिज्ञासा और परिवेश में सैद्धांतिक रुचि व्यक्त होती है। यह रुचि, जो कि शिक्षा का मूलाधार है, बच्चे में उसकी क्रीड़ा सक्रियता द्वारा, स्कूलपूर्व जीवन की समस्त पद्धति द्वारा पैदा की जाती है।

आरंभ में बच्चा ठोस शिक्षा विषयों की अंतर्वस्तु से ठीक से परिचित नहीं होता। उसमें स्वयं शिक्षा सामग्री के प्रति संज्ञानात्मक रुचि अभी नहीं जगी होती है। यह रुचि तभी जागती और विकसित होती है, जब वह गणित, व्याकरण और अन्य विषयों में गहरे पैठने लगता है। फिर भी बच्चा पहले पाठों के बाद ही संबंधित तथ्यों को हृदयंगम करने लग जाता है। बेशक यह सामान्यतः ज्ञान में रुचि पर ही आधारित होता है, और दत्त प्रसंग में गणित अथवा व्याकरण इस ज्ञान की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति के रूप में काम करता है। अध्यापक पहले पाठों में बच्चे की इस रुचि से भरपूर लाभ उठाते हैं। उसकी बदौलत बच्चे के लिए ऐसी सारतः अमूर्त तथा निरपेक्ष वस्तुओं से संबंधित जानकारियां भी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं, जैसे संख्याओं का क्रम, अक्षरों का क्रम, आदि।

बच्चे द्वारा ज्ञान के महत्त्व के सहजानुभूतिक अंगीकरण को उसके स्कूली जीवन के आरंभ से ही प्रोत्साहित व विकसित करना आवश्यक है। किंतु अब यह काम गणित, व्याकरण तथा अन्य विषयों की अंतर्वस्तु की ही अप्रत्याशित, आकर्षक तथा रोचक मिसालें देकर किया जाता है। इससे बच्चों में शिक्षामूलक सक्रियता के आधार का काम करनेवाली वास्तविक संज्ञानात्मक अभिरुचियां जागृत व विकसित होंगी।

इस प्रकार स्कूली जीवन के पहले दौर की विशेषता यह है कि बच्चा घर तथा कक्षा में व्यवहार का नियमन करनेवाली नयी अपेक्षाओं, शिक्षक की अपेक्षाओं से निदेशित होने और स्वयं शिक्षा विषयों की अंतर्वस्तु में रुचि लेने लगता है। बच्चा इस दौर को यदि सहजतापूर्वक लांघ लेता है, तो इसका मतलब है कि उसे स्कूली शिक्षा के लिए भली भांति तैयार कर लिया गया था। किंतु ऐसा सभी सातवर्षीय बच्चों के साथ नहीं हो पाता। उनमें से बहुत से आरंभ में काफ़ी कठिनाइयां अनुभव करते हैं और स्कूली जीवन में तुरंत ही नहीं घुलमिल पाते।

पहली कक्षा के छात्रों द्वारा अनुभूत मुख्य कठिनाइयां

प्रायः **तीन प्रकार की कठिनाइयां** देखने में आती हैं।

पहले प्रकार की कठिनाइयां नयी स्कूली चर्या की विशेषताओं (समय पर उठना, किसी भी कक्षा से अनुपस्थित न होना, कक्षाओं

में शांति से बैठना, घर पर करने के लिए दिया हुआ कार्य समय पर पूरा करना, आदि) से संबंध रखती हैं। समुचित आदतों के अभाव में बच्चा बहुत ज़्यादा थक जायेगा, पढ़ाई में पिछड़ जायेगा और चर्या का पूर्णतः पालन न कर सकेगा। मनोशरीरक्रियात्मक दृष्टि से अधिकांश सातवर्षीय बच्चे अपने में ऐसी नयी आदतें सफलतापूर्वक डाल सकते हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि अध्यापक और माता-पिता उसे नयी जीवन की अपेक्षाएं साफ़-साफ़ समझा और बता दें, उनकी पूर्ति पर निरंतर निगरानी रखें और बच्चों की वैयक्तिक विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए ही प्रोत्साहन अथवा दंड की कार्रवाइयां करें।

दूसरे प्रकार की कठिनाइयां वे हैं, जिनके मूल में अध्यापक, साथियों और घरवालों के साथ संबंधों का स्वरूप निहित है। बच्चों के प्रति अपने सारे स्नेह और सहानुभूति के बावजूद अध्यापक जानकार और कठोर गुरु भी होता है, जो व्यवहार के कुछ निश्चित नियम निर्धारित करता है और उनका उल्लंघन नहीं होने देता। वह हर कदम पर बच्चों के काम को आंकता है। उसका दर्जा ऐसा होता है कि बच्चा उसके सामने किंचित् भय अथवा संकोच अनुभव किये बिना नहीं रह सकता। फलस्वरूप कुछ बच्चे अत्यधिक नियंत्रित बन जाते हैं और कुछ उच्छृंखल (घर में वे ऐसे नहीं भी हो सकते हैं)। प्रायः पहली कक्षा का बच्चा नये परिवेश में घबड़ा जाता है, दूसरे बच्चों के साथ तुरंत घुलमिल नहीं पाता और अपने को एकाकी महसूस करता है।

अनुभवी शिक्षक सभी बच्चों से समान अपेक्षाएं करता है, किंतु कौन बच्चा इन अपेक्षाओं को कैसे, किस ढंग से पूरा करता है, इसका भी ध्यान रखता है। इससे उसे बच्चों के व्यवहार की गहराई में झांकने और उनकी वास्तविक मानसिक विशेषताओं को समझने में मदद मिलती है। ऐसे विशेष अध्ययन के आधार पर ही उनपर प्रभाव डालने की कोई निश्चित रीति चुनी जा सकती है, यानी वह रीति, जिससे पहली कक्षा के सभी बच्चों में कक्षा में शांत तथा संयत रहने, पढ़ाई में न पिछड़ने और अध्यापक के सवालों का अर्थपूर्ण उत्तर देने की आदत डाली जाती है। अंततोगत्वा इस सबसे बच्चे में अध्यापक और उसके कार्यों में विश्वास उत्पन्न होता है।

कक्षा में छात्रों के परस्पर संबंध सामान्य तभी होते हैं, जब अध्यापक निष्पक्ष और सब बच्चों के प्रति समान रूप से कठोर होता है, जब वह कमज़ोर बच्चों को मेहनत के लिए प्रोत्साहित करता है और तेज़ बच्चों को उनके ज़रूरत से ज़्यादा आत्मविश्वास के लिए डांट सकता है। इससे कक्षा में सामूहिक कार्य के लिए अच्छा मानसिक वातावरण बनता है। अध्यापक को रुचियों की समानता (टिकट संग्रह का शौक, कठपुतली थियेटर का शौक), जीवन की बाह्य परिस्थितियों की समानता (एक ही इमारत में रहना, एक ही डेस्क पर बैठना), आदि पर आधारित बच्चों की मैत्री को बढ़ावा देना चाहिए। स्कूल में पहले महीनों में शिक्षा और पालन का एक मुख्य लक्ष्य बच्चे को इस बात का अहसास कराना होना चाहिए कि कक्षा और स्कूल उसके लिए पराये नहीं हैं, कि वे उसके हितकामी तथा संवेदनशील समवयस्कों, छोटे और बड़े साथियों का समुदाय हैं।

स्कूल जाना शुरू करते ही परिवार में बच्चे की स्थिति बदल जाती है। उसके नये दायित्व और अधिकार प्रकट हो पाते हैं (उदाहरण लिए, घरवालों को उसके गृहकार्य के लिए अलग स्थान व समय नियत करना होता है, उसकी दिनचर्या का ध्यान रखना पड़ता है, वगैरह)। अनुभव दिखाता है कि अधिकांश परिवारों में बच्चे के इन अधिकारों का आदर किया जाता है और उनके क्रियान्वयन में पूर्ण सहयोग दिया जाता है। बहुत बार ऐसा भी होता है कि वयस्कों की सहानुभूति महसूस करके और "स्कूली मेहनतकश" की मांगों को तुरंत पूरा करने की उनकी तत्परता को देखकर कुछ बच्चे अपनी स्थिति का "दुरुपयोग" करने और परिवार पर घरेलू जीवन का ऐसा ढर्रा थोपने लग जाते हैं, जिसका केंद्रबिंदु वे स्वयं होते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप बच्चे में एक प्रकार की अहंमन्यता की भावना पैदा हो सकती है। अतः आवश्यक है कि पहली कक्षा के बच्चे की आवश्यकताओं पर ध्यान दिये जाने के साथ-साथ उसे परिवार के अन्य सदस्यों के उतने ही महत्त्वपूर्ण हितों तथा आवश्यकताओं से भली भांति परिचित करा दिया जाये। बच्चे को उनकी अवहेलना न करना और परिवार के सामान्य जीवन में अपने स्कूली हितों अथवा कार्यों को अत्यधिक महत्त्व देने की प्रवृत्ति पर लगाम लगाना सिखाना चाहिए।

तीसरे प्रकार की कठिनाइयां बहुत से पहली कक्षा के बच्चे शिक्षा सत्र के मध्य से अनुभव करने लगते हैं। सत्र के आरंभ में तो वे सहर्ष और पढ़ाई शुरू होने से काफ़ी पहले ही स्कूल पहुंच जाया करते हैं, स्कूल का सारा काम खुशी-खुशी पूरा करते हैं और अध्यापक द्वारा दिये गये अंकों पर गर्व दिखाते हैं। यह सब इसका प्रतीक होता है कि बच्चे ज्ञानार्जन के लिए सामान्यतः तैयार हैं। किंतु पहली कक्षा में शिक्षण की प्रक्रिया ऐसी होती है कि बच्चों को तैयारशुदा ज्ञान और परिभाषाओं से ही अवगत कराया जाता है, जिन्हें उन्हें याद कर लेना और आवश्यक स्थितियों में प्रयोग में लाना होता है। आम तौर पर इसमें बच्चे की ज्ञानपिपासा का पूरा-पूरा अथवा विशेष ध्यान नहीं रखा जाता। स्वाभाविक है कि ऐसी परिस्थितियों में बच्चे के बौद्धिक उपक्रम और संज्ञानात्मक स्वतंत्रता का क्षेत्र अधिक बड़ा नहीं बन पाता है और स्वयं शिक्षा सामग्री की अंतर्वस्तु में रुचि भी काफ़ी धीरे-धीरे विकसित होती है। बच्चा स्कूली जीवन के बाह्य लक्षणों का ज्यों-ज्यों अभ्यस्त बनता जाता है, उसका शिक्षा के प्रति आरंभिक आकर्षण त्यों-त्यों घटता जाता है। फलस्वरूप बहुत बार उसमें एक प्रकार की उदासीनता और विरक्ति पैदा हो जाती है। अध्यापक कभी-कभी शिक्षा सामग्री में बाह्य विषयांतर के तत्त्वों का समावेश करके इस उदासीनता और विरक्ति पर काबू पाने का प्रयत्न करते हैं। किंतु यह तरीका थोड़े समय के लिए ही कारगर हो पाता है।

बच्चे पढ़ाई से ऊब न जायें, इसके लिए सबसे उत्कृष्ट तरीका यह है कि उन्हें पर्याप्त कठिन **शैक्षिक व संज्ञानमूलक** अभ्यास करने को दिये जायें और उनका समस्यामूलक स्थितियों से साक्षात्कार कराया जाये, जिनसे निकास पाने के लिए तदनुरूप संकल्पनाओं का ज्ञान होना जरूरी है। यह, उदाहरण के लिए, निम्न प्रकार से किया जा सकता है। गणित के पाठ्यक्रम में राशि की संकल्पना का बड़ा महत्त्व होता है। बच्चों को उसका परिचय पहली कक्षा में दिया जाता है और इसकी रीति कुछ इस प्रकार होती है: बच्चों से राशि अथवा परिमाण की दृष्टि से कुछ वस्तुओं की तुलना करने को कहा जाता है, किंतु इस शर्त पर कि जब ऐसी तुलना सीधे और प्रत्यक्ष न की जा सकती हो। क्या किया जाये? पहली कक्षा के छात्र इस तरह के सवालों

के हल की कोई सामान्य रीति ढूंढ़ने को बाध्य हो जाते हैं। कतिपय कमोबेश सफल प्रयासों के बाद अध्यापक की सहायता से उन्हें मालूम हो जाता है कि ऐसे मामलों में मापन, परिकलन और संख्या आवश्यक हैं। उनकी बदौलत विभिन्न राशियों की व्यवहित तुलना की जा सकती है। इसके बाद बच्चे मापना और गिनना सीखते हैं और संख्या की संकल्पना की अंतर्वस्तु को हृदयंगम करते हैं। अनुभव दिखाता है कि ऐसा विशेष स्पष्टीकरण (ये संकल्पनाएं कितनी **आवश्यक** हैं और उनका **मूल** क्या है) जीवन में जब-तब उठनेवाली समस्याओं को हल करने के शुद्ध गणितीय तरीकों में और इस शिक्षा विषय की पढ़ाई में रुचि गहनतर बनाने में मदद देता है।

इसी ढंग से मातृभाषा का अध्यापन भी किया जाना चाहिए, जिसका मुख्य उद्देश्य बच्चों को वाक्-संप्रेषण के निश्चित शब्दरूपात्मक तथा वाक्यरचनात्मक साधनों की अपरिहार्यता और उनके प्रयोग के नियमों से अवगत कराना है। श्रम-शिक्षा की कक्षाओं में छात्रों को अपने भावी काम की योजना बनाने के तरीकों तथा रीतियों में और अपनी वस्तुमूलक क्रियाओं के चेतनाधारित नियमन की पूर्वापेक्षाओं के अध्ययन में रुचि लेना सिखाया जाना चाहिए।

पहली कक्षा के बच्चों का जब ऐसे नियत **कार्यों की प्रणाली** से परिचय कराया जाता है, जिन्हें पूरा करने के उपायों और साधनों की स्पष्ट समझ आवश्यक है, तो बच्चे आरंभ से ही बौद्धिक खोजों में रुचि लेने और मिली हुई क्रिया-रीतियों को विशद चिंतन तथा निष्कर्षों के आधार पर पुष्ट करने की आवश्यकता अनुभव करने लग जाते हैं। इस प्रकार की उत्कट चिंतन सक्रियता की बदौलत बच्चे आवश्यक ज्ञान तथा कौशल सचेतन ढंग से सीख सकते हैं। यह कार्य बच्चों के लिए रोचक ही नहीं होता, बल्कि अध्यापक से सही निदेशन मिलने पर पूर्णतः उनके बस के भीतर भी होता है। इसलिए स्कूल में पहले महीनों में छात्रों से किन्हीं भी तथ्यों या जानकारियों को उनकी आवश्यकता और प्रयोग की परिस्थितियों की समुचित समझ के बिना रट लेने या याद कर लेने की अपेक्षा करना विशेषतः खतरनाक है। बेशक पहली कक्षा के छात्र बहुत कुछ और पक्के तौर पर याद कर सकते हैं। इससे शिक्षा का प्रत्यक्ष तथा बाह्य प्रभाव तो हासिल कर लिया जायेगा,

लेकिन एक महत्त्वपूर्ण पहलू – बच्चे में शिक्षा सामग्री के प्रति संज्ञानमूलक रुचि के विकास का आरंभ – पूर्णतः निगरानी के बिना ही रह जायेगा। ऐसी रुचि के अभाव का बच्चे की आगे की सारी शिक्षा पर भारी कुप्रभाव पड़ेगा।

इस प्रकार स्कूली जीवन में प्रथम प्रवेश के दौर में बच्चे के मानस में गंभीर परिवर्तन आते हैं। उसकी दिनचर्या बदलती है, वह नयी, महत्त्वपूर्ण आदतें सीखता है और अध्यापकों व साथियों के साथ उसके परस्पर विश्वास के संबंध कायम होते हैं। शिक्षा सामग्री की अंतर्वस्तु में रुचि पैदा हो जाने से पढ़ाई के प्रति उसका सकारात्मक दृष्टिकोण बन जाता है। इस रुचि का आगे विकास और पढ़ाई के प्रति दृष्टिकोण का अनुकूलतर बनना शिक्षा सक्रियता के विकास की प्रक्रिया पर निर्भर होता है। इसलिए शिक्षा मनोविज्ञान के लिए इस सक्रियता की संरचना और उसके अलग-अलग घटकों की विशेषताओं का प्रश्न विशिष्ट महत्त्व रखता है।

§२. प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों की शिक्षा सक्रियता

ज्ञान, कौशल, अनुभव, आदि का आत्मसात्करण माता-पिता तथा समवयस्कों से संपर्क, खेलकूद व पुस्तकें पढ़ने की प्रक्रिया में होता है। मनुष्य श्रम के दौरान भी काफ़ी कुछ सीखता है। किंतु जो आत्मसात्करण शिक्षा सक्रियता के दौरान किया जाता है, उसकी विशिष्टता क्या है? सबसे पहले तो यह याद रखा जाना चाहिए कि शिक्षा सक्रियता के अधिकतम विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियां केवल स्कूल में उपलब्ध होती हैं, जहां बच्चों को ज्ञान-विज्ञान की बुनियादी बातें पढ़ाई जाती हैं और जहां उनका विश्वदृष्टिकोण बनता है। शिक्षा सक्रियता की अंतर्वस्तु की एक खास विशेषता यह है कि उसमें अधिकांशतः **वैज्ञानिक संकल्पनाओं**, **वैज्ञानिक नियमों** और उन पर आधारित व्यावहारिक कृत्यकों की पूर्ति की **सामान्य रीतियों** का समावेश होता है। अन्य प्रकार की सक्रियताओं में आत्मसात्करण उन का

उपोत्पाद होता है। उदाहरणार्थ, खेल में बच्चा अपनी भूमिका को बेहतर से बेहतर ढंग से निबाहने के लिए ही प्रयत्नरत रहता है। इसमें व्यवहार के नियमों को सीखना मुख्य उद्देश्य का मात्र अनुवर्ती है। श्रम में मुख्य उद्देश्य वस्तुओं का उत्पादन है। इससे यदि कौशल तथा अनुभव में वृद्धि भी होती है, तो यह वृद्धि महत्त्वपूर्ण होने पर भी काम का गौण परिणाम ही होगी। केवल शिक्षा सक्रियता में ज्ञान व तदनुरूप कौशल का अर्जन व आत्मसात्करण सक्रियता का **मुख्य उद्देश्य और मुख्य परिणाम** होता है।

शिक्षा सक्रियता की एक निश्चित संरचना होती है। उसके घटक हैं: १) शैक्षिक स्थितियां (अथवा कृत्यक), २) शैक्षिक क्रियाएं, ३) नियंत्रणमूलक क्रियाएं, ४) मूल्यांकनपरक क्रियाएं।

शैक्षिक स्थितियों की विशेषताएं

शैक्षिक स्थितियों की कतिपय विशेषताएं होती हैं। **पहली तो यह है कि इनमें स्कूली बच्चे विभिन्न संकल्पनाओं के सामान्य लक्षणों को पहचानने अथवा किसी खास वर्ग के ठोस, व्यावहारिक कृत्यकों की पूर्ति की सामान्य रीतियां सीखते हैं** (संकल्पना के लक्षणों को पहचानना ठोस कृत्यकों की पूर्ति के एक विशेष भेद के रूप में काम करता है, इसलिए आगे उल्लेख केवल कृत्यकों की पूर्ति का ही किया जायेगा)। **दूसरे, इन रीतियों के प्रतिमानों की पुनरावृत्ति शैक्षिक कार्य के मुख्य लक्ष्य के रूप में सामने आता है।** ठोस, व्यावहारिक कृत्यकों की अंतर्वस्तु सीधे जीवन से ली हुई होती है, अतः उनकी पूर्ति, समाधान के परिणाम जीवन के दृष्टिकोण से उतने ही महत्त्वपूर्ण होते हैं। ऐसे कृत्यकों की श्रेणी में इमला लिखना (इसके लिए वर्तनी का ध्यान रखना आवश्यक होता है), अंकगणित के विवरणात्मक प्रश्नों के उत्तर खोजना (इसके लिए दत्त स्थिति के अनुरूप परिकलन करना आवश्यक है), आदि शामिल किये जा सकते हैं। इस प्रकार के बहुविधि कृत्यकों को कैसे पूरा किया जाता है, यह व्याकरण, गणित, आदि विभिन्न क्षेत्रों के प्रत्येक पृथक् कृत्यक पर काम करने के दीर्घ अनुभव से सीखा जा सकता है। इससे ऐसे कृत्यकों की शर्तों में अभिविन्यास की युक्तियों से संबंधित

जानकारी शनैःशनैः बढ़ती जायेगी। किंतु शैक्षिक स्थितियों के भीतर ठोस, व्यावहारिक कृत्यकों को पूरा करने की योग्यता दूसरे ही ढंग से विकसित होती है। सबसे पहले, अध्यापक प्राथमिक कक्षाओं के छात्र के सामने ऐसी स्थितियां उत्पन्न करता है, जिनमें कि दत्त वर्ग के सभी ठोस, व्यावहारिक कृत्यकों की पूर्ति की सामान्य रीति ढूंढ़ना आवश्यक होता है। इसके बाद अध्यापक के निदेशन में छात्र यह रीति ढूंढ़ते और विकसित करते हैं। उसकी अलग-अलग संक्रियाओं की पुनरावृत्ति और जिन परिस्थितियों में उसे प्रयोग किया जा सकता है, उन परिस्थितियों की प्रणाली को हृदयंगम करना अलग चरण है। परिणामस्वरूप उसी प्रकार के ठोस, व्यावहारिक कृत्यकों से साक्षात्कार होने पर बच्चे उनकी पूर्ति की आत्मसात्कृत सामान्य रीति का प्रयोग और पहले शैक्षिक स्थिति में अर्जित योग्यता का प्रदर्शन करने लग जाते हैं।

वस्तुतः इमला लिखना सीधे ही नहीं आ जाता। **उससे पहले** बच्चे शब्दों की संरचना और उनमें अक्षरों के संयोजन के नियमों का अध्ययन करते हैं और वर्तनी की सामान्य अपेक्षाओं को सूत्रबद्ध करना सीखते हैं। अंकगणित के विवरणात्मक सवालों को हल करना सीखने से पहले राशियों के आम गुणों तथा सहसंबंधों, सवाल में उन्हें पहचानने की युक्तियों और अंकगणितीय संक्रियाओं की सहायता से उन्हें दर्शित करने के तरीकों को सीखा जाता है।

इन सभी मामलों में बच्चे शैक्षिक स्थितियों की प्रणाली में काम करते हैं, जिनके भीतर वे एक ओर तो दत्त सामग्री के आत्मसात्करण का अभिप्रेरक (उदाहरणार्थ, शब्दों की संरचना को जानना ज़रूरी **क्यों** है) और, दूसरी ओर, दत्त वर्ग के ठोस कृत्यकों की पूर्ति की सामान्य रीतियों की मिसाल पाते हैं। इन विशेषतः निर्दिष्ट सामान्य रीतियों के प्रतिमानों की पुनरावृत्ति शैक्षिक कार्य की विशेषता है। ऐसा ज्ञानार्जन की अन्य विधियों में नहीं होता। यह कार्य ठोस, व्यावहारिक कृत्यकों की पूर्ति और संकल्पनाओं के व्यावहारिक प्रयोग से **पहले** किया जाता है। यदि बच्चे इन रीतियों को कृत्यकों की पूर्ति की प्रक्रिया में ही सीखते हैं, तो ऐसा आत्मसात्करण शिक्षा सक्रियता का रूप नहीं लेता और अन्य नियमों के अनुसार घटित होता है।

शैक्षिक स्थितियों की अंतर्वस्तु और रूप शिक्षा मनोविज्ञान, शैक्षिकी

और विशिष्ट विधियों के संयुक्त साधनों से निर्धारित होते हैं। अनुसंधानों से पता चलता है कि अनेक बार किसी निश्चित वर्ग के ठोस, व्यावहारिक कृत्यकों की पूर्ति की सामान्य रीति को ढूंढ़ना और प्रतिमान के तौर पर पेश करना काफ़ी कठिन होता है। अध्यापन कार्य में कभी-कभी बच्चों को शैक्षिक स्थितियों में अंतर्विष्ट नहीं किया जाता। किसी ठोस कृत्यक की पूर्ति को किस सामान्य रीति से करनी है, यह वे स्वतःस्फूर्त ढंग से खोजते हैं और इससे पूर्ति में काफ़ी वक्त लगता है। ऐसे में गलतियां बहुत होती हैं, जो धीरे-धीरे ही दूर हो पाती हैं, और आत्मसात्करण के परिणाम भी आम तौर पर पर्याप्त सामान्यीकृत तथा सुविचारित नहीं होते और उसी वर्ग के अन्य कृत्यकों पर कठिनाई से लागू किये जाते हैं। इसके अलावा इन परिणामों के व्यक्तिगत रूपभेद भी बहुत होते हैं। गलतियां तब नहीं होतीं, जब योग्यता अथवा कौशल का विकास शैक्षिक स्थिति के दौरान होता है, क्योंकि छात्र और अध्यापक किसी निश्चित वर्ग के कृत्यकों की पूर्ति की सामान्य रीति को पहले ही निर्दिष्ट और आत्मसात्करण के लिए प्रतिमान के रूप में विशेषतः सूत्रबद्ध कर लेते हैं। इसलिए मनोविज्ञान की एक मुख्य अपेक्षा यह है कि प्राथमिक शिक्षा का संगठन ऐसे किया जाये कि पाठ्यक्रम के अधिकांश भागों तथा विषयों का अध्यापन शैक्षिक स्थितियों के आधार पर हो, जो बच्चों को तुरंत किसी निश्चित संकल्पना के लक्षणों को पहचानने अथवा किसी निश्चित वर्ग के कृत्यकों को पूरा करने की सामान्य रीतियों के आत्मसात्करण की ओर उन्मुख बना देती हैं।

शैक्षिक क्रियाओं की विशेषताएं

शैक्षिक स्थितियों में बच्चे के कार्य में विभिन्न प्रकार की क्रियाएं शामिल होती हैं। उनमें **शैक्षिक क्रियाओं** का विशेष स्थान है। इनके माध्यम से स्कूली बच्चे कृत्यकों की पूर्ति की सामान्य रीतियों के प्रतिमानों और जिन परिस्थितियों में उनका प्रयोग किया जा सकता है, उनका पता लगाने की सामान्य युक्तियों की पुनरावृत्ति व आत्मसात्करण करते हैं। ये क्रियाएं वस्तुतः भी और मानसिक धरातल पर भी की जाती हैं। इनकी संरचना एकरूप नहीं होती। कुछ शैक्षिक क्रियाओं का

किसी भी शिक्षा सामग्री के आत्मसात्कण के लिए उपयोग होता है, तो कुछ का दत्त शिक्षा विषय के भीतर कार्य के लिए और कुछ का केवल कतिपय विशिष्ट प्रतिमानों की पुनरावृत्ति के लिए। इस तरह जो क्रियाएं छात्रों को दत्त प्रतिमान रूपांकित करने की संभावना देती हैं, वे किसी भी विषय से संबंधित किसी भी सामग्री के अध्ययन में प्रयोग की जा सकती हैं। अध्ययनगत वस्तु को देखते हुए ऐसा रूपांकन चित्रमय (खाका, फ़ार्मूला), मूर्तिमय (त्रिविमीय मॉडल), शब्दमय, आदि किसी भी प्रकार का हो सकता है। सामग्री का अर्थपरक वर्गीकरण, उसके मुख्य मुद्दों की अर्थानुसार पहचान और उसके तार्किक खाके व योजना का निर्माण – ये वे शैक्षिक क्रियाएं हैं, जो विवरणात्मक सामग्रियों के आत्मसात्करण के लिए सर्वाधिक आवश्यक हैं।

किसी भी शिक्षा विषय की किसी भी आधारभूत संकल्पना के आत्मसात्करण के लिए तदनुरूप कुछ खास शैक्षिक क्रियाएं आवश्यक होती हैं।

अनुसंधानों से सिद्ध हो चुका है कि प्राथमिक कक्षाओं के छात्र निम्न शैक्षिक क्रियाओं के बिना शब्दों की संरचना और रूपिमों के अर्थ से संबंधित व्याकरणिक संकल्पनाओं को पूर्णतः हृदयंगम नहीं कर सकते: १) मूल शब्द का **रूप परिवर्तन करके** उससे विभिन्न अथवा सजातीय शब्द बनाना; २) मूल शब्द के और नये शब्दों के अर्थ की **तुलना करना**; ३) मूल शब्द के रूपों की **तुलना करना** और रूपिमों को पहचानना; ४) किसी निश्चित शब्द में रूपिमों के प्रयोजन का **पता लगाना**; आदि-आदि। व्याकरण के अध्ययन में आरंभ में परिवर्तन तथा तुलना की क्रियाएं विशेषतः महत्त्वपूर्ण होती हैं, क्योंकि वे बच्चों को अर्थ और शब्द-रूप का परस्पर संबंध जानने में मदद देती हैं। इन क्रियाओं में पटुता पाये बिना बच्चे उपरोक्त संबंध और उसकी विशेषताओं को न सचेत ढंग से पहचान सकते हैं, न उनका विशद विश्लेषण ही कर सकते हैं। बहुत से स्कूली छात्र किन्हीं कारणों से उपरोक्त क्रियाएं नहीं सीख पाते हैं। फलस्वरूप शब्दों की रूपप्रक्रिया से उनका परिचय व्याकरणपूर्व, सामान्य स्तर पर ही बना रहता है। यह एक कारण है, जिससे मातृभाषा की पढ़ाई में कठिनताएं उत्पन्न होती हैं।

राशि की संकल्पना का आत्मसात्करण करते हुए बच्चे को कई

शैक्षिक क्रियाएं करनी पड़ती हैं, जिनमें निम्न क्रियाएं भी हैं: १) वस्तु-मूलक क्रिया (किसी राशि का मापस्वरूप ली गयी दूसरी राशि के साथ गुणन संबंध का पता लगाना); २) शब्दमूलक क्रिया (मापों की संख्या को गिनना); ३) बौद्धिक क्रिया (प्राप्त परिणाम को सारी परिकलित वस्तु से संबद्ध करना)।

अध्यापन करते समय अध्यापक के मस्तिष्क में उन सामान्य और विशिष्ट शैक्षिक क्रियाओं की पूर्ण समष्टि का स्पष्ट चित्र होना चाहिए, जिन्हें संपन्न करके बच्चा किन्ही संकल्पनाओं को, रीतियों को अथवा शिक्षा सामग्री के किन्हीं अंशों को आत्मसात् करता है। प्राथमिक कक्षाओं के छात्रों को **सभी** आवश्यक **शैक्षिक क्रियाएं** अवश्य सिखायी जानी चाहिए। उनके बिना सामग्री का आत्मसात्करण शिक्षा सक्रियता के दायरे के बाहर होगा, यानी वह कृत्यक पूर्ति की युक्तियों अथवा संकल्पनाओं के शाब्दिक विवरण को रट लेने पर आधारित औपचारिक आत्मसात्करण मात्र होगा।

बहुत बार ऐसा देखा जा सकता है कि प्राथमिक कक्षाओं के बच्चे ऐंद्रिक छाप और सीधे, शाब्दिक स्मरण के आधार शिक्षा सामग्री को आत्मसात् करने की कोशिश करते हैं। आरंभ में यह आवश्यक शैक्षिक क्रियाओं (उदाहरणार्थ, सामग्री का अर्थानुसार वर्गीकरण, मुख्य मुद्दों को पहचानना) की सर्वतोमुखी पूर्ति के मुकाबले आसान भी होता है, किंतु अध्यापक का कर्त्तव्य है कि इस स्वतःस्फूर्त प्रवृत्ति को रोके और विशिष्ट शैक्षिक स्थितियों के भीतर ही सुसंगत रूप से बच्चों को ऐसी क्रियाओं का अभ्यस्त बनाये, जो सामग्री के वास्तविक आत्म-सात्करण में सहायक होती हैं। आरंभ में यह सीखने की रफ़्तार धीमी तो कर देता है। किंतु समुचित शैक्षिक क्रियाओं के आधार पर ही स्कूली छात्र आगे चलकर विभिन्न विषयों की विशद सामग्रियों को सही-सही और पूर्ण रूप से पुनर्प्रस्तुत कर सकते हैं। अध्ययनों से पता चलता है कि कतिपय संकल्पनाओं और रीतियों के आत्मसात्करण में जो गंभीर कठिनाइयां सामने आती हैं, उनमें से कई प्रायः इस कारण पैदा होती हैं कि बच्चे जब इन संकल्पनाओं और रीतियों को सीख रहे थे, उस समय उन्हें सभी आवश्यक शैक्षिक क्रियाओं से अवगत नहीं किया गया था।

नियंत्रणमूलक क्रिया की विशेषताएं

शैक्षिक स्थितियों में समीचीन कार्य के लिए एक और प्रकार की क्रिया – **नियंत्रणमूलक** क्रिया – भी आवश्यक है। बच्चे को अपनी शैक्षिक क्रियाओं तथा उनके परिणामों को दिये हुए प्रतिमानों से सहसंबंधित करना और इन परिणामों की गुणवत्ता को संपादित शैक्षिक क्रियाओं के स्तर तथा पूर्णता के साथ जोड़ना आना चाहिए। नियंत्रणमूलक क्रिया की बदौलत छात्र मालूम कर सकता है कि प्रतिमान की कमज़ोर अथवा बिल्कुल खराब पुनरावृत्ति और उसकी स्वयं की शैक्षिक क्रियाओं की कमियों के बीच अन्योन्याश्रयी संबंध है। इन कमियों को दूर करके (नयी क्रियाओं अथवा उनकी संक्रियाओं का समावेश करके, उन्हें अधिक परिष्कृत ढंग से संपन्न करके, आदि) आत्मसात्करण के परिणामों को सुधारा और उन्हें **आवश्यक** मानकों **के** स्तर तक पहुंचाया जा सकता है। आरंभ में नियंत्रण में मुख्य भूमिका अध्यापक की होती है। शनैःशनैः बच्चे स्वयं ही अपनी क्रियाओं के परिणामों को उन क्रियाओं के प्रतिमानों से सहसंबंधित करने, उनके बीच मौजूद अंतरों के कारणों का पता लगाने और शैक्षिक क्रियाओं में परिष्कार करके इन अंतरों को मिटाने लग जाते हैं। इस तरह उनमें आत्मसात्करण की प्रक्रिया पर स्वयं नियंत्रण रखने की आदत पैदा होती है।

नियंत्रण के रूप अनेकानेक हो सकते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण दो रूप हैं: १) निष्पादित क्रियाओं के उपलब्ध परिणामों के विश्लेषण के आधार पर नियंत्रण और २) केवल बौद्धिक धरातल पर की गयी क्रियाओं के अनुमानित परिणामों के आधार पर नियंत्रण। नियंत्रण की आवश्यकता और उसके संपादन की युक्तियां आरंभ में अध्यापक दिखाता है। उदाहरण के लिए, पहली कक्षा के बच्चे ने कोई अक्षर लिखा है। अध्यापक उसे अलग-अलग हिस्सों में बांटता है और बच्चे को उनमें से कुछ का प्रतिमान से अंतर दिखाता है ("यह हिस्सा उतना गोल नहीं है, जितना कि होना चाहिए", आदि), अंतर को शैक्षिक क्रिया की कमी से जोड़ता है ("यहां तुम रेखा से नहीं हटे, यहां ठीक जगह पर नहीं मुड़े", आदि)। इसी प्रकार का कार्य अन्य पाठों में भी किया जाता है। सभी मामलों में अध्यापक का प्रयास होता है कि

बच्चे परिणामों को अलग-अलग हिस्सों में बांटने की विधि और उनकी उनके प्रतिमानों से भी और क्रियाओं के वास्तविक संपादन की विशेषताओं से भी तुलना करने की आदत सीखें। यह बात विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है कि अध्यापक ऐसी परिस्थितियां बनाये, जिनमें नियंत्रण का रूप ही बदल जाये : बच्चों में मात्र बौद्धिक धरातल पर की जानेवाली क्रियाओं के संभावित परिणामों का स्पष्ट अनुमान लगाने की योग्यता पैदा की जानी चाहिए (उदाहरण के लिए, "मस्तिष्क में" विश्लेषण करते समय किसी निश्चित शब्द की रूपिम संरचना का अनुमान)। इसके लिए विशेष प्रशिक्षण देना उचित होगा, जिसके दौरान वस्तुओं तथा खाकों के साथ किसी क्रिया के बाह्य संपादन अथवा ज़ोर-ज़ोर से बोलकर क्रिया के निष्पादन की जगह धीरे-धीरे बोलते (बुदबुदाते) हुए निष्पादन और फिर मन ही मन (पहले पूरे, विशद रूप में और तदनंतर उत्तरोत्तर संक्षिप्त रूप में) दोहराते हुए निष्पादन ले लेता है। बच्चों में यदि क्रियाओं को बौद्धिक स्तर पर संपन्न करने की योग्यता विद्यमान है, तो मात्र अनुमानित शैक्षिक क्रियाओं के आधार पर नियंत्रण करना कठिन नहीं रह जाता। इस हालत में छात्र देखता है कि संभावित परिणाम कैसे उसकी अपनी क्रियाओं से जुड़े हुए हैं और तब वह सही संबंधों को चुन लेता है। इससे नियत कार्यों के वास्तविक निष्पादन में गलतियों की गुंजायश न्यूनतम हो जाती है (छात्र इस उसूल के मुताबिक काम करने लगता है : "एक बार काटने से पहले सात बार नाप लो")।

मूल्यांकनपरक क्रियाओं की विशेषताएं

नियंत्रण शिक्षा सक्रियता के एक अन्य घटक – **मूल्यांकन** – से भी घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। मूल्यांकन आत्मसात्करण के परिणामों की शैक्षिक स्थितियों की अपेक्षाओं से संगति अथवा असंगति को दर्ज करता है। आरंभ में मूल्यांकन मुख्यतः अध्यापक करता है, क्योंकि नियंत्रण का संगठन भी वही करता है। फिर ज्यों-ज्यों बच्चे में स्वयं-नियंत्रण की आदत पैदा होती है, मूल्यांकन का कार्य भी वह खुद करने लगता है। छात्र में खुद ही यह मालूम करने की योग्यता आ जाती है

कि वह किन्हीं कृत्यकों को पूरा करने की सामान्य रीति जानता है या नहीं। मूल्यांकन के स्वरूप पर शिक्षा कार्य का संगठन निर्भर होता है। यदि मूल्यांकन अनुकूल, सकारात्मक है, तो इसका मतलब है कि दत्त शैक्षिक स्थिति की उपयोगिता समाप्त हो गयी है और दूसरी सामग्री पर आया जा सकता है। अथवा यही बात विपरीत क्रम में। परवर्ती हालत में अध्यापक को पहले की शैक्षिक स्थिति के अधिक आंशिक तथा विशिष्ट रूपभेद कल्पित करने होंगे, जो क्रियाओं और रीतियों के अलग-अलग पहलुओं में दक्षता की ही अपेक्षा करते हैं।

स्कूलों में मूल्यांकन को प्रायः छात्र को मिलनेवाले अंकों का पर्याय मान लिया जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह उचित नहीं है। मूल्यांकन आत्मसात् किये जाने या न किये जाने को ही दर्ज नहीं करता, बल्कि परवर्ती के कारणों को भी दर्शाता है, छात्र को अपनी कमियां दूर करने और तब तक काम करते रहने के लिए प्रेरित करता है, जब तक कि काम में कोई दोष न रह जायें। मूल्यांकन दो ही प्रकार का होता है – सकारात्मक और नकारात्मक। इसके अनुसार ही किसी शैक्षिक स्थिति की अनावश्यकता अथवा पूर्ववत् आवश्यकता निर्धारित की जाती है। इसके विपरीत अंकों की कई श्रेणियां होती हैं और सामान्यतः उनका **संश्लेषात्मक** स्वरूप होता है। अंक किसी शैक्षिक स्थिति के बीच में किये जा रहे कार्य के लिए भी दिये जाते हैं और उसके दौरान किये गये सारे कार्य के लिए भी। अंकों में बच्चे की मेहनत, पाठ के दौरान उसकी अनुशासनबद्धता, आदि प्रतिबिंबित होती हैं (यहां तक कि संयोगवश सही उत्तर देने का तथ्य भी)। अंक के ऐसे स्वरूप के कारण पाठ में छात्र के **समेकित** कार्य के परिणामों को दर्ज करना संभव हो जाता है। शिक्षा सक्रियता के भीतर मूल्यांकन का अधिक संकीर्ण अभिप्राय होता है। वह सारगर्भित और गुणात्मक अभिलेखन करता है (अमुक-अमुक चीज तो है, पर अमुक-अमुक चीज़ अभी नहीं है), किंतु श्रेणीपरक अभिलेखन नहीं, जो परिमाणात्मक तुलना के लिए ही उपयोगी है। अंक और मूल्यांकन के वास्तविक व जटिल संबंधों का अध्ययन अभी जारी है। किंतु प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों की शिक्षा सक्रियता का मनोविज्ञान आज भी दिखाता है कि शिक्षा कार्य की युक्तियां सीखे जाने में भी और मेहनत की आदत डाले जाने में भी

अंकों की भूमिका को अति महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। कहीं अधिक उचित यह होगा कि बच्चों की शैक्षिक क्रियाओं की अवस्था के सारगर्भित अभिलेखन के साधन के रूप में मूल्यांकन की मनोवैज्ञानिक संभावनाओं को इस्तेमाल किया जाये। इस प्रकार के अभिलेखन के आधार पर प्राथमिक कक्षाओं के छात्रों में शिक्षा सक्रियता के आधारभूत घटकों का अधिक सोद्देश्य विकास किया जा सकता है।

§३. शिक्षा सक्रियता का विकास

शिक्षा सक्रियता की प्रक्रिया अनेक सामान्य नियमों से नियंत्रित होती है। सबसे पहले आवश्यक है कि अध्यापक छात्रों को शैक्षिक स्थितियों में नियमित रूप से अंतर्भावित करे और उनके साथ मिलकर आवश्यक शैक्षिक क्रियाएं और नियंत्रण तथा मूल्यांकन की क्रियाएं भी ढूंढे और प्रदर्शित करे। अपनी ओर से बच्चों को शैक्षिक स्थितियों का प्रयोजन समझना और सभी क्रियाओं को सुसंगत रूप से दोहराना चाहिए। दूसरे शब्दों में, एक नियम यह है कि प्राथमिक कक्षाओं में अध्यापन की सारी प्रक्रिया बच्चों के शिक्षा सक्रियता के मुख्य घटक समझाने के आधार पर गठित की जाती है और बच्चों को उनके सक्रिय क्रियान्वयन में प्रवृत्त किया जाता है।

कभी-कभी अध्यापक को प्रतीत हो सकता है कि बच्चों का शिक्षा सामग्री से ऐसा विशद और लंबा **साक्षात्कार** निरर्थक है। किंतु बात ऐसी है नहीं। शैक्षिक स्थिति की पूर्वापेक्षाओं (ठोस, व्यावहारिक कृत्यकों की पूर्ति की कठिनाइयां, उनके विश्लेषण की सामान्य रीति की खोज की आवश्यकता) और उसकी भूमिका का विस्तृत उद्घाटन ही बच्चों की संज्ञानमूलक क्रियाशीलता और पढ़ाई में उनकी रुचि के विकास की एक सबसे महत्त्वपूर्ण शर्त है।

बच्चों को शैक्षिक क्रियाओं का काम विस्तार से और शनैःशनैः समझाया जाना चाहिए, उनमें से उन क्रियाओं को विशेषतः इंगित किया जाना चाहिए, जिन्हें वस्तु, बोलने अथवा मस्तिष्क के धरातल पर संपन्न किया जाना है। साथ ही ऐसी परिस्थितियां बनाना भी

ज़रूरी है, जिनमें कि वस्तुमूलक क्रियाएं बौद्धिक रूप ग्रहण कर सकें और वे पर्याप्त सामान्यीकृत, संक्षिप्त तथा आत्मसात्कृत भी हों। यदि कोई कार्य करते हुए बच्चे फिर भी गलतियां करते हैं, तो यह या तो उन्हें बतायी गयी शैक्षिक क्रियाओं, नियंत्रण और मूल्यांकन के अधूरेपन को द्योतित करता है या फिर इन क्रियाओं को यथोचित ढंग से न किये जाने को।

पहली-दूसरी कक्षाओं में बच्चे शैक्षिक स्थितियों में अध्यापक के सीधे बाह्य निर्देशों के आधार पर काम करते हैं। किंतु दूसरी कक्षा के अंत से और तीसरी कक्षा में शनैःशनैः हम पाते हैं कि बच्चे शिक्षा सक्रियता के कुछ घटकों को **आत्मनियंत्रण** के ज़रिये पूरा करते हैं। सबसे पहले वे मूल्यांकन की क्रिया की अंतर्वस्तु तथा प्रयोजन को हृदयंगम करते हैं और उस क्षण को पहचानने लगते हैं, जब कृत्यक की पूर्ति की सामान्य रीति का आत्मसात्करण पूरा होता है। अपने अंतर्बोध से, किंतु पर्याप्त सुतथ्यता के साथ वे जान जाते हैं कि उनमें किन्हीं ठोस, व्यावहारिक कृत्यकों को पूरा करने की कितनी योग्यता है। "यह मैं कर सकता हूं – हम इसे सीख चुके हैं", "नहीं कर सकता – मुझे अभी मालूम नहीं कि ऐसा सवाल कैसे किया जाता है" – अपने ज्ञान, अपनी योग्यता का ठीक मूल्यांकन करने में समर्थ छात्रों के उत्तरों के ये ठेठ नमूने हैं। सामान्यतः ऐसे छात्रों को स्वयं ही मालूम रहता है कि किस काम के लिए उन्हें कैसे अंक मिलेंगे और क्यों मिलेंगे।

सही मूल्यांकन नियंत्रण के स्तर से घनिष्ठ रूप से जुड़ा होता है। पहली-दूसरी कक्षाओं के बच्चों में प्रायः अध्यापक या माता-पिता की राय अथवा पुस्तक के अंत में दिये हुए उत्तरों के सहारे अपने परिणामों की तुरंत पुष्टि करने की प्रवृत्ति लायी जाती है। यदि परिणाम त्रुटिपूर्ण होता है, तो वे दुविधा में पड़ जाते हैं और वयस्कों के नये निर्देश पाने का इंतज़ार करते हैं। किंतु तीसरी कक्षा के बहुत से बच्चे ऐसा नहीं करते। वे प्रत्यक्ष सहायता पाने के लिए आतुर नहीं रहते, बल्कि मन ही मन अथवा कार्यरूप में सभी आवश्यक क्रियाओं को **दोहराते हैं** और इनके परिणामों से अनुमान लगा लेते हैं कि उनसे कहां और क्यों गलती हुई थी: "यहां मैं यह क्रिया करना भूल गया था और इसी के कारण गलती हुई"। पूर्वनिष्पादित कृत्यकों के परिणामों की निष्पादना-

धीन क्रियाओं की विशेषताओं से स्वयं ही तुलना करने की बच्चे की योग्यता दिखाती है कि उसकी शिक्षा सक्रियता में स्वनियंत्रण के आरंभिक रूप उत्पन्न हो चुके हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सभी शैक्षिक क्रियाओं की संरचना एकरूप नहीं होती। उनमें उन क्रियाओं का बड़ा महत्त्व है, जो अध्ययनगत वस्तुओं के मुख्य लक्षणों को पहचानने व अंकित करने की संभावना देती हैं (मॉडलिंग की क्रियाएं)। बच्चों को किसी सामग्री से परिचित कराना शुरू करते ही अध्यापक इन क्रियाओं को विकसित करने पर विशेष ध्यान देने लग जाता है। वे पहली-तीसरी कक्षाओं में विशेष तेज़ी से विकसित होती हैं, जब बच्चों को बार-बार कहानी संक्षेप में दोहराने, निबंध की रूपरेखा तैयार करने, प्रश्न अथवा कृत्यक की शर्तों का सार लिखने, आदि के लिए कहा जाता है। ऐसे में यह कहीं अधिक उचित होता है कि पाठ के अलग-अलग हिस्सों के अथवा राशियों के सहसंबंधों को द्योतित करने के लिए आरेखों और अक्षरात्मक फ़ार्मूलों का व्यापक प्रयोग किया जाये। यदि तब बच्चे पढ़ी हुई सामग्री का वर्णन करने के लिए सर्वाधिक अभिव्यंजक साधन स्वयं ही खोजने और पाने लगते हैं, तो यह इसका प्रमाण है कि उनकी अपनी शिक्षा सक्रियता के विकास का स्तर काफ़ी ऊंचा हो चुका है।

बच्चा शैक्षिक स्थितियों में काम करना पहली कक्षा में शुरू कर देता है, किंतु स्वयं ही अपने सामने ठोस, व्यावहारिक कृत्यकों की पूर्ति के पूर्वगामी शैक्षिक लक्ष्य रखने की योग्यता उसमें कहीं बाद में पैदा होती है। प्राथमिक शिक्षा की प्रचलित विधियां ऐसी हैं कि यह योग्यता बड़ी कठिनाई से विकसित हो पाती है और वह भी प्राथमिक कक्षाओं के हर किसी बच्चे में नहीं। वह निम्न ढंग से प्रकट होती है। बच्चे को कुछ ठोस, व्यावहारिक कृत्यक दिये जाते हैं। वह पहले तो उनकी पूर्ति की सामान्य रीति खोजने का प्रयास करता है और परीक्षण प्रणाली द्वारा हर कृत्यक को अलग से पूरा करने की कोशिश नहीं करता। दूसरे, वह इस रीति को एक-दो कृत्यकों के विश्लेषण से ही पा लेता है, जो अब उसके लिए उनकी शर्तों के सामान्य संबंधों के सैद्धांतिक विवेचन का विषय बन जाते हैं। ठोस, व्यावहारिक कृत्यकों को सामान्यीकृत प्रतिमानों में बदलने की योग्यता में स्कूली छात्र

की शिक्षा सक्रियता के विकास का सर्वोच्च स्तर व्यक्त होता है।

इससे यह भी प्रकट होता है कि बच्चे में ज्ञानार्जन की सच्ची चाह है। वास्तव में, बच्चा जब कोई ठोस और विशिष्ट परिणाम पाने के लिए ही लालायित नहीं होता, बल्कि दत्त वर्ग के सभी परिणाम पाने की सामान्य रीति खोजना चाहता है, तो यह इसी का प्रमाण है कि वह अध्ययनगत वस्तु के सारभूत संबंधों व संपर्कों को समझने का इच्छुक है। **पढ़ने** की इच्छा और योग्यता के मूल में यही प्रवृत्ति निहित होती है। यदि यह प्रवृत्ति आरंभिक स्कूली आयु में ही उचित जड़ें नहीं जमा पाती, तो आगे चलकर मेहनत और लगन, कुछ भी हर्षदायी और प्रभावी शिक्षा का मानसिक स्रोत नहीं बन सकता। ऐसा स्रोत स्वयं शिक्षा विषयों (भाषा, गणित, रसायनशस्त्र, इतिहास, आदि) की गूढ़ अंतर्वस्तु को समझने की आकांक्षा ही बन सकती हैं। इस आकांक्षा का जन्म और सुदृढ़ीकरण काफ़ी हद तक तीसरी-चौथी कक्षाओं के छात्रों की रुचियों के सामान्य दायरे में प्रतिबिंबित होता है। इन कक्षाओं के बच्चे अपना काफ़ी सारा समय खेलों में ही व्यतीत नहीं करते (हालांकि उनका आपेक्षिक गुरुत्व फिर भी अधिक होता है), बल्कि विश्वभ्रमण, वैज्ञानिकों तथा कलाकारों से संबंधित विशेष साहित्य पढ़ने, छोटे-मोटे यंत्र बनाने, वनस्पति संग्रह करने, आदि में भी लगाते हैं। इन सबसे प्राप्त ज्ञान प्रायः उनके स्कूली पाठ्यक्रम का अंग नही होता है।

इस प्रकार सारी आरंभिक स्कूली आयु के दौरान शिक्षा के प्रति बच्चों के संबंध में एक निश्चित परिवर्तन-संरूप दिखायी देता है। आरंभ में वे उसके प्रति इसलिए आकृष्ट होते हैं कि वह सामान्यतः एक सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सक्रियता है। इसके बाद शिक्षा के कुछ खास ढंग, तरीके उन्हें आकृष्ट करते हैं। अंत में वे स्वयं ही ठोस, व्यावहारिक कृत्यकों को सामान्यीकृत कृत्यकों में रूपांतरित करने और शिक्षा सक्रियता की गूढ़ अंतर्वस्तु में रुचि लेने लग जाते हैं। शिक्षा सक्रियता के विकास के नियमों का अध्ययन आधुनिक बाल तथा शिक्षा मनोविज्ञान की एक सर्वोपरि और साथ ही काफ़ी कठिन समस्या है।

§४. प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों की श्रम सक्रियता की मनोवैज्ञानिक विशेषताएं

पढ़ाई बच्चों की अन्य सक्रियताओं को वर्जित नहीं ठहराती है। इन अन्य सक्रियताओं में इस आयु-वर्ग के लिए विशिष्ट दो श्रम-रूपों – अपना काम स्वयं करना (स्वयंसेवा) और छोटी-मोटी चीज़ें बनाना – का खास तौर पर बड़ा स्थान है। देहाती स्कूलों में बच्चे यदा-कदा उत्पादक श्रम में भी भाग लेते हैं।

स्वयंसेवा की आदत बच्चों में स्कूलपूर्व आयु से ही पड़ने लग जाती है। प्राथमिक कक्षाओं में इस आदत का सुदृढ़ीकरण और विकास बच्चों को वयस्कों के श्रम का आदर करना, लोगों के जीवन में श्रम की भूमिका समझना और दीर्घ शारीरिक श्रम के लिए तैयार रहना सिखाने के लिए अच्छा मानसिक आधार है। घर में और स्कूल में ऐसी परिस्थितियां बनायी जानी चाहिए, जिनमें कि बच्चा अपने काम स्वयं करने की एवं एतद्संबंधी अपने दायित्वों की आवश्यकता को तीव्रता-पूर्वक अनुभव कर सके। उदाहरणार्थ, बच्चे से साफ़-सुथरा रहने की अपेक्षा करने के साथ-साथ ऐसी परिस्थितियां बनायी जायें कि वह अपने कपड़ों तथा अन्य चीज़ों को स्वयं ही (निस्संदेह, यथाशक्ति) सुव्यवस्थित ढंग से रखने को बाध्य हो जाये। स्कूल में बच्चों को नियमित रूप से ऐसे काम सौंपे जाने चाहिए, जिनका सारे समुदाय के लिए एक खास महत्त्व होता है (कक्षाभवन में झाड़ू लगाना, डेस्क पोंछना, गमलों में पानी डालना, आदि) और जिन्हें पूरा करना ज़रूरी भी है, चाहे इसके लिए कभी इच्छा हो या न हो और कितनी भी थकावट क्यों न लगी हो। स्वयंसेवा के मामले में कड़ाई और उसका सुचारु संगठन प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों में सामूहिक श्रम में भाग लेने और याद दिलाये बिना भी उसमें यथाशक्ति योग देने की आदत डालने के लिए ज़रूरी हैं। प्राथमिक कक्षाओं में यदि बच्चों में ऐसी आदत नहीं डाली जाती, तो आगे चलकर उनमें श्रम के प्रति प्रेम पैदा करना काफ़ी कठिन और कभी-कभी तो असंभव भी बन जाता है।

शिक्षा और पालन की दृष्टि से स्कूली स्वयंसेवा के वे रूप भी बड़े महत्त्वपूर्ण हैं, जिनका निष्पादन करते हुए बच्चे संयुक्त सामूहिक कार्य में सम्मिलित होते हैं। वे एक दूसरे को सहारा और सहायता देना सीखते हैं, साझे कार्यों को गंभीरता से लेने लगते हैं और काम को समय पर तथा ईमानदारी से पूरा करने की अपनी ज़िम्मेदारी को समझने लगते हैं।

आरंभिक स्कूली आयु के अधिकांश बच्चे श्रम कक्षाओं में सहर्ष जाते हैं, जहां वे अपने हस्तलाघव का प्रदर्शन कर सकते हैं और जहां किसी कृत्यक को पूरा करते हुए एक के बाद एक करके कई तरह की क्रियाएं करनी पड़ती हैं। बच्चों को इससे बहुत संतोष मिलता है कि वे अपने ही हाथों से ज़रूरी और उपयोगी चीज़ें बना रहे हैं (मिसाल के लिए, श्रम कक्षा में बनाये हुए खिलौने पास के किसी किंडरगार्टन के बच्चों को भेंट किये जा सकते हैं)। यह सब श्रम-प्रेम और उत्तर-दायित्व की भावना सिखाने में सहायक होता है। अपने हाथों से खिलौनों, आदि का निर्माण विभेदित और समन्वित आंगिक क्रियाओं के विकास के लिए और पेशीय अनुभूति के आधार पर व देखकर इन क्रियाओं का नियंत्रण करना सीखने के लिए भी बड़ा महत्त्व रखता है।

श्रम के पाठों का एक और महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक परिणाम होता है। उनमें बच्चे अपने भावी काम की **योजना बनाना** और फिर उसके क्रियान्वयन के तरीके और साधन ढूंढ़ना सीखते हैं। बेशक यह योग्यता अन्य पाठों से भी बढ़ती है, किंतु सर्वाधिक स्पष्ट और प्रकट अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए बच्चा काम तभी करता है, जब वह किसी निश्चित लक्ष्य से कोई वस्तु बना रहा हो। वह किसी मामूली सी भी संक्रिया को भूला नहीं या उसने कोई गलत औज़ार इस्तेमाल किया नहीं कि इस सबका उसके काम के परिणाम पर तुरंत प्रभाव पड़ जायेगा। इसलिए श्रम की कक्षाओं में बच्चा अपनी क्रियाओं के क्रम को पहले से ही तय कर लेने और उनके लिए आवश्यक औज़ारों को तैयार करने की योग्यता बड़ी तेज़ी से अर्जित करता है।

§५. आरंभिक स्कूली आयु में मानसिक नवनिर्मितियां

प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के मानस का विकास **उनकी मुख्य सक्रियता – पढ़ाई –** के आधार पर होती है। पढ़ाई के दौरान बच्चे अपने को शनैःशनैः उसकी अपेक्षाओं के अनुकूल बनाते हैं। इन अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए बच्चे में कुछ ऐसे मानसिक गुणों का होना ज़रूरी है, जो कि स्कूलपूर्व आयु के बच्चे में नहीं होते। प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों में ये नये गुण उनकी शिक्षा सक्रियता के विकास के साथ पैदा और विकसित होते हैं।

कक्षा में एक साथ शिक्षण तभी संभव होता है, जब सभी बच्चे एक साथ अध्यापक को सुनते और उसके निर्देशों का पालन करते हैं। इसलिए हर छात्र को ऐसे शिक्षण की अपेक्षाओं के अनुरूप अपने ध्यान को नियंत्रित करना सिखाया जाता है। बच्चों का खिड़की की ओर देखने का **मन कर रहा है**, जहां चिड़ियां चहचहा रही हैं, किंतु सवाल को हल करने की नयी रीति को सुनना **ज़रूरी है**, और मात्र सुनना ही नहीं, उसकी सभी तफ़सीलों को भली भांति याद कर लेना भी, ताकि अगले रोज़ के लिए दिये हुए सवाल ठीक से हल किये जा सकें। शनैःशनैः इस "ज़रूरी" को ध्यान में रखना और अपने व्यवहार पर नियंत्रण रखना मानसिक प्रक्रियाओं के एक विशिष्ट गुण के तौर पर **संकल्प** के विकास में सहायक होते हैं। संकल्प सचेतन ढंग से क्रियाओं को लक्ष्य निर्धारित करने और सभी कठिनाइयों तथा बाधाओं को पार करते हुए उनकी प्राप्ति के साधन जान-बूझकर खोजने तथा पाने की योग्यता में प्रकट होता है।

विभिन्न विषयों से संबंधित कृत्यक पूरा करते समय बच्चे सामान्यतः उनके निष्पादन के सर्वोत्तम तरीके ढूंढ़ते हैं, क्रियाओं के विविध विकास चुनते हैं तथा उनकी तुलना करते हैं और उनके क्रम तथा पूर्ति-साधनों की योजना बनाते हैं (मानस के स्तर पर किया जानेवाला यह सारा कार्य श्रम के पाठों में विशेष स्पष्टता के साथ प्रकट होता है)। बच्चा अपनी क्रियाओं के जितने ही "कदमों" की पूर्वकल्पना कर लेगा और उनके विभिन्न विकल्पों को तौल लेगा, उतनी ही सफलतापूर्वक वह

कृत्यक के वास्तविक निष्पादन का नियंत्रण कर सकेगा। शिक्षा सक्रियता में नियंत्रण तथा आत्मनियंत्रण की आवश्यकता और इसी तरह उसकी कुछ अन्य विशेषताएं भी (जैसे क्रियाएं कर लेने के बाद उनका वर्णन करना, मूल्यांकन, आदि) प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों में **स्वगत तौर पर, मानसिक धरातल पर** अपनी क्रियाओं को नियोजित और पूरा करने की योग्यता के पैदा होने में सहायक होती हैं।

शिक्षा सक्रियता की एक मुख्य अपेक्षा यह है कि बच्चा अपने कथनों और क्रियाओं के औचित्य को सभी पहलुओं से सिद्ध करे। इसके अनेक तरीके अध्यापक बताता है। बच्चे में जब तक अपने विचारों और क्रियाओं को तटस्थ व्यक्ति की भांति देखने और आंकने की योग्यता नहीं आती, तब तक वह न तर्कों में भेद कर सकता है, न तर्क करने की स्वतंत्र कोशिशें ही कर सकता है। यह योग्यता ही मानस के एक महत्त्वपूर्ण गुण – **अनुचिंतन** – को जन्म देती है, जिसकी बदौलत विचारों तथा क्रियाओं का सक्रियता के प्रयोजन तथा परिस्थितियों के साथ उनकी संगति की दृष्टि से विवेकपूर्ण तथा वस्तुपरक विश्लेषण संभव बनता है।

संकल्प, क्रियाओं की मानसिक योजना और अनुचिंतन – ये आरंभिक स्कूली आयु-वर्ग के बच्चे के मानस की मुख्य नवनिर्मितियां हैं। इनकी बदौलत बच्चे का मानस विकास के उस स्तर पर पहुंच जाता है, जो कि आगे माध्यमिक स्कूल में शिक्षा पाने के लिए और कैशोर्यावस्था के सामान्य संक्रमण के लिए आवश्यक होता है। प्राथमिक कक्षाओं के कतिपय बच्चों का माध्यमिक शिक्षा के लिए तैयार न होने का कारण अधिकांशतः यही होता है कि उनमें मानसिक प्रक्रियाओं तथा स्वयं शिक्षा सक्रियता के स्तर को निर्धारित करनेवाले इन सामान्य गुणों और योग्यताओं का समुचित विकास नहीं हो पाता है।

§६. प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों की संज्ञानमूलक प्रक्रियाओं का विकास

प्रत्यक्षण का विकास

कतिपय मानसिक प्रक्रियाओं का विकास सारी ही आरंभिक स्कूली आयु में होता रहता है। यद्यपि स्कूल में प्रवेश के समय तक प्रत्यक्षण

की प्रक्रियाएं काफ़ी विकसित हो चुकी होती हैं (मिसाल के लिए, दृष्टि और श्रवण-शक्ति काफ़ी तीव्र बन जाती हैं और बच्चे विभिन्न आकृतियों और रंगों को अच्छी तरह पहचानने लग जाते हैं), फिर भी आरंभ में शिक्षा सक्रियता में उनका प्रत्यक्षण आकृतियों और रंगों को पहचानने और बताने तक ही सीमित रहता है। पहली कक्षा का बच्चा वस्तुओं के इंद्रियगोचर गुणों तथा विशेषताओं का क्रमबद्ध विश्लेषण नहीं कर पाता। यह बात कई विशेष प्रयोगों में साफ़-साफ़ दिखायी दी है। उदाहरणार्थ, पहली कक्षा के छात्रों को एक रंगीन घड़ा दिया गया और कहा गया कि उसे देख-देखकर उसका चित्र बनायें। बच्चों ने उसकी सरसरी जांच की और फिर तुरंत चित्र बनाने में जुट गये। चित्र बनाते समय उन्होंने एक बार भी उसकी ओर निगाह उठाकर नहीं देखा। चित्रों में जो घड़े बने, वे विविध आकारों और आकृतियों के थे और कुछ मामलों में तो एक दूसरे से बेहद भिन्न भी थे। स्पष्टतः बच्चे आकृति का विश्लेषण करना नहीं जानते थे। यही बात घड़े के रंग के मामले में भी दिखायी दी। बच्चे उस रंग को पहचानते थे और उसका नाम भी बता सकते थे। किंतु चित्र बनाते समय उन्होंने उसकी ठोस विशेषताओं को बिल्कुल अनदेखा कर दिया। पहली कक्षा के बच्चों के प्रत्यक्षों में वस्तुओं की विशेषताओं में भेद न करने का दोष तितलियों को पहचानने तथा वर्गीकरण करने के प्रयोगों के दौरान भी दिखायी दिया।

इंद्रियगोचर वस्तुओं का विश्लेषण करने और उनका भेद पहचानने की क्षमता एक ऐसी सक्रियता के विकास से जुड़ी हुई है, जो वस्तुओं के कुछेक प्रत्यक्ष गुणों को अनुभव करने और उनका अंतर जानने से भी ज़्यादा जटिल है। इसे **प्रेक्षण** सक्रियता कहते हैं। वह स्कूली शिक्षा के दौरान ही विशेष तेज़ी से बढ़ती है। कक्षा में बच्चे को प्रत्यक्षण से संबंधित कृत्यक दिये जाते हैं और बाद में वह स्वयं भी ऐसे कृत्यक निर्धारित करने लगता है। इसकी बदौलत प्रत्यक्षण सोद्देश्य बन जाता है। अध्यापक बच्चों को वस्तुओं और परिघटनाओं की जांच के तरीके (उनके गुणों को पहचानने का क्रम, हाथ और आंख की गति की दिशा, आदि) दिखाता है, उनके गुणों का वर्णन करने से साधन (चित्र, खाका, शब्द, आदि) बताता है। इसके बाद बच्चा स्वयं ही

प्रत्यक्षण के कार्य की योजना बना सकता है और मुख्य को गौण से अलग करके, गोचर लक्षणों का सोपान-क्रम निर्धारित करके और समानता के अनुसार उन्हें विभेदित करके इस योजना को इच्छानुरूप साकार कर सकता है। ऐसा प्रत्यक्षण संज्ञानमूलक सक्रियता के अन्य रूपों (ध्यान, चिंतन) के साथ संश्लेषित होकर सोद्देश्य और साभिप्राय प्रेक्षण का रूप ले लेता है। प्रेक्षण-शक्ति का पर्याप्त विकास हो जाने पर बच्चे की सूक्ष्मदर्शिता उसके व्यक्तित्व का गुण बन जाती है। अध्ययन दिखाते हैं कि प्राथमिक शिक्षा के दौरान सभी छात्रों में इस महत्त्वपूर्ण गुण को काफ़ी अधिक विकसित किया जा सकता है।

ध्यान का विकास

स्कूल जाना शुरू करने से पहले बच्चा सोद्देश्य ध्यान से परिचित नहीं होता। उसका ध्यान ऐसी कोई भी चीज़ आकृष्ट कर लेती है, जो उसे प्रत्यक्षतः रुचिकर लगती है, जो चमकीली-भड़कीली या असाधारण है (अनभिप्रेत ध्यान)। किंतु स्कूल में पहले ही दिन से बच्चे को ऐसी वस्तुओं पर ध्यान देना पड़ता है और ऐसी बातें आत्मसात् करनी पड़ती हैं, जिनमें हो सकता है कि उस समय उसकी रुचि कतई न हो। शनैःशनैः वह मात्र बाह्यतः आकर्षक वस्तुओं पर नहीं, बल्कि **आवश्यक** वस्तुओं पर भी ध्यान देना और टिकाये रखना सीखता है। दूसरी-तीसरी कक्षाओं में बहुत से छात्रों में **साभिप्राय** ध्यान की आदत पड़ जाती है और अध्यापक द्वारा समझाये जा रहे अथवा पुस्तक में चर्चित विषय पर ध्यान एकाग्र रखना वे सीख लेते हैं। साभिप्राय ध्यान, यानी ध्यान को इरादतन किसी लक्ष्य पर केंद्रित करने की योग्यता प्राथमिक कक्षाओं के बच्चे की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

जैसा कि अनुभव दिखाता है, साभिप्राय ध्यान की आदत के विकास के लिए बच्चे की क्रियाओं का सुचारु बाह्य संगठन और उसे ऐसे प्रतिमानों एवं ऐसे बाह्य साधनों से परिचित कराना बहुत महत्त्व रखते हैं, जिन्हें प्रयोग करके वह अपनी चेतना को निदेशित कर सकता है। उदाहरणार्थ, किसी विशिष्ट उद्देश्य से ध्वन्यात्मक विश्लेषण में ध्वनियों एवं उनके क्रम के निर्धारण के लिए ऐसे बाह्य साधनों का

प्रयोग बड़ी भूमिका निभाता है, जैसे, मिसाल के लिए, गत्ते के गोल टुकड़े। उन्हें सुनिश्चित क्रम से रखना बच्चे को अपने ध्यान पर नियंत्रण रखना सिखाता है और जटिल तथा सूक्ष्म ध्वन्यात्मक सामग्री से वास्ता पड़ने पर एकाग्रचित्त बने रहने में मदद देता है।

बच्चे का आत्मानुशासन उस संगठन का परिणाम होता है, जिसे पहले वयस्क, विशेषतः अध्यापक बनाता और निदेशित करता है। ध्यान के विकास की सामान्य दिशा यह होती है कि बच्चा अध्यापक ने उसके सामने जो उद्देश्य रखा है, उसकी प्राप्ति से स्वयं अपने सामने रखे हुए लक्ष्य की नियंत्रित प्राप्ति की ओर बढ़ता है।

पहली कक्षा के बच्चे का साभिप्राय ध्यान अस्थिर रहता है, क्योंकि वह आत्मनियमन के आंतरिक साधनों से परिचित नहीं होता। इसलिए अनुभवी अध्यापक तरह-तरह की और बच्चों को न थकानेवाली विधियों का सहारा लेता है (जैसे विभिन्न तरीकों से मौखिक हिसाब, सवालों का हल और उसकी जांच, लिखित परिकलनों की किसी नयी रीति को समझाना, इन परिकलनों को करने का अभ्यास, आदि)। पहली-दूसरी कक्षाओ के बच्चों का ध्यान बौद्धिक क्रियाओं के बजाय बाह्य क्रियाएं करते हुए अधिक स्थिर रहता है। अध्यापक को इस विशेषता से भरपूर लाभ उठाना चाहिए और बौद्धिक अभ्यास करवाने के साथ-साथ आरेखण, चित्रांकन, मॉडलिंग, एप्लीक का काम, आदि भी करवाते रहना चाहिए। मामूली, लेकिन नीरस काम करते हुए प्राथमिक कक्षाओं के बच्चे का ध्यान जितना बंटता है, उतना उन कृत्यकों को पूरा करते हुए भी नहीं बंटता, जिनके लिए जटिल तथा तरह-तरह की रीतियों और तरीकों के प्रयोग की ज़रूरत होती है।

ध्यान का विकास ध्यान की मात्रा बढ़ने और उसे विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के बीच विभाजित करने की योग्यता पर भी निर्भर होता है। इसलिए शैक्षिक कृत्यक ऐसे पेश किये जाने चाहिए कि बच्चा अपनी क्रियाएं करते हुए साथियों के काम पर भी नज़र रख सके और रखे। उदाहरण के लिए, कोई दिया हुआ पाठ पढ़ते हुए उसे अन्य छात्रों के व्यवहार को देखते रहना चाहिए। गलती होने पर वह साथियों की नकारात्मक प्रतिक्रिया देखेगा और गलती को सुधारने की कोशिश करेगा। कुछ बच्चे कक्षा में "अनमने" इसलिए होते हैं कि अपने ध्यान को

ठीक से विभाजित करना नही जानते और एक काम करते हुए दूसरे कामों को भूल जाते हैं। अध्यापक को विविध शिक्षा कार्यों का संगठन ऐसे करना चाहिए कि बच्चे कक्षा के एक साथ कार्य के लिए तैयार होते हुए एक साथ कई प्रकार की क्रियाओं (आरंभ में बेशक अपेक्षया सामान्य क्रियाओं) पर नज़र रखना जानें।

स्मरण-शक्ति का विकास

पहली बार स्कूल की देहरी पर कदम रखनेवाला बच्चा ऊपरी तौर पर आकर्षक और संवेगात्मक दृष्टि से प्रभावोत्पादक घटनाओं, वर्णनों और कहानियों को ज़्यादातर शब्दशः याद कर लेने की कोशिश करता है। किंतु स्कूली जीवन ऐसा होता है कि वह शुरू से ही बच्चों से सामग्री को सचेतन ढंग से स्मरण करने की अपेक्षा करता है। स्कूली बच्चों को दिनचर्या, आचरण के नियम और घर के लिए दिये हुए कृत्यक विशेषतः याद रखने चाहिए और उनसे अपने व्यवहार में निदेशित होना अथवा कृत्यक को कक्षा में भी करके दिखाना सीखना चाहिए। बच्चों में स्मृतिक कृत्यकों में अंतर करने की क्षमता पैदा हो जाती है। इनमें से कुछ कृत्यकों के लिए सामग्री को कंठस्थ करना आवश्यक होता है और कुछ के लिए केवल अपने शब्दों में दोहराना, आदि। प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों की स्मरण-शक्ति की उत्पादकता उनके द्वारा स्मृतिक कृत्यक के स्वरूप को समझे जाने और स्मरण तथा पुनर्प्रस्तुति के आवश्यक तरीकों तथा रीतियों में प्रवीणता पाने पर निर्भर होती है।

आरंभ में बच्चे सबसे सामान्य रीतियां ही इस्तेमाल करते हैं, जैसे सामग्री को कई हिस्सों में बांटकर बार-बार दोहराना (सामग्री का यह विभाजन अर्थानुसार नहीं किया जाता)। ऐसे में स्मरण के परिणामों का स्वयं ही नियंत्रण केवल चाक्षुष पहचान के स्तर पर होता है। पहली कक्षा का बच्चा पाठ को देखता है और पाता है कि वह उसको याद है, क्योंकि वह उसे "जाना-पहचाना" लगता है। बहुत कम बच्चे ही साभिप्राय स्मरण के अधिक युक्तिसंगत तरीकों को स्वयं सीख पाते हैं। अधिकांश बच्चों को इसके लिए स्कूल में और घर पर विशेष

और दीर्घ प्रशिक्षण देना पड़ता है। इसका एक उपाय है बच्चे में सामग्री का अर्थ समझकर याद करने की आदत डालना (सामग्री का अर्थानुसार इकाइयों में विभाजन, अर्थानुसार वर्गीकरण, अर्थानुसार तुलना, आदि)। दूसरा उपाय है ठहर-ठहरकर दोहराना और स्मरण के परिणामों का स्वयं ही नियंत्रण करना सिखाना। अर्थानुसार इकाइयों में विभाजन का तरीका रूपरेखा बनाने पर आधारित होता है। इसे तभी सिखा दिया जाना चाहिए, जब बच्चे किसी चित्र अथवा सुनी हुई कहानी की अंतर्वस्तु को मौखिक रूप में ही दोहराते हैं। यह ज़रूरी है कि अर्थानुसार पृथक्कृत इकाइयों की सापेक्षता भी बच्चे को तुरंत प्रदर्शित कर जाये। कुछ मामलों में इकाइयां बड़ी हो सकती हैं और कुछ मामलों में छोटी।

विशद और संक्षिप्त रूपरेखा बनाने से संबंधित कार्य पहली कक्षा के उत्तरार्ध में, जब बच्चे पढ़ने और लिखने में समर्थ बन जाते हैं, बड़ा महत्त्व रखता है। दूसरी-तीसरी कक्षाओं में अंकगणित और व्याकरण से संबंधित लंबे-लंबे पाठोंवाली सामग्री के आधार पर यह कार्य आगे जारी रखा जाता है (उदाहरण के लिए, तीसरी कक्षा के छात्र अंकगणित के सवालों, जिनके पाठ में कई तरह की शर्तें उल्लिखित होती हैं, के हल की विशद रूपरेखाएं बनाते हैं)। अब बच्चों से इकाइयों को पृथक् करने और पहचानने की ही नहीं, अपितु सामग्री को अर्थानुसार वर्गीकृत करने – उसके मुख्य घटकों को जोड़ने, परस्पर संबद्ध बनाने, आधारिकाओं तथा निष्कर्षों को विभाजित करने, इन या उन तथ्यों को तालिका में दर्ज करने, आदि – की भी अपेक्षा की जाती है। ऐसा वर्गीकरण पाठ के कुछ हिस्सों से सहजतापूर्वक दूसरे हिस्सों पर आने और उनकी तुलना करने की योग्यता से जुड़ा होता है। वर्गीकरण के परिणामों की **लिखित रूपरेखा** बना ली जानी चाहिए, जो सामग्री को हृदयंगम करने के आगामी चरणों के भी और उसके हिस्सों की परस्पर संबद्धता की विशेषताओं के भी भौतिक वाहक का काम करेगी। आरंभ में लिखित रूपरेखा और फिर उसके मानसिक चित्र के आधार पर बच्चे विभिन्न पाठों की अंतर्वस्तु को सही-सही पुनर्प्रस्तुत कर सकते हैं।

प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों को पुनर्प्रस्तुति के तरीके सिखाने के लिए विशेष प्रयास आवश्यक है। सबसे पहले अध्यापक बच्चों को सामग्री

के अलग-अलग हिस्सों (अर्थानुसार हिस्सों) को बोलकर अथवा मन ही मन पुनर्प्रस्तुत करना सिखाता है। बड़े अथवा जटिल पाठ के अलग-अलग हिस्सों की पुनर्प्रस्तुति में समय का अंतराल रखा जा सकता है (पाठ पढ़ने के बाद तुरंत दोहराना अथवा कुछ अंतरालों के बाद दोहराना)। इस कार्य की प्रक्रिया में अध्यापक बच्चों को रूपरेखा **कुतुबनुमा** की भांति इस्तेमाल करने की उपयोगिता दिखाता है।

सामग्री का अर्थानुसार वर्गीकरण, उसके अलग-अलग हिस्सों की तुलना और रूपरेखा का निर्माण आरंभ में बच्चों द्वारा साभिप्राय स्मरण की युक्तियों के तौर पर सीखे जाते हैं। जब वे उनमें प्रवीण बन जाते हैं, उनकी मनोवैज्ञानिक भूमिका बहुत बदल जाती है: वे सुविकसित अनभिप्रेत स्मरण का आधार बन जाते हैं, जो प्राथमिक शिक्षा के अंत में भी और आगे चलकर भी ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

शिक्षा सक्रियता के भीतर विकास की प्रक्रिया में अनभिप्रेत और साभिप्राय स्मरण का अनुपात बदलता रहता है। पहली कक्षा में अनभि-प्रेत स्मरण साभिप्राय स्मरण के मुकाबले कहीं ज़्यादा प्रभावी होता है, क्योंकि अभी बच्चों में सामग्री का अर्थ की समझ पर आधारित संसाधन करने और स्वयं नियंत्रण की आदत नहीं पड़ी होती है। इसके अलावा अधिकांश कृत्यकों को करते हुए बच्चे सुसंगत मानसिक सक्रियता दिखाते हैं, हालांकि वह अभी आसान और आदत का अंग नहीं बनी होती है। इसलिए ज्ञान के हर नये तत्त्व पर खूब सोचा-विचारा जाता है। मनोविज्ञान सिद्ध कर चुका है कि सबसे अच्छी तरह याद वही चीज़ रहती है, जो चिंतन सक्रियता का विषय और लक्ष्य रही है। स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति में अनभिप्रेत स्मरण का ही पलड़ा भारी सिद्ध होगा।

ज्यों-ज्यों सोच-समझकर याद करने और स्वयंनियंत्रण की आदत पड़ती है, दूसरी और तीसरी कक्षाओं के बच्चों की साभिप्राय स्मृति अनेक मामलों में अनभिप्रेत स्मृति से अधिक उत्पादक सिद्ध होने लगती है (इसके अलावा गणित और व्याकरण की क्रियाएं करने की कई रीतियां अब तक बच्चों के लिए मामूली बात बन जाती हैं)। किंतु यह प्रवृत्ति स्थायी नहीं होती। इसके बाद **स्मरण-शक्ति की प्रक्रियाओं**

में फिर गुणात्मक मानसिक परिवर्तन आ जाता है। बच्चे सामग्री के तार्किक संसाधन की युक्तियों को, जिनके वे आदी बन चुके होते हैं, अब सामग्री के बुनियादी संबंधों में पैठने के लिए, उनके गुणों का विशद विश्लेषण करने के लिए, यानी ऐसी सारगर्भित सक्रियता के लिए इस्तेमाल करने लगते हैं, जिसमें "स्मरण" का प्रत्यक्ष कृत्य गौण बन जाता है। किंतु इसके दौरान होनेवाले अनभिप्रेत स्मरण के फिर भी बड़े अच्छे परिणाम निकलते हैं, क्योंकि सामग्री के सभी घटक उनके विश्लेषण, वर्गीकरण और तुलना की प्रक्रिया में छात्रों की क्रियाओं के प्रत्यक्ष प्रयोजन थे। तार्किक युक्तियों पर आधारित अनभिप्रेत स्मरण को प्राथमिक शिक्षा के दौरान सभी प्रकार से इस्तेमाल किया जाना चाहिए। शिक्षण प्रक्रियाओं में स्मृति के परिष्कार का यह एक बुनियादी स्रोत है।

आरंभिक स्कूली अवस्था में स्मृति के अनभिप्रेत और साभिप्राय, दोनों रूपों में ऐसे गुणात्मक परिवर्तन आते हैं, जिनकी बदौलत उनके बीच घनिष्ठ परस्पर संबंध कायम हो जाते हैं और अन्योन्यांतरण होने लगता है। यह महत्त्वपूर्ण है कि इनमें से हर रूप बच्चों द्वारा परिस्थिति के अनुरूप इस्तेमाल किया जाये (उदाहरणार्थ, किसी पाठ को कंठाग्र करते हुए मुख्यतः साभिप्राय स्मृति इस्तेमाल की जाती है)। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि केवल साभिप्राय स्मरण से ही पाठ्य-सामग्री का पूर्ण आत्मसात्करण होता है। वह अनभिप्रेत स्मरण की मदद से भी हो सकता है, यदि ऐसा स्मरण सामग्री के तार्किक अर्थबोधन के साधनों का सहारा ले। पाठ्य-सामग्री का तार्किक संसाधन अत्यंत तेज़ी से हो सकता है और दूसरे आदमी को कभी-कभी लगता है कि बच्चा नयी जानकारियों को मानो स्पंज की तरह अपने में सोख रहा है। किंतु वास्तव में इसके पीछे बहुत सी क्रियाएं निहित होती हैं। उन्हें करने के लिए विशेष प्रशिक्षण आवश्यक होता है, जिसके बिना स्मरण-शक्ति असंस्कृत और असंगठित ही रहती है, यानी "खराब स्मरण-शक्ति" बनी रहती है, जब बच्चे विशेष छानबीन, वर्गीकरण और तुलना के बिना सीधे-सीधे याद कर लेने की ही कोशिश करते हैं। पाठ का समुचित ढंग से संसाधन करने की युक्तियों का निर्माण "अच्छी स्मरणशक्ति" बनाने का सबसे कारगर साधन है।

पहली से तीसरी कक्षा तक शब्द रूप में अभिव्यक्त सूचनाओं को याद करने की दक्षता जितनी तेज़ी से बढ़ती है, उतनी तेज़ी से दृश्य सूचनाएं याद करने की दक्षता नहीं बढ़ती। इसका कारण यह है कि बच्चों में समझ-बूझकर याद करने की आदत तीव्रतापूर्वक विकसित होती है। यह आदत मुख्यतया शाब्दिक निर्मितियों की मदद से अंकित बुनियादी संबंधों के विश्लेषण से जुड़ी होती है। इसके साथ ही शिक्षण प्रक्रिया के लिए स्मृति में दृश्य बिंबों के टिके रहने का भी बहुत महत्त्व होता है। इसलिए साभिप्राय और अनभिप्रेत स्मरण की आदत शाब्दिक और दृश्य, दोनों ही प्रकार की पाठ्य-सामग्री को ध्यान में रखते हुए विकसित की जानी चाहिए।

कल्पना का विकास

नियमित शिक्षा सक्रियता बच्चों में कल्पना जैसी महत्त्वपूर्ण मानसिक योग्यता का विकास करने में भी सहायक होती है। प्राथमिक कक्षाओं के छात्र अध्यापक या पाठ्य-पुस्तकों से जो नयी जानकारियां पाते हैं, वे अधिकांशतः शाब्दिक वर्णन, चित्र और आरेख के रूप में होती हैं। इन्हें देखते, सुनते या पढ़ते वक्त छात्र को हर बार यथार्थ (कहानी के पात्रों का व्यवहार, अतीत की घटनाएं, अपरिचित लैंडस्केप, ज्यामितीय आकृतियों का दिक् में विन्यास, आदि) के बिंबों को अपने मानस पटल पर पुनर्सृजित करना पड़ता है।

इस प्रकार की अभिक्षमता का विकास दो चरणों में होता है। आरंभ में पुनर्सृजित बिंब यथार्थ वस्तु का मात्र स्थूल आभास देते हैं। उनमें सूक्ष्म विवरणों का अभाव होता है। वे स्थैतिक होते हैं, क्योंकि उनमें वस्तुओं के परिवर्तनों तथा क्रियाओं का और उनके परस्पर संबंधों का अंकन नहीं पाया जाता। ऐसे बिंबों के निर्माण के लिए शाब्दिक वर्णन अथवा चित्र (वे भी अंतर्वस्तु की दृष्टि से काफ़ी सु-निश्चित) आवश्यक होते हैं। दूसरा चरण दूसरी और तीसरी कक्षाओं में देखने में आता है। सबसे पहले बिंबों में वस्तु के लक्षणों और गुणों की तादाद बढ़ जाती है। वे पर्याप्त पूर्ण और ठोस बन जाते हैं, जो मुख्यतया उनमें स्वयं वस्तुओं की क्रियाओं तथा सहसंबंधों के घटकों

के पुनर्सृजन का परिणाम होता है। पहली कक्षा के छात्र किसी गतिशील वस्तु की मात्र आरंभिक और अंतिम स्थिति की ही कल्पना कर पाते हैं। किंतु तीसरी कक्षा का छात्र पाठ में सीधे-सीधे उल्लिखित अथवा स्वयं गति के स्वरूप के अनुसार **आपाद्य** कई सारी मध्यवर्ती स्थितियों की भी कल्पना कर लेता है। वह प्रत्यक्ष वर्णन अथवा किसी खास मूर्तीकरण के बिना भी, मात्र स्मृति अथवा सामान्य ग्राफ़ीय खाके की मदद से यथार्थ के बिंब पुनर्सृजित कर सकता है। उदाहरणार्थ, वह पाठ के बिल्कुल आरंभ से सुनी हुई कहानी को अपने ही शब्दों में विस्तार से दोहरा या लिख सकता है अथवा गणित के ऐसे सवाल हल कर सकता है, जिसकी शर्तें अमूर्त ग्राफ़ीय खाकों के रूप में पेश की गयी थीं।

आरंभिक स्कूली आयु में **पुनर्सृजनात्मक कल्पना** (पुनरभिव्यक्ति कल्पना) का विकास निम्न योग्यताओं के विकास से जुड़ा होता है: एक, वस्तुओं की उन **आपाद्य** दशाओं को जानने और चित्रित करने की क्षमता, जो उनके वर्णन में प्रत्यक्षत: निर्दिष्ट नहीं हैं, किंतु तर्कानुसार उनसे निगमित होती हैं, और, दो, कुछेक वस्तुओं, उनके गुणों और स्थितियों की **सोपाधिकता** को समझने की क्षमता (उदाहरणार्थ, किसी घटना के वस्तुत: न घटने पर भी सोपाधिक रूप से उसके घटने की कल्पना की जा सकती है और फिर उतने ही सोपाधिक रूप से उसके परिणामों का भी पता लगाया जा सकता है)।

पुनर्सृजनात्मक अथवा पुनरभिव्यक्ति कल्पना यथार्थ के बिंबों का संसाधन करने में समर्थ होती है। उसकी बदौलत बच्चे कहानी के कथानक को मोड़ दे सकते हैं, कालक्रम में घटनाओं का वर्णन कर सकते हैं, कुछ वस्तुओं को सामान्यीकृत, संक्षिप्त रूप में चित्रित कर सकते हैं (इसमें अर्थमूलक स्मरण का अभ्यास काफ़ी हद तक सहायक होता है)। बहुत बार बिंबों का ऐसा परिवर्तन तथा संयोजन सांयोगिक और शैक्षिक प्रक्रिया की दृष्टि से अनुचित होता है, हालांकि इससे बच्चे की कल्पना करने की और वस्तुओं के प्रति संवेगात्मक रवैया दिखाने की आवश्यकता अवश्य पूरी हो जाती है। इन मामलों में बच्चों को अपनी मनगढ़ंतों की पूर्ण सोपाधिकता का स्पष्ट अहसास होता है। वस्तुओं और उनके मूल से संबंधित जानकारियों को बच्चा ज्यों-ज्यों आत्मसात् करता जाता है, त्यों-त्यों बिंबों के बहुत से संयोजन

साधार और तर्कपरक बनते जाते हैं। इसके साथ ही बच्चा या तो सुप्रकट शाब्दिक रूप में या फिर सूझ-बूझ के स्तर पर इस प्रकार से तर्क करना सीखता है: "यदि अमुक-अमुक काम किया जाये, तो ऐसा अवश्य होगा"। प्राथमिक कक्षाओं के छात्रों का किन्हीं वस्तुओं के मूल और रचना की परिस्थितियों को इंगित करने का प्रयास उनमें **पुनर्सृजनात्मक कल्पना** के विकास की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानसिक पूर्वापेक्षा है।

श्रम की कक्षाएं इस पूर्वापेक्षा के निर्माण में सहायक होती हैं। इन कक्षाओं में बच्चे किसी वस्तु को बनाने की अपनी योजना को साकार बनाना सीखते हैं। इसमें उन्हें चित्रकारी की कक्षाओं से भी बड़ी मदद मिलती है, जिनमें बच्चे पहले चित्र की मानसिक स्तर पर कोई योजना बनाना और फिर उसे साकार बनाने के सबसे अभि-व्यक्तिपूर्ण साधन को खोजना सीखते हैं।

चिंतन का विकास

प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के चिंतन के विकास में भी दो मुख्य चरण पाये जाते हैं। पहले चरण (वह लगभग पहली और दूसरी कक्षाओं का संपाती होता है) में उनकी चिंतन सक्रियता काफ़ी कुछ स्कूलपूर्व आयु के बच्चों के चिंतन के समान होती है। इस चरण में शैक्षिक सामग्री का विश्लेषण मुख्यतया **ऐंद्रिक क्रियामूलक** सक्रियता के रूप में किया जाता है। इसमें बच्चे या तो यथार्थ वस्तुओं, या फिर उनके साक्षात् प्रतिस्थापकों – चित्रों, आदि – का अवलंब लेते हैं। ऐसे विश्लेषण को **व्यावहारिक-क्रियात्मक अथवा ऐंद्रिक** विश्लेषण कहा जाता है।

पहली-दूसरी कक्षाओं के बच्चे वस्तुओं और स्थितियों के बारे में प्राय: काफ़ी एकांगी ढंग से, उनके किसी एक बाह्य लक्षण को ध्यान में रखकर ही सोचते हैं। उनके निष्कर्ष प्रत्यक्ष में दत्त ऐंद्रिक पूर्वापेक्षाओं पर अवलंबित होते हैं। निष्कर्ष की पुष्टि भी तार्किक चिंतन के आधार पर नहीं, बल्कि अभिकथनों को प्रत्यक्षीकृत तथ्यों से सीधे-सीधे जोड़कर की जाती है। मिसाल के लिए, उसका रूप कुछ यों होता है: क ने

के पुनर्सृजन का परिणाम होता है। पहली कक्षा के छात्र किसी गतिशील वस्तु की मात्र आरंभिक और अंतिम स्थिति की ही कल्पना कर पाते हैं। किंतु तीसरी कक्षा का छात्र पाठ में सीधे-सीधे उल्लिखित अथवा स्वयं गति के स्वरूप के अनुसार **आपाद्य** कई सारी मध्यवर्ती स्थितियों की भी कल्पना कर लेता है। वह प्रत्यक्ष वर्णन अथवा किसी खास मूर्तीकरण के बिना भी, मात्र स्मृति अथवा सामान्य ग्राफ़ीय खाके की मदद से यथार्थ के बिंब पुनर्सृजित कर सकता है। उदाहरणार्थ, वह पाठ के बिल्कुल आरंभ से सुनी हुई कहानी को अपने ही शब्दों में विस्तार से दोहरा या लिख सकता है अथवा गणित के ऐसे सवाल हल कर सकता है, जिसकी शर्तें अमूर्त ग्राफ़ीय खाकों के रूप में पेश की गयी थीं।

आरंभिक स्कूली आयु में **पुनर्सृजनात्मक कल्पना** (पुनरभिव्यक्ति कल्पना) का विकास निम्न योग्यताओं के विकास से जुड़ा होता है: एक, वस्तुओं की उन **आपाद्य** दशाओं को जानने और चित्रित करने की क्षमता, जो उनके वर्णन में प्रत्यक्षतः निर्दिष्ट नहीं हैं, किंतु तर्कानुसार उनसे निगमित होती हैं, और, दो, कुछेक वस्तुओं, उनके गुणों और स्थितियों की **सोपाधिकता** को समझने की क्षमता (उदाहरणार्थ, किसी घटना के वस्तुतः न घटने पर भी सोपाधिक रूप से उसके घटने की कल्पना की जा सकती है और फिर उतने ही सोपाधिक रूप से उसके परिणामों का भी पता लगाया जा सकता है)।

पुनर्सृजनात्मक अथवा पुनरभिव्यक्ति कल्पना यथार्थ के बिंबों का संसाधन करने में समर्थ होती है। उसकी बदौलत बच्चे कहानी के कथानक को मोड़ दे सकते हैं, कालक्रम में घटनाओं का वर्णन कर सकते हैं, कुछ वस्तुओं को सामान्यीकृत, संक्षिप्त रूप में चित्रित कर सकते हैं (इसमें अर्थमूलक स्मरण का अभ्यास काफ़ी हद तक सहायक होता है)। बहुत बार बिंबों का ऐसा परिवर्तन तथा संयोजन सांयोगिक और शैक्षिक प्रक्रिया की दृष्टि से अनुचित होता है, हालांकि इससे बच्चे की कल्पना करने की और वस्तुओं के प्रति संवेगात्मक रवैया दिखाने की आवश्यकता अवश्य पूरी हो जाती है। इन मामलों में बच्चों को अपनी मनगढ़ंतों की पूर्ण सोपाधिकता का स्पष्ट अहसास होता है। वस्तुओं और उनके मूल से संबंधित जानकारियों को बच्चा ज्यों-ज्यों आत्मसात् करता जाता है, त्यों-त्यों बिंबों के बहुत से संयोजन

साधार और तर्कपरक बनते जाते हैं। इसके साथ ही बच्चा या तो सुप्रकट शाब्दिक रूप में या फिर सूझ-बूझ के स्तर पर इस प्रकार से तर्क करना सीखता है: "यदि अमुक-अमुक काम किया जाये, तो ऐसा अवश्य होगा"। प्राथमिक कक्षाओं के छात्रों का किन्हीं वस्तुओं के मूल और रचना की परिस्थितियों को इंगित करने का प्रयास उनमें **पुनर्सृजनात्मक कल्पना** के विकास की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानसिक पूर्वापेक्षा है।

श्रम की कक्षाएं इस पूर्वापेक्षा के निर्माण में सहायक होती हैं। इन कक्षाओं में बच्चे किसी वस्तु को बनाने की अपनी योजना को साकार बनाना सीखते हैं। इसमें उन्हें चित्रकारी की कक्षाओं से भी बड़ी मदद मिलती है, जिनमें बच्चे पहले चित्र की मानसिक स्तर पर कोई योजना बनाना और फिर उसे साकार बनाने के सबसे अभि-व्यक्तिपूर्ण साधन को खोजना सीखते हैं।

चिंतन का विकास

प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के चिंतन के विकास में भी दो मुख्य चरण पाये जाते हैं। पहले चरण (वह लगभग पहली और दूसरी कक्षाओं का संपाती होता है) में उनकी चिंतन सक्रियता काफ़ी कुछ स्कूलपूर्व आयु के बच्चों के चिंतन के समान होती है। इस चरण में शैक्षिक सामग्री का विश्लेषण मुख्यतया **ऐंद्रिक क्रियामूलक** सक्रियता के रूप में किया जाता है। इसमें बच्चे या तो यथार्थ वस्तुओं, या फिर उनके साक्षात् प्रतिस्थापकों – चित्रों, आदि – का अवलंब लेते हैं। ऐसे विश्लेषण को **व्यावहारिक-क्रियात्मक अथवा ऐंद्रिक** विश्लेषण कहा जाता है।

पहली-दूसरी कक्षाओं के बच्चे वस्तुओं और स्थितियों के बारे में प्रायः काफ़ी एकांगी ढंग से, उनके किसी एक बाह्य लक्षण को ध्यान में रखकर ही सोचते हैं। उनके निष्कर्ष प्रत्यक्ष में दत्त ऐंद्रिक पूर्वापेक्षाओं पर अवलंबित होते हैं। निष्कर्ष की पुष्टि भी तार्किक चिंतन के आधार पर नहीं, बल्कि अभिकथनों को प्रत्यक्षीकृत तथ्यों से सीधे-सीधे जोड़कर की जाती है। मिसाल के लिए, उसका रूप कुछ यों होता है: क ने

फूलों में पानी नहीं डाला, वे सूख गये, जबकि ख ने पानी डाला था और वे नहीं सूखे। फूल ताज़े रहें और ठीक से बढ़ें, इसके लिए उनमें प्रायः पानी डालते रहना चाहिए।

इस चरण में बच्चों द्वारा किये जानेवाले सामान्यीकरण वस्तुओं के स्थूल (उपयोगितापरक और प्रकार्यात्मक) लक्षणों के प्रबल "दबाव" के तहत होते हैं। ऐसे अधिकांश सामान्यीकरण वस्तुओं तथा परिघटनाओं के सतही और इसलिए मूर्त रूप में प्रत्यक्षीकृत लक्षणों तथा गुणों को अंकित करते हैं। उदाहरणार्थ, "में" विभक्ति चिह्न के अर्थ को दूसरी कक्षा के बच्चे उन मामलों में कहीं जल्दी और आसानी से समझ जाते हैं, जब वह किसी मूर्त, ठोस वस्तु से संबद्ध होता है (जैसे "प्लेट **में** सेब") बजाय इसके कि जब वह किसी अमूर्त चीज़ से संबद्ध होता है (जैसे "हाल के दिनों **में**" अथवा "स्मृति **में**")।

प्राथमिक कक्षाओं के छात्रों को प्रकृतिज्ञान, भूगोल और इतिहास की आधारिक बातों की जानकारी यों दी जाती है कि उनके द्वारा किये जानेवाले सामान्यीकरण ठोस स्थितियों के प्रेक्षण पर, उनके विस्तृत शाब्दिक चित्रण से परिचय पर ज़्यादा से ज़्यादा अवलंबित हों। ऐसी सामग्री की तुलना करके बच्चे मिलते-जुलते बाह्य लक्षणों को पहचान लेते हैं और उन्हें तदनुरूप शब्दों से द्योतित करने लगते हैं (जैसे नगर, पहाड़, युद्ध, आदि)। ज्ञान के पूर्ण सामान्यीकरण का मुख्य मानदंड बच्चे की ऐसा कोई ठोस दृष्टांत देने की योग्यता है, जो प्राप्त ज्ञान से मेल खाता हो। प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के चिंतन की ये विशेषताएं प्राथमिक शिक्षा में दृश्य विधियों के उपयोग के सिद्धांत को व्यापक रूप से इस्तेमाल में लाये जाने का आधार बनती हैं।

नियमित शिक्षा सक्रियता की बदौलत तीसरी कक्षा के आरंभ तक बच्चों के चिंतन का स्वरूप बदल जाता है। चिंतन के विकास का दूसरा चरण इन परिवर्तनों से ही जुड़ा हुआ है। पहली तथा दूसरी कक्षाओं में ही अध्यापक बच्चों को उनके द्वारा आत्मसात् किये जा रहे ज्ञान के अलग-अलग तत्त्वों के बीच मौजूद संबंधों से परिचित कराने पर विशेष ध्यान देने लग जाता है। संकल्पनाओं के बीच ऐसे संबंध निरूपित करने की अपेक्षा रखनेवाले कृत्यकों का परिमाण वर्ष-प्रतिवर्ष बढ़ता ही जा रहा है। तीसरी कक्षा तक बच्चा संकल्पनाओं के विभिन्न

लक्षणों के बीच सामान्य तथा विशिष्ट संबंधों को पहचान जाता है, अर्थात वर्गीकरण करना सीख लेता है (जैसे, "मेज़" संज्ञा है)। बच्चे अपने उत्तरों के रूप में अध्यापक को निरंतर बताते रहते हैं कि किसी वर्गीकरण को वे कितना और कहां तक समझ पाये हैं। उदाहरणार्थ, तीसरी कक्षा में अध्यापक के पूछने पर कि "अंतप्रत्यय क्या होता है?", छात्र उत्तर देता है: "अंतप्रत्यय वाक्य में शब्द को अन्य शब्दों से जोड़ने का कार्य करता है।"

बच्चों को "अनाज" की संकल्पना से परिचित कराने के लिए पाठ्य-पुस्तक में बालियों और पौधों का चित्र बना होता है और अध्यापक सचमुच की बालियां और पौधे लाकर दिखाता है। एक निश्चित योजना के अनुसार उनकी विशेषताओं की जांच और विश्लेषण करके बच्चे बाह्य रूप के अनुसार इन वनस्पतियों में अंतर करना सीखते हैं, उनके प्रयोजन और बोवाई समय को याद रखते हैं, दूसरे शब्दों में, "अनाज" की संकल्पना को हृदयंगम करते हैं। इसी प्रकार वे, मिसाल के लिए, पालतू जानवरों, खेत, बाग, वन, जलवायु, आदि संकल्पनाओं को भी आत्मसात् करते हैं।

स्कूली बच्चों के वस्तुओं तथा परिघटनाओं के लक्षण तथा गुण विषयक निष्कर्षों के आधार में सामान्यतया यथार्थ वस्तुएं, ऐंद्रिक बिंब और वर्णन निहित होते हैं। किंतु साथ ही ये निष्कर्ष पाठ के विश्लेषण, उसके अलग-अलग हिस्सों की मानसिक तुलना, इन हिस्सों में मुख्य बातों को मानसिक तौर पर अभिलक्षित तथा एक सर्वांगपूर्ण चित्र में समेकित करने और, अंततः सभी विशिष्ट तत्त्वों को एक, कुछ हद तक नये, प्रत्यक्ष स्रोत से पृथक्कृत तथा अमूर्त ज्ञान का रूप धारण कर चुके निष्कर्ष में सामान्यीकृत करने का परिणाम होते हैं। "पतझड़ में बोयी हुई और सरदियों में बर्फ़ से ढकी रहनेवाली अनाज की फ़सल शीतकालीन फ़सल कहलाती है" – इस तरह का अमूर्त निष्कर्ष अथवा सामान्यीकृत ज्ञान ऐसी बौद्धिक **विश्लेषणात्मक व संश्लेषणात्मक सक्रियता** का ही फल है।

वस्तुओं तथा परिघटनाओं का वर्गीकरण करने की योग्यता आ जाने से बच्चे बौद्धिक सक्रियता के नये, जटिल रूप सीखने लग जाते हैं। बौद्धिक सक्रियता शनैःशनैः इंद्रिय-प्रत्यक्ष से विसंबद्ध होकर

एक अपेक्षया स्वतंत्र, अपनी विशिष्ट युक्तियों तथा रीतियोंवाली प्रक्रिया बन जाती है।

दूसरे चरण के अंत तक अधिकांश छात्र तब तक बन चुकी धारणाओं के अनुरूप और उनके बौद्धिक विश्लेषण तथा संश्लेषण के ज़रिये सामान्यीकरण करने लग जाते हैं। अध्यापक द्वारा विस्तार से समझाना और पाठ्य-पुस्तक में दिये हुए निबंध, कथाएं, आदि कई मामलों में इसके लिए सर्वथा पर्याप्त होते हैं कि वस्तुरूप सामग्री का प्रत्यक्ष सहारा लिये बिना संकल्पनाओं को हृदयंगम किया जा सके। ऐसे निष्कर्षों की संख्या बढ़ती जाती है, जिनमें दृश्य पहलू कम से कम होते हैं और वस्तुएं उनके न्यूनाधिक सारभूत संबंधों के अनुसार अभिलक्षित की जाती हैं।

आरंभिक स्कूली आयु के बच्चों के बौद्धिक विकास की प्रच्छन्न क्षमताएं

वर्तमान काल में अध्यापक और मां-बाप भी प्रायः पाते हैं कि सात-आठवर्षीय बच्चे कभी-कभी वस्तुओं के बारे में सामान्य जानकारी से ही संतुष्ट नहीं हो पाते। वे यह भी जानना चाहते हैं कि वे (वस्तुएं) वैसी **क्यों** हैं, **कैसे** बनायी गयी हैं, **क्यों** बनायी गयी हैं, वगैरह। ऐसी जिज्ञासा स्कूलपूर्व आयु के बच्चों में भी होती है, किंतु वे सामान्यतया किसी भी उत्तर से संतुष्ट हो जाते हैं।

आरंभिक स्कूली आयु के बच्चों के मामले में ऐसा नहीं होता। अपनी सारी जीवन व्यवस्था की बदौलत, किताबों, पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो, टेलीविजन और वयस्कों से प्राप्त ज्ञान की बदौलत वे बहुत बार सांयोगिक, सतही स्पष्टीकरण से **सहमत नहीं** हो पाते हैं और ऐसा उत्तर चाहते हैं, जो परिवेश से संबंधित उनकी काफ़ी हद तक **विकसित धारणाओं** से मेल खाता हो। आज का सातवर्षीय बच्चा अपने प्रश्नों का अपने पहले के समवयस्क की तुलना में कहीं अधिक पूर्ण, विस्तृत और सटीक उत्तर मांगता है। स्पष्ट है कि स्कूल इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकता। उसे बच्चे के सैद्धांतिक चिंतन के इन भ्रूण रूपों को ध्यान में रखना, विकसित करना और परिवेश की बहुत

सी वस्तुओं के अस्तित्व के कारणों तथा परिस्थितियों का समुचित स्पष्टीकरण देना ही पड़ता है। अतः यह ज़रूरी है कि प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों को ठोस बिंबात्मक चिंतन के साथ-साथ शनैःशनैः **अमूर्त** चिंतन की, जो वस्तुओं तथा परिघटनाओं के कारणों तथा मूलों को खोजता है और उनके **स्पष्टीकरण** की मांग करता है, सामान्यतया युक्तियां भी सिखायी जायें।

सोवियत एवं विदेशी मनोविज्ञानवेत्ताओं तथा शिक्षाशास्त्रियों का अनुभव बताता है कि आज के सात-दसवर्षीय बच्चों के संबंध में वे मापदंड सर्वथा अनुपयुक्त हैं, जिनसे इस आयु-वर्ग के बच्चों के चिंतन-विकास को **अतीत** में मापा जाता था। आज के इस आयु-वर्ग के बच्चे की **वास्तविक बौद्धिक क्षमताएं कहीं बड़ी तथा व्यापक हैं।** विशेष **प्रायोगिक** संस्थाओं में मनोविज्ञानवेत्ता बच्चों की बौद्धिक क्षमताओं का अध्ययन कर रहे हैं, ताकि इस आयु-वर्ग के बच्चे के चिंतन के विकास के लिए सर्वाधिक अनुकूल परिस्थितियों का पता लगाया जा सके। विशेषतः यह पाया गया है कि कुछ खास तरह की परिस्थितियां बनाये जाने पर प्राथमिक कक्षाओं के बच्चे गणित तथा मातृभाषा से संबंधित ऐसी अमूर्त सैद्धांतिक सामग्री को भी सफलतापूर्वक हृदयंगम कर लेते हैं, जो पहले के पाठ्यक्रमों में बिल्कुल भी शामिल नहीं थी और वर्तमान पाठ्यक्रमों में भी केवल आंशिक तथा स्थूल रूप से सम्मिलित की गयी है। अतः शिक्षा प्रक्रिया का गठन यों किया जाना चाहिए कि हर बच्चे के सर्वांगीण बौद्धिक विकास के लिए इन क्षमताओं से सक्रिय लाभ उठाया जा सके।

सोवियत संघ के प्राथमिक शिक्षा के वर्तमान पाठ्यक्रम प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों की वास्तविक संज्ञानात्मक क्षमताओं के व्यावहारिक उपयोग की दिशा में पहले प्रयास हैं। इन पाठ्यक्रमों में छात्रों को दिये जानेवाले ज्ञान के **सैद्धांतिक** पक्ष को, यानी जिसके लिए परिघटनाओं के स्पष्टीकरण और संबंध निर्धारण (सामान्यीकरण) की ज़रूरत पड़ती है, उसको काफ़ी गहन तथा व्यापक बनाया गया है। इससे बच्चे तार्किक ढंग से सोचने की, अमूर्त चिंतन की सामान्य, किन्तु महत्त्वपूर्ण युक्तियों के अभ्यस्त बनते हैं। पहली नज़र में नयी सामग्री बच्चों के "बस के बाहर" लग सकती है। किंतु अधिकांश मामलों में ऐसी

आशंकाएं व्यर्थ हैं। शिक्षण विधियां यदि ठीक हों और अध्यापक यदि पर्याप्त कुशल हो, तो बच्चे नये पाठ्यक्रम को आत्मसात् करने में कोई कठिनाई अनुभव नहीं करते। असल में जीवन का तब तक का सारा अनुभव उन्हें इसके लिए तैयार कर चुका होता है।

§७. प्राथमिक कक्षाओं क बच्चों के व्यक्तित्व का विकास

नैतिक मानकों और आचार-व्यवहार के नियमों का आत्मसात्करण

बच्चे की नैतिक शिक्षा स्कूलपूर्व आयु में ही आरंभ हो जाती है। किंतु जहां तक ऐसी नैतिक अपेक्षाओं की स्पष्ट और विशद प्रणाली का प्रश्न है, जिनके पालन पर निरंतर और सोद्देश्य ढंग से नज़र रखी जाती है, तो उससे उसका प्रथम साक्षात्कार स्कूल में पहुंचने पर ही होता है। स्कूल में उसे आचार-व्यवहार के काफ़ी व्यापक नियमों तथा मानकों से अवगत किया जाता है और विभिन्न स्थितियों में अध्यापकों तथा वयस्कों के साथ व्यवहार में, कक्षा में और कक्षा के बाहर साथियों के साथ संबंधों में, सार्वजनिक स्थलों पर और घर के बाहर उसे इनसे निदेशित होना पड़ता है। सात-आठ वर्ष का बच्चा मानसिक दृष्टि से इस लायक होता है कि इन नियमों और मानकों को स्पष्टतः समझ सके और अपने दैनंदिन जीवन में उनका अनुसरण भी करे। किंतु कभी-कभी अध्यापकों तथा अन्य वयस्कों द्वारा उसकी इस तैयारी का समय पर लाभ नहीं उठाया जाता। उससे अपनी अपेक्षाएं तय करते हुए, कभी-कभी देर तक उन्हें समझाते रहते हुए वे हमेशा ही अपने आदेशों के वस्तुतः पालन की सुसंगत रूप से और कठोरता-पूर्वक जांच भी नहीं करते। फलस्वरूप बच्चों को लगने लगता है कि आचार-व्यवहार के नियमों तथा मानकों का पालन काफ़ी हद तक वयस्कों की मनःस्थिति पर, स्थितियों पर और स्वयं उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर होता है। इस तरह बच्चे के नैतिक चरित्र के सामान्य विकास का एक सबसे खतरनाक शत्रु पैदा हो जाता है, यानी यह धारणा

क आचार-व्यवहार के नियम तथा मानक मात्र औपचारिक होते हैं और उनका पालन आंतरिक आवश्यकतावश नहीं, अपितु बाह्य परिस्थितियों के दबाव से ही, जिनमें दंड का भय भी शामिल है, किया जाता है।

बच्चे द्वारा आचार-व्यवहार के नियमों तथा मानकों के वास्तविक और पूर्ण आत्मसात्करण के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि अध्यापक के पास उनके पालन पर निगरानी रखने की सुविचारित विधियां और साधन हों। इन नियमों तथा मानदंडों का स्पष्ट निर्धारण, उनके पालन के लिए प्रोत्साहन और उल्लंघन तथा लापरवाही पर अनिवार्यतः तदनुरूप प्रतिक्रिया प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों में अनुशासनप्रियता तथा संगठनबद्धता की भावना पैदा करने की आवश्यक शर्तें हैं। इस आयु में बच्चे में यदि ये नैतिक गुण उत्पन्न हो जायें, तो फिर वे उसके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग बन जाते हैं।

प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के आपसी और अध्यापक के साथ संबंध

संयुक्त शिक्षा सक्रियता की प्रक्रिया में बच्चों के बीच आपस में नये संबंध कायम होते हैं। स्कूल में पहले कुछ सप्ताहों के बाद ही अधिकांश बच्चों का ढेर सारे नये अनुभवों के कारण उत्पन्न संकोच और घबड़ाहट जाते रहते हैं। वे अपनी डेस्क पर बैठे दूसरे बच्चे के व्यवहार को गौर से देखने लगते हैं और जो सहपाठी अच्छे लगते हैं अथवा जिनसे वे रुचिसाम्य पाते हैं, उनसे दोस्ती कर लेते हैं। नये परिवेश, नये समुदाय में अपना स्थान खोजने के पहले चरणों में कुछ बच्चे अपने सामान्य स्वभाव के विपरीत व्यवहार करते पाये जाते हैं, जैसे कुछ बच्चे अत्यधिक संकोची बन जाते हैं और कुछ ज़रूरत से ज़्यादा उच्छृंखल। किंतु अन्य बच्चों के साथ संपर्क बढ़ते जाने पर हर छात्र अपनी वास्तविक वैयक्तिक विशेषताएं विकसित कर लेता है।

प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के परस्पर संबंधों की एक अनन्य विशेषता यह है कि उनकी दोस्ती आम तौर पर **बाह्य जीवनीय परिस्थितियों और सांयोगिक रुचियों की साम्यता पर** आधारित होती है

(जैसे, वे एक ही डेस्क पर बैठते हैं, एक ही इमारत में रहते हैं, एक ही जैसी किताबें पढ़ते हैं, वगैरह)। इन बच्चों की चेतना का स्तर अभी ऐसा नहीं होता कि समवयस्कों का मत अपने वास्तविक आत्ममूल्यांकन की कसौटी बन सके। बेशक, नौ-दसवर्षीय बच्चे अपनी चतुराई, फुर्तीलेपन, सूझ-बूझ, साहस, आदि के बारे में सहपाठियों की राय जानने को उत्सुक रहते हैं और यदि यह राय अच्छी न रही, तो बेहद बुरा भी मानते हैं। किंतु यह बुरा मानना क्षणिक होता है और उसे सहज ही भुला दिया जाता है, यदि वयस्कों अथवा अध्यापक की राय अच्छी हो। वयस्कों और अध्यापक की राय इस आयु-वर्ग के बच्चों के लिए सर्वोपरि और सबसे महत्त्वपूर्ण होती है।

प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के संवेग और उनका विकास

आचार-व्यवहार के नये नियमों तथा मानकों का आत्मसात्करण प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के संवेगों की विशेषताओं को काफ़ी हद तक बदल डालता है। सामान्यतः बहुत से बच्चों के मामले में यह नकारात्मक भावनाओं को जन्म नहीं देता और स्वयं बच्चों द्वारा भी इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया जाता है। उन्हें सहपाठियों से दोस्ती करके खुशी होती है, कक्षा या समुदाय द्वारा अगर कोई काम सौंपा जाता है, तो उसपर गर्व करते हैं, स्कूली आचार-व्यवहार के नियमों को गंभीरतापूर्वक लेने लगते हैं।

शिक्षा सक्रियता के दौरान अन्य मानसिक प्रक्रियाओं की भांति संवेगों का सामान्य स्वरूप भी बदल जाता है। शिक्षा सक्रियता संयुक्त क्रियाएं करने की कठोर अपेक्षाओं की प्रणाली से, सचेतन अनुशासन से और साभिप्राय ध्यान तथा स्मरण से जुड़ी होती है। इन सबका बच्चों के संवेगों पर प्रभाव पड़ता है। संवेगों की अभिव्यक्ति के मामले में अधिकाधिक संयम और जागरूकता बरती जाने लगती है और संवेगात्मक स्थितियां अधिक स्थायी बन जाती हैं। प्राथमिक कक्षाओं के बच्चे अपनी मनःस्थिति पर नियंत्रण रखना और कभी-कभी तो उसका बिल्कुल विपरीत आभास देना भी सीख लेते हैं (इसमें उनके आयु-वर्ग

की एक मुख्य विशेषता – साभिप्राय मानसिक प्रक्रियाओं का विकास – प्रकट होती है)। आरंभिक स्कूली आयु के बच्चे स्कूलपूर्व आयु के बच्चों के मुकाबले और किशोरों के मुकाबले भी अधिक संतुलित-स्वभाव होते हैं। उनकी हर्ष और उल्लाससूचक मनःस्थिति अधिक टिकाऊ और दीर्घकालिक होती है। इसके साथ ही इस आयु-वर्ग के बच्चों में कुछ नकारात्मक भावावस्थाएं भी पायी जाती हैं, जिसका मुख्य कारण मांगों, आवश्यकताओं और उनकी तुष्टि की संभावना के स्तरों के बीच अंतर है। यदि अंतर देर तक बना रहता है और बच्चा उसे दूर करने अथवा अल्पप्रभावी बनाने का साधन नहीं खोज पाता, तो नकारात्मक भावनाएं क्रोध और क्षोभ से भरपूर कथनों और हरकतों के रूप में व्यक्त हो जाती हैं। ऐसे संवेगात्मक संक्षोभों को रोकने के लिए अध्यापक को अपने छात्रों की वैयक्तिक विशेषताओं को अच्छी तरह जानना चाहिए। संतुष्टि, जिज्ञासा और श्लाघा जैसी भावनाएं स्वयं शिक्षा सक्रियता के दौरान उत्पन्न होती हैं।

सोवियत प्राथमिक शिक्षा की सारी अंतर्वस्तु का एक उद्देश्य बच्चों में सामूहिकता, अंतर्राष्ट्रीयतावाद, कर्त्तव्यबोध, ईमानदारी और श्रम-प्रेम की भावनाएं पैदा करना भी है। इसमें सोवियत स्कूली बच्चों के "अक्तूबर के शिशु" नामक दल और "पायनीयर" संगठन भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इनमें बच्चे उन्हें सौंपे गये कार्य के लिए निजी और सामूहिक उत्तरदायित्व का अनुभव पहली बार अर्जित करते हैं। ये संगठन बच्चों को निरंतर अहसास कराते हैं कि उनकी शैक्षिक प्रगति पर नज़र रखी जा रही है।

अध्याय ५

किशोर की मानसिक विशेषताएं

§१. बच्चे के विकास में किशोरावस्था का स्थान और महत्त्व

किशोर आयु-वर्ग में सामान्यत: पांचवीं से आठवीं कक्षाओं, यानी ११-१२ से १४-१५ वर्ष तक की आयु के बच्चों को सम्मिलित किया जाता है।

बच्चे के विकास में किशोर-आयु की विशेष स्थिति उसके अन्य नामों में प्रतिबिंबित होती है, जैसे "संधि-काल", "कठिन वय", "संकट-काल", आदि। ये नाम दिखाते हैं कि इस आयु में घटनेवाली जीवन के एक दौर से दूसरे दौर में संक्रमण से संबंधित विकास-प्रक्रियाएं कितनी जटिल और महत्त्वपूर्ण हैं। **बाल्यावस्था से वयस्कता में संक्रमण** ही इस आयु में होनेवाले सारे विकास – शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक विकास – की मुख्य अंतर्वस्तु और विशिष्ट लक्षण है। **बच्चे के जीवन के सभी क्षेत्रों में गुणात्मक रूप से नयी निर्मितियां पनपती हैं।** शरीर, चेतना, वयस्कों तथा साथियों के साथ संबंधों के प्ररूप, उनके साथ सामाजिक अन्योन्यक्रिया की रीतियों, रुचियों, संज्ञानमूलक तथा शिक्षा सक्रियता और व्यवहार, सक्रियता तथा संबंधों को व्यवहित करनेवाले नैतिक तथा नीतिक मानदंडों के पुनर्गठन के परिणामस्वरूप वयस्कता के नये तत्त्व प्रकट होते हैं।

किशोर के व्यक्तित्व के विकास का प्रमुख कारक उसकी अपनी महती सामाजिक क्रियाशीलता है, जो कुछ निश्चित प्रतिमानों तथा मूल्यों के आत्मसात्करण, वयस्कों तथा साथियों के साथ मनोवांछित

संबंधों की स्थापना और, अंततः, स्वयं अपनी ओर (अपने व्यक्तित्व तथा अपने भविष्य को प्रक्षेपित करने और इरादों, लक्ष्यों, कार्यों, आदि को साकार बनाने के प्रयत्नों की ओर) लक्षित होती है।

किंतु नये के पनपने की प्रक्रिया काफ़ी दीर्घ होती है। वह कई परिस्थितियों पर निर्भर होती है और उसका सर्वत्र **एकरूप होना भी अनिवार्य नहीं है।** इसी कारण एक ओर तो किशोर में "बचपना" और "वयस्कता" दोनों एक साथ पाये जाते हैं और, दूसरी ओर, एक ही आयु के किशोरों में वयस्कता के विभिन्न पहलुओं के विकास के स्तर भिन्न-भिन्न होते हैं। आज के स्कूली छात्रों की जीवन परिस्थितियों में दो तरह की बातें पायी जाती हैं: १) वयस्कता के विकास में **बाधक** (बच्चों का अन्य स्थायी और गंभीर कामों के अभाव में केवल पढ़ाई में ही लगे रहना, बहुत से मां-बाप का बच्चों पर घरेलू कामकाज, चिंताओं, आदि का कोई बोझ न डालना, हर बात में उनकी सरपरस्ती करना); २) वयस्क बनने में **सहायक** (सूचना का अपरिमित प्रवाह, शारीरिक विकास और यौवनारंभ का त्वरण, बहुत से मां-बाप की अत्यधिक व्यस्तता और इसके फलस्वरूप बच्चों का जल्दी ही आत्मनिर्भर बनना)।

यह सब विकास को निर्धारित करनेवाली बहुत ही विविध परिस्थितियों को जन्म देता है और इस कारण वयस्कता के विभिन्न पहलुओं के विकास में इतनी अधिक अनेकरूपता और गंभीर अंतर सामने आते हैं। उदाहरणार्थ, सातवीं कक्षा में अगर एक ओर ऐसे लड़के पाये जाते हैं, जो अभी बिल्कुल बच्चे हैं और जिनकी रुचियां बिल्कुल छोटे बच्चों जैसी हैं, तो दूसरी ओर, ऐसे लड़के भी पाये जाते हैं, जो काफ़ी प्रौढ़ बन चुके हैं और वयस्क जीवन के कई पहलुओं से निकट परिचय पा चुके हैं; अगर एक ओर ऐसे लड़के पाये जाते हैं, जो "बौद्धिक" हैं और जिनकी स्थिर, सारगर्भित रुचियां हैं, तो, दूसरी ओर, कुछ लड़के ऐसे भी होते हैं, जिनकी कोई रुचियां नहीं होतीं और जो शिक्षा सामग्री को भी हृदयंगम नहीं कर पाते; अगर एक ओर ऐसे लड़के होते हैं, जिन्हें खेलकूद और साथियों के साथ ज़्यादा से ज़्यादा समय बिताने का ही शौक है और जो भविष्य के बारे में नहीं सोचते, तो, दूसरी ओर, ऐसे लड़के भी पाये जाते हैं, जो भावी पेशे

के लिए अपने को सचेतन रूप से अभी से तैयार करने लग गये हैं। इसी तरह कुछ लड़कियां ऐसी होती हैं, जो बड़ी लगन से पढ़ती हैं, तरह-तरह की बातों में रुचि लेती हैं और कुछ लड़कियां अपने को फ़ैशन और लड़कों के बारे में सोचने तक ही सीमित रखती हैं। कुछ बच्चे बिगड़े हुए और सिर्फ़ अपने से मतलब रखनेवाले होते हैं, तो दूसरे खुद ही घर में और बाहर औरों की मदद के लिए तत्पर रहते हैं।

किशोरों में वयस्कता के विकास की सामान्य दिशाएं भिन्न-भिन्न हो सकती हैं और हर दिशा के भी अनेकानेक रूप हो सकते हैं। उदाहरण-स्वरूप, एक "बौद्धिक" के लिए पुस्तकें और ज्ञान जीवन में सर्वोपरि हो सकते हैं और बहुत सी अन्य बातों में वह "बच्चा" ही रह सकता है, मगर उसी का सहपाठी दूसरा "बौद्धिक" घर पर तो इलेक्ट्रानिकी की किताबें पढ़ता है, रेडियो तकनीक में रुचि लेता है, मगर कक्षा में कुछ नहीं करता, अपनी शक्ल-सूरत संवारने और अपने से बड़े लड़कों के साथ मेलजोल बढ़ाने की चिंता में ही लगा रहता है, जिनके साथ जीवन के अर्थ से लेकर फ़ैशन और नवीनतम केशसज्जा तक किसी भी बात पर चर्चा की जा सकती है। तीसरे प्रकार के "बौद्धिक" को वयस्कता उसकी बाह्य अभिव्यक्तियों में खास आकर्षित नहीं करती, किंतु वह अपने में पुरुषत्व के गुणों के विकास पर बड़ा ध्यान देता है और जहां तक लड़कियों का संबंध है, तो उनके सामने, उनकी राय में, नटखट बच्चे की तरह पेश आता है। इन तीनों ही मिसालों में, जिनमें केवल एक ही बात समान है, वयस्कता का विकास अलग-अलग ढंग से हुआ है और इस तरह अंतर्वस्तु की दृष्टि से भिन्न-भिन्न जीवन-मूल्यों का निर्माण हुआ है। किशोरावस्था इस कारण एक महत्वपूर्ण अवस्था है कि **उसमें व्यष्टि की नैतिक तथा सामाजिक मान्यताओं की बुनियाद पड़ती है और उनके विकास की सामान्य दिशा निर्धारित होती है।**

किशोरावस्था को कठिन और क्रांतिक वय कहा जाता है। इसका कारण पहले तो यह है कि इस आयु में बच्चे की विशेषताओं, रुचियों और संबंधों में अनेकानेक गुणात्मक परिवर्तन आते हैं। कभी-कभी तो वे पूरी तरह से ही बदल जाते हैं। यह अपेक्षया कम समय में भी हो सकता है और अप्रत्याशित होने के कारण विकास की सारी प्रक्रिया को

छलांगनुमा तीव्र बना देता है। दूसरे, ये सब परिवर्तन अपने साथ, एक ओर, स्वयं किशोर द्वारा अनुभव की जानेवाली विविध आत्मपरक कठिनाइयां और, दूसरी ओर, उसकी शिक्षा तथा पालन में पैदा होनेवाली कठिनाइयां लेकर आते हैं: किशोर वयस्कों का प्रभाव आसानी से नहीं स्वीकारता और तरह-तरह से अनाज्ञाकारिता, विरोध तथा विद्रोह दिखाने लगता है (अड़ियलपन, उद्दंडता, धृष्टता, नकारात्मकता, आत्मसीमितता, संप्रेषण की अनिच्छा, इत्यादि के ज़रिये)।

गत आधी शती से अधिक से कैशोर्यकालीन क्रांतिक विकास की परिघटनाओं के जन्म में जैविक और सामाजिक पहलुओं की भूमिका के बारे में विशेषज्ञों के बीच सैद्धांतिक बहस चल रही है।

§२. किशोर के शरीर में रचना और क्रिया संबंधी परिवर्तन

किशोर के विकास में शारीरिक कारक की समस्या इसलिए पैदा होती है कि इसी आयु में शरीर में **दैहिक प्रौढ़ता की ओर ले जानेवाले बुनियादी परिवर्तन आते हैं और लैंगिक परिपाक (यौवनारंभ) की प्रक्रिया आरंभ होती है।** इस सबके पीछे शरीर के आकृतिक और क्रिया संबंधी पुनर्गठन की प्रक्रियाएं छिपी होती हैं।

शरीर का पुनर्गठन हाइपोफ़िसिस, विशेषत: उसके अग्रांश के सक्रिय होने से संबद्ध है, जिसके हार्मोन ऊतकों की अभिवृद्धि तथा महत्त्वपूर्ण अंत:स्रावी ग्रंथियों (लिंग, अवटु तथा अधिवृक्क ग्रंथियों) की क्रिया को उद्दीप्त करते हैं। उन सबकी मिली-जुली क्रिया बच्चे के शरीर में अनेकानेक परिवर्तनों को जन्म देती है, जिनमें सबसे प्रकट "वृद्धि-छलांग" और यौवनारंभ (यौन अंगों का विकास और गौण लैंगिक लक्षणों का प्रादुर्भाव) हैं। ये प्रक्रियाएं सबसे अधिक तेज़ी से लड़कियों में ११-१३ वर्ष की आयु में और लड़कों में १३-१५ वर्ष की आयु में घटती हैं। वर्तमान काल में बच्चों में शारीरिक विकास तथा यौवनारंभ का **त्वरण** देखा जा रहा है, इसलिए लड़कियों में ९-१० वर्ष की आयु में ही लिंग ग्रंथियों की सक्रियता और स्तन ग्रंथियों का निर्माण

आरंभ हो सकता है, और १०-११ वर्ष की आयु में तो कुछ यौवनारंभ की अवस्था में भी पहुंच सकती हैं (लड़कों के मामले में यह १२-१३ वर्ष की आयु में हो सकता है)।

पिछले वर्षों में किये गये अध्ययन लैंगिक परिपाक के स्तर और कायमितीय निदर्शों के बीच किसी निश्चित संबंध को तो नहीं दर्शाते, किंतु, दूसरी ओर, कद, भार तथा वक्ष के घेरे में वृद्धि ही किशोरावस्था में शारीरिक विकास का वह विशिष्ट पहलू है, जिसे "वृद्धि-छलांग" के विशेष नाम से पुकारा जाता है। इसकी बदौलत बच्चे की शक्ल की तुलना में किशोर की शक्ल बदल जाती है और शरीर के सामान्य आयाम लगभग वयस्क के शरीर के सामान्य आयामों जैसे बन जाते हैं। कपाल के आनन भाग के सघन विकास के परिणामस्वरूप चेहरा बदल जाता है, किंतु मस्तिष्क का आकार बहुत कम ही बदलता है। ११-१२ से १५-१६ वर्ष की आयु में मेरुदंड का विकास शरीर की लंबाई की वृद्धि से एक वर्ष पिछड़ा रहता है। चूंकि १४ वर्ष की आयु में कशेरुकाओ के बीच की जगह अभी उपास्थियों से पूरित रहती है, अतः शरीर की अवस्थिति सही न होने पर, देर तक शरीर के एक ही भाग पर ज़ोर देते रहने पर अथवा अत्यधिक शारीरिक श्रम करने पर रीढ़ में विकृति आ सकती है। ठवन के अधिकतम विकार ११-१५ वर्ष की आयु में ही पैदा होते हैं, यद्यपि उन्हें सुधारना भी सर्वाधिक सरल इसी आयु में होता है। श्रोणि अस्थियों (जिनके बीच लड़कियों के यौन अंग स्थित होते हैं) का बढ़ना २०-२१ वर्ष की आयु में जाकर पूरा होता है। बहुत ऊंचाई से कूदने पर वे और अविकसित अस्थियां स्थानच्युत हो सकती हैं। ऊंची एड़ी की जूतियां पहनने पर श्रोणि का आकार बदल सकता है, जो आगे चलकर जनन-प्रकार्य के लिए हानिकर सिद्ध हो सकता है।

पेशी संहति और पेशी शक्ति की सर्वाधिक वृद्धि यौवनारंभ काल के अंत में होती है। लड़कों की मांसपेशियों का विकास पुरुषों के ढंग से होता है और लड़कियों के मृदु ऊतकों का स्त्रियों के ढंग से। इससे उनमें तदनुरूप पुरुषत्व अथवा स्त्रीत्व के लक्षण आ जाते हैं। किंतु इस प्रक्रिया का अंत कैशोर्योत्तर अवस्था में जाकर ही होता है।

मांसपेशियों की शक्ति बढ़ने से शारीरिक शक्ति में भी वृद्धि होती

है। **लड़के इसे महसूस कर लेते हैं और उनमें से हर किसी के लिए इसका बड़ा महत्त्व होता है।** किंतु किशोर की पेशियां वयस्कों के मुकाबले जल्दी थक जाती हैं और अभी दीर्घ तनाव को झेलने में समर्थ नहीं होतीं। खेलकूद और शारीरिक श्रम के दौरान इस तथ्य को ध्यान में अवश्य रखा जाना चाहिए। **शरीर में गति-प्रेरक तंत्र का पुनर्गठन होने पर गतियों में लयात्मकता कम हो जाती है और शरीर पर नियंत्रण नहीं रखा जाता** (अत्यधिक हरकतें, उनका अपर्याप्त समन्वय, अनाड़ीपन, झटके से कुछ करना)। **इससे अप्रिय अनुभूतियां और आत्म-विश्वास की कमी उत्पन्न हो सकती हैं।** किंतु ६-८ से १३-१४ वर्ष तक की आयु अनेक गति-प्रेरक विशेषताओं के आदर्श विकास और गति-प्रेरक क्रिया के सक्रिय सुधार तथा उसके कई निदर्शों (गतियों की तीव्रता तथा प्रायिकता, कूद की लंबाई, इत्यादि) की सघन वृद्धि का काल भी होती है।

विभिन्न अंगों तथा ऊतकों की संवृद्धि को देखते हुए हृदय को अधिक सघनता से काम करना पड़ता है। हृदय भी बढ़ता है, किंतु धमनियों से कहीं अधिक तेज़ी से। इस कारण हृद्वाहिका तंत्र में क्रियात्मक विकार उत्पन्न हो सकते हैं, जिनकी अभिव्यक्ति तेज़ धड़कन, बढ़े हुए रक्त दाब, सिर चकराने, सिर दुखने, जल्दी थकने, आदि में पायी जाती है।

किशोर आयु में अंतःस्रावी ग्रंथियों में परिवर्तनों की वजह से अंगों के आंतरिक परिवेश में आकस्मिक परिवर्तन आते हैं। अवटु और लिंग ग्रंथियों के हार्मोन चयापचय के उत्प्रेरक का काम भी करते हैं। चूंकि अंतःस्रावी और तंत्रिका तंत्र क्रियात्मक दृष्टि से परस्पर संबद्ध होते हैं, **किशोरावस्था में एक ओर तो शक्ति में तीव्र उभार आता है और, दूसरी ओर, विकारी प्रभावों के प्रति संवेदनशीलता बढ़ जाती है।** इसीलिए शारीरिक और बौद्धिक क्लांति, दीर्घ तंत्रिका तनाव और भय, क्रोध, अवज्ञा व अपमानबोध, आदि संवेग **अंतःस्रावी विकारों** (कुछ समय के लिए ऋतुस्राव चक्र का रुक जाना, अवटु अतिक्रियता का बढ़ना) और **तंत्रिका तंत्र के प्रकार्य विकारों** (अतिशय चिड़-चिड़ापन, अति संवेदनशीलता, अतिशय थकावट, नियंत्रण तंत्रों की क्षीणता, अन्यमनस्कता, काम में उत्पादिता घटना, नींद ठीक से न

आना, आदि) का कारण बन सकते हैं। **किशोर के असंतुलित स्वभाव, चिड़चिड़ेपन, विस्फोटकता, गति सक्रियता, क्लांति और उदासीनता के मूल में प्रायः तंत्रिका-देहद्राव संबंधों का पुनर्गठन ही निहित होता है।** लड़कियों के मामले में ऐसी अवस्थाएं बहुत बार ऋतुस्राव के आरंभ से कुछ पहले और उसके दौरान भी पायी जाती हैं।

किशोर की मानसिक निर्मितियों के आविर्भाव में उसका शारीरिक विकास और यौवनारंभ बहुत महत्त्व रखते हैं। पहली बात तो यह है कि स्वयं किशोर के लिए अत्यंत वास्तविक ये परिवर्तन उसे यथार्थतः अधिक वयस्क बना देते हैं और **अपने वयस्क बनने की अनुभूति** के पैदा होने (वयस्कों से अपनी समानता के आधार पर) के लिए स्रोत का काम करते हैं। दूसरे, यौवनारंभ **दूसरे लिंग के लोगों में रुचि के विकास और नयी अनुभूतियों, भावनाओं तथा संवेदों की उत्पत्ति** को प्रेरित करता है। किशोर नयी अनुभूतियों और भावनाओं में कितना खोया, कितना मग्न रहता है और उनका उसके जीवन में क्या स्थान है, यह उसके जीवन तथा शिक्षा की व्यापक सामाजिक व वैयक्तिक परिस्थितियों पर और उसके सामाजिक संपर्क की विशेषताओं पर निर्भर होता है। जो किताबें किशोर की आयु के अनुरूप नहीं हैं, उन्हें पढ़ने और वयस्कों के लिए सृजित फ़िल्में देखने का किशोर पर बुरा असर पड़ सकता है। यह सब और साथियों के साथ प्रेम तथा सेक्स की विभिन्न समस्याओं के बारे में बातें करना मानवीय संबंधों के अंतरंग पहलू में रुचि, काम प्रवृत्तियों और समयपूर्व कामुकता को उभारते हैं। पहली रोमांटिक भावनाओं का जागरण ही दोनों लिंगों के किशोरों के लिए सामान्य बात है।

§३. किशोरावस्था के "संकट" की समस्या के प्रति विभिन्न सैद्धांतिक उपागम

किशोर के शरीर में आनेवाले रचना तथा क्रिया संबंधी गंभीर परिवर्तन बहुत समय तक किशोर की विशेषताओं और इस आयु में होनेवाले क्रांतिक विकास की परिघटनाओं के जैव मूल विषयक विभिन्न

सिद्धांतों के लिए आधार का काम करते रहे थे। अमरीकी मनोविज्ञान-वेत्ता स्टेनली हॉल (१८४४-१९२४) तथा आस्ट्रियाई मनोविज्ञानवेत्ता सिगमंड फ़ायड (१८५६-१९३९) के सिद्धांत और वर्तमान शती के प्रथम चतुर्थांश में प्रचलित ज़्यादातर सिद्धांत जैव मूल की धारणा पर ही आधारित थे। हॉल और फ़ायड, जिन्होंने मनोविज्ञान के क्षेत्र में जीवज सार्विकता नामक धारा का प्रवर्तन किया था, किशोरावस्था में संकट और कई विशेषताओं की विद्यमानता को उनके जैव मूल के कारण एक अपरिहार्य और सार्विक परिघटना मानते थे।

तीसरे और चौथे दशकों में जीवज सार्विकता की विरोधी धारा ज़ोर पकड़ने लगी, क्योंकि तब तक विभिन्न देशों में ऐसे पर्याप्त अध्ययन किये जा चुके थे, जो दिखाते थे कि किशोर के व्यक्तित्व के कुछ पहलू उसके सामाजिक परिवेश पर निर्भर होते हैं। ऐसा सैद्धांतिक रुझान कतिपय सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं में भी देखा जा सकता था। उदा-हरणार्थ ल० स० विगोत्स्की ने परिपक्वता के तीन बिंदुओं – लैंगिक, शारीरिक और सामाजिक – के असंपात का सिद्धांत पेश किया था और कहा था कि यह असंपात ही किशोरावस्था की मुख्य विशेषता और मुख्य अंतर्विरोध है।

जीवज सार्विकता के सिद्धांतों पर प्रबल चोट अमरीकी मानव-विज्ञानवेत्ताओं ने भी की, जो यह जानने के लिए "आदिम सभ्यताओं" का अध्ययन कर रहे थे कि मनुष्य में क्या "प्रकृति" द्वारा निर्धारित किया जाता है और क्या "संस्कृति", यानी जीवन व विकास की ठोस सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा। समोआ द्वीप के किशोरों का अध्ययन करके मार्गरेट मीड (संयुक्त राज्य अमरीका) ने सिद्ध किया कि किशोरावस्था में संकट और द्वंद्वों की अनिवार्यता की बात निराधार है और इस संकट तथा इन द्वंद्वों का मूल सामाजिक है, न कि जैव। उन्होंने समोआ के किशोरों में **बाल्यावस्था से वयस्कता में सामंजस्यपूर्ण, द्वंद्वरहित संक्रमण** का अस्तित्व पाया और उनकी रहन-सहन की परिस्थितियों, पालन की विशेषताओं और परिवेश के साथ बच्चों के संबंधों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। मीड ने लड़कियों के मामले में किशोर वय को कुल मिलाकर सबसे मधुर और बाल्यकाल और वयस्कता की तुलना में कहीं अधिक स्वच्छंदतापूर्ण काल बताया।

बाद में उन्होंने दर्शाया कि पहले तो लड़की के लिए यौवनारंभ सर्वाधिक महत्त्व रखनेवाला आत्मपरक कारक नहीं भी हो सकता है और वह उसके जाने बिना भी गुज़र सकता है और, दूसरे, यौवनारंभ कबीले के जीवन के लिए और स्वयं लड़की के लिए अलग-अलग अर्थ रख सकता है, कुछ मामलों में यह लड़की की वयस्कता की मान्यता का और विवाह संस्कार के लिए तैयारी का संकेत होता है और कुछ मामलों में लड़की के अधिकारों तथा दायित्वों में नगण्य सा परिवर्तन ही लाता है। मानवविज्ञानियों ने अपने अध्ययनों द्वारा सिद्ध किया है कि किशोरावस्था की अवधि भिन्न-भिन्न हो सकती है। कुछ कबीलों में तो वह कुछ ही महीने जारी रहती है।

इसी प्रकार किशोर लड़कों में ईडिपस मनोग्रंथि की अनिवार्यता का भी खंडन किया गया और सिद्ध किया गया कि किशोरावस्था में संकट भी अनिवार्य नहीं है, जब किशोर को वयस्क की हैसियत के लिए विशेषतः तैयार किया जाता है (दीक्षा-संस्कार अथवा इनिशिये-शन), तब भी और जब वह इस हैसियत की अपेक्षाओं को पूरा करना शनैःशनैः सीखता है, तब भी।

आर० बेनेडिक्ट (संयुक्त राज्य अमरीका) ने नृजातिवृत्तात्मक सामग्री का सामान्यीकरण करके **बाल्यावस्था से वयस्कता में संक्रमण के दो प्ररूप** पाये: १) अनवरत और २) बच्चा बचपन में जो सीखता है, उसके और वयस्क की भूमिका के निर्वाह के लिए जो व्यवहार की रीतियां तथा धारणाएं आवश्यक हैं, उनके बीच अंतराल सहित। पहला प्ररूप तब पाया जाता है, जब व्यवहार के मानक व अपेक्षाएं बच्चों के मामले में अलग और वयस्कों के मामले में अलग नहीं होते। ऐसी हालत में विकास सहज होता है, बच्चा शनैःशनैः वयस्क व्यवहार की रीतियां सीखता जाता है और जब वयस्क बन जाता है, तो अपने को उस हैसियत की अपेक्षाएं पूरी करने के लिए तैयार पाता है। संक्रमण का दूसरा प्ररूप तब पाया जाता है, जब व्यवहार के मुख्य मानक व अपेक्षाएं बच्चों तथा वयस्कों के मामले में भिन्न-भिन्न होते हैं (बेनेडिक्ट और मीड इसे आधुनिक अमरीकी व अन्य सुविकसित औद्योगिक समाजों के लिए लाक्षणिक मानती थीं)। इस हालत में वयस्कता में संक्रमण बाह्य तथा आंतरिक द्वंद्वों के साथ होता है और इसका एक निश्चित

परिणाम निकलता है – "औपचारिक" वयस्कता प्राप्ति पर भी वयस्क की भूमिका के निर्वाह के लिए अपने को तैयार न पाना। बेनेडिक्ट ने इस बात पर ज़ोर दिया था कि बाल्यावस्था से वयस्कता में संक्रमण का मार्ग भिन्न-भिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न होता है और उनमें से किसी को भी वयस्कता की ओर ले जानेवाली "प्राकृतिक" पगडंडी नहीं कहा जा सकता।

मानववैज्ञानिक और नृजातिवृत्तात्मक अनुसंधानों का बहुत बड़ा सैद्धांतिक महत्त्व है। उन्हीं की मदद से यह सिद्ध किया जा सका कि **बच्चे के जीवन की ठोस सामाजिक परिस्थितियों** पर निम्न बातें निर्भर होती हैं: १) किशोरावस्था की अवधि; २) संकट, द्वंद्वों तथा कठिनाइयों की विद्यमानता अथवा अभाव; ३) बाल्यकाल से वयस्कता में संक्रमण का रूप। इन अनुसंधानों से जो निष्कर्ष निकला है, वह फ़्रायडवाद के निष्कर्ष के विपरीत है: **मनुष्य में जो नैसर्गिक है, उसे सामाजिक के विरोध में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि उसमें सब नैसर्गिक सामाजिक है।**

मानवविज्ञान किशोरावस्था को एक ऐसा काल मानता है, जब बच्चा समाज में अपने स्थान की ओर बढ़ और वयस्कों के सामाजिक जीवन में पैठ रहा होता है। इस विचार के एक प्रमुख प्रतिपादक अमरीकी विद्वान क० लेविन (१८९०-१९४७) हैं, जिन्होंने आधुनिक समाज में किशोर की स्थिति का विश्लेषण जारी रखा था और समाज में बच्चों के समूह तथा वयस्कों के समूह की स्थिति, उनके कतिपय अधिकारों तथा विशेषाधिकारों की दृष्टि से बाल्यावस्था से वयस्कता में संक्रमण के द्वंद्वमूलक प्ररूप की जांच की थी। उन्होंने **इन समूहों की विभक्तता** का उल्लेख किया था और यह मान्यता व्यक्त की थी कि **किशोर आयु में एक समूह से संबंध टूटकर दूसरे समूह के साथ कायम होने लगते हैं।** किशोर में वयस्कों के समूह में शामिल होने और उनके ऐसे विशेषाधिकारों को पाने की प्रवृति होती है, जो बच्चों को नहीं प्राप्त होते। किंतु वयस्कों द्वारा उसे अभी अंगीकार नहीं किया जाता, अतः **उसकी स्थिति समूहों के बीच की** होती है। लेविन कठिनाइयों की मात्रा और द्वंद्वों को इन सामाजिक कारकों पर निर्भर मानते हैं: समाज में बच्चों के समूह और वयस्कों के समूह के बीच भेद कितना

बड़ा है और उस अवधि की लंबाई, जब किशोर इन दोनों समूहों के बीच की स्थिति में होता है। किशोर के अधर में लटके होने के लेविन के विचार को वर्तमान काल में कतिपय विदेशी मनोविज्ञानवेत्ताओं द्वारा आगे विकसित किया जा रहा है, जो किशोरों की एक विशेष "उपसंस्कृति" के अस्तित्व, यानी वयस्कों के समाज में किशोरों के समाज की विद्यमानता की बातें कर रहे हैं।

ल० स० विगोत्स्की ने क्रांतिक अवस्थाओं का अध्ययन करते हुए कुछ सर्वथा नये सवाल उठाये थे, जैसे **(किशोरों की) चेतना में बुनियादी नवनिर्मिति** को निर्दिष्ट करने की आवश्यकता और **विकास की उस सामाजिक स्थिति** को मालूम करने की आवश्यकता, जो हर आयु में बच्चे और परिवेश के संबंधों की विशिष्ट प्रणाली का सूचक होती है। उनका सोचना था कि इस प्रणाली का पुनर्गठन ही संक्रमणात्मक अवस्था के "संकट" का मुख्य सार है।

इस प्रकार किशोरावस्था के "संकट" के स्पष्टीकरण से संबंधित सैद्धांतिक गवेषणाओं से यह निष्कर्ष निकला कि किशोरावस्था के विकास और उसकी विशेषताओं का स्वरूप किशोर के जीवन तथा विकास की ठोस सामाजिक परिस्थितियों द्वारा, वयस्कों की दुनिया में उसकी सामाजिक हैसियत द्वारा निर्धारित होता है।

§४. किशोरावस्था में संक्रमण के दौरान व्यक्तित्व की मुख्य नवनिर्मिति

"वयस्कता की अनुभूति" का जन्म, स्रोत तथा विशेषताएं

सामाजिक वयस्कता के विकास का अर्थ यह है कि बच्चा पूर्ण और समानाधिकार प्राप्त सदस्य के रूप में वयस्कों के समाज में रहने के लिए तैयार हो रहा है। यह तैयारी वस्तुपरक ही नहीं, आत्मपरक भी होती है। आत्मपरक तैयारी वयस्कों की सक्रियता, संबंधों तथा व्यवहार से की जानेवाली सामाजिक अपेक्षाओं को सीखने के लिए आवश्यक है, क्योंकि इन अपेक्षाओं को सीखने की प्रक्रिया में ही सामाजिक सक्रियता बढ़ती है।

किशोरावस्था के आरंभ में बच्चे वयस्कों जैसे कतई नहीं होते: वे अभी बहुत नटखट होते हैं, खेलते-कूदते हैं, नादान होते हैं, चैन से नहीं बैठ पाते, अपने ऊपर नियंत्रण रखना नहीं जानते, एक साथ कई दिशाओं में सक्रिय रहते हैं, रुचियों, शौकों और संबंधों के मामले में प्रायः लापरवाह और अस्थिर होते हैं और आसानी से दूसरे के प्रभाव में आ जाते हैं। किंतु बचकानेपन का ऐसा बाह्य रूप भ्रामक होता है, क्योंकि उसके नीचे परिवर्तन की महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाएं छिपी होती हैं। किशोर अनेक बातों में बच्चे ही रहने के बावजूद अलक्षित रूप से वयस्क बन सकते हैं। **वयस्क बनने की प्रक्रिया सतह पर नहीं घटती। उसकी अभिव्यक्तियां ओर लक्षण बहुरूप और बहुविध होते हैं।** वयस्कता के प्रथम अंकुर उसके विकसित रूपों से बहुत भिन्न हो सकते हैं और वयस्क को किशोर का जो व्यवहार पसंद नहीं आता, उसमें भी वे सहसा प्रकट हो सकते हैं। किशोर के व्यवहार में नूतन, प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों से न मिलती-जुलती बातों की बहुतायत ही बताती है कि बचपन पीछे छूटता जा रहा है। ये नूतन बातें भविष्य का संकेत देती हैं, क्योंकि आगे विकास उनका ही होगा और किशोर के पालन व शिक्षा में उनका ही अवलंब लेना पड़ेगा। यदि किशोरावस्था में विकास की नयी प्रवृत्तियों को पहचाना और ध्यान में रखा नहीं जाता, तो पालन व शिक्षा की प्रक्रिया कारगर सिद्ध नहीं होगी और बच्चे के विकास के इस उत्तरदायित्वपूर्ण दौर में व्यक्तित्व का निर्माण स्वतः-स्फूर्त, अनियंत्रित ढंग से ही होगा।

किशोरावस्था में कदम रखनेवाले बच्चे के व्यक्तित्व की संरचना में बुनियादी परिवर्तन उसकी आत्मचेतना में गुणात्मक प्रगति के कारण आते हैं। आत्मचेतना का विकास बच्चे और परिवेश के बीच पहले से चले आ रहे संबंध को तोड़ देता है। **किशोर के व्यक्तित्व की मुख्य और विशिष्ट नवनिर्मिति यह है कि वह सोचने-महसूस करने लगता है कि वह अब बच्चा नहीं है ("वयस्कता की अनुभूति")। इसकी सक्रिय अभिव्यक्ति उसके वयस्कों की तरह आचरण करने और वयस्क माने जाने की कोशिशों में दिखाई देती है।** इस विशेषता में निराली बात यह है कि किशोर अपने को बच्चों में शामिल किये जाने का विरोध करता है, किंतु अभी वह अपने वास्तविक और पूर्ण वयस्क

भी अनुभव नहीं करता, हालांकि आसपास के लोगों द्वारा उसे वयस्क माने जाने की आकांक्षा उसमें विद्यमान रहती है और इसके लिए वह कोशिश भी करता है।

वयस्कता की अनुभूति शारीरिक विकास में होनेवाले परिवर्तनों और यौवनारंभ को महसूस करने, उनका महत्त्व समझने के फलस्वरूप भी पैदा हो सकती है, जो उसे वस्तुतः ही नहीं, स्वयं अपने सोचने में भी अधिक वयस्क बना देते हैं। वयस्कता की अनुभूति के अन्य स्रोत सामाजिक हैं। वह उन परिस्थितियों में पैदा हो सकती है, जब वयस्कों के साथ संबंधों में किशोर बच्चे की हैसियत नहीं रखता, कामकाज में भाग लेता है और गंभीर दायित्वों का निर्वाह भी करता है। कम उम्र में ही स्वावलंबी और दूसरों का विश्वासभाजन बन जाना बच्चे को सामाजिकतः ही नही, अपनी नज़र में भी वयस्क बनाता है। फ़ासिस्ट कब्ज़ावरों के विरुद्ध सोवियत जनता के महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध के वर्षों (१९४१-१९४५) में इस तरह की अनगिनत मिसालें देखने में आयी थीं। वयस्कता की अनुभूति किशोर में तब भी पैदा होती है, जब साथी, जिन्हें वह अपने से बड़ा समझता है, उससे बराबरी का बर्ताव करते हैं। वयस्क होने का अहसास कई सारी बातों में अपने और उस आदमी के बीच, जिसे किशोर वयस्क समझता है, समानता की स्थापना के फलस्वरूप भी पैदा हो सकता है (जैसे ज्ञान में, ताकत में, चुस्ती में, निर्भीकता में)। वयस्कता की अनुभूति यौवनारंभ से पहले भी उत्पन्न हो सकती है। आजकल शारीरिक विकास और यौवनारंभ में जो त्वरण देखने में आ रहा है, उसके फलस्वरूप बच्चे की अपनी वयस्कता की मात्रा की धारणा पहले ज़माने की अपेक्षा कहीं पहले ही बदल सकती है, जिसका मतलब है कि वह किशोरावस्था में प्रवेश कर चुका है।

आत्मचेतना की यह नवनिर्मिति व्यक्तित्व की मूलभूत विशेषता और उसकी संरचना का नाभिक है, क्योंकि वह लोगों और विश्व के प्रति किशोर के **नये जीवन दृष्टिकोण** को व्यक्त करती है, उसकी सामाजिक क्रियाशीलता की विशिष्ट दिशा तथा अंतर्वस्तु को और नयी आकांक्षाओं, अनुभूतियों तथा भावनात्मक प्रतिक्रियाओं को निर्धारित करती है। **किशोर की विशिष्ट सामाजिक क्रियाशीलता इसमें व्यक्त होती**

है कि वह वयस्कों की दुनिया और उनके संबंधों में अस्तित्वमान व्यवहार के नियमों, मानकों, मूल्यों तथा रीतियों को आत्मसात् करने में अधिक सक्षम बन जाता है। इसके दूरगामी परिणाम निकलते हैं, क्योंकि वयस्क और बच्चे दो भिन्न समूह हैं और उनके दायित्व, अधिकार तथा विशेषाधिकार भी भिन्न होते हैं। बच्चों के लिए बनाये अनेकानेक नियमों, मानदंडों, प्रतिबंधों और "आज्ञापालन के कर्त्तव्य" में उनकी अस्वावलंबिता, वयस्कों की दुनिया में असमान तथा परनिर्भर स्थिति व्यक्त होती हैं। वयस्कों की पहुंच के भीतर की बहुत सी चीज़ें बच्चे के लिए वर्जित होती हैं। बाल्यकाल में बच्चा उन्ही नियमों, मानकों और अपेक्षाओं को सीखता है, जो समाज ने उनके लिये बनाये हैं। किंतु वयस्कों के समूह में संक्रमण करने पर इन नियमों, मानकों तथा अपेक्षाओं में गुणात्मक परिवर्तन आ जाता है। किशोर में अपने बारे में इस धारणा का जन्म कि वह बाल्यकाल की सीमा पार कर चुका है, **एक तरह के (बाल) मानदंडों तथा मूल्यों से दूसरी तरह के (वयस्क) मानदंडों और मूल्यों की ओर उसके अभिमुखन** के लिए आधार का काम करता है।

किशोर का वयस्कों का समकक्ष बनना बाह्यत: उनसे मिलता-जुलता बनने, उनके जीवन और सक्रियता के कुछ पहलुओं के संपर्क में आने, उनके जैसे गुण, योग्यता, अधिकार तथा विशेषाधिकार, विशेषत: जिनसे वयस्कों की भिन्नता तथा बड़प्पन सर्वाधिक स्पष्टत: झलकते हैं, उन्हें हासिल करने की कोशिशों में व्यक्त होता है।

§५. किशोर और वयस्क के आपसी संबंध

नये प्रकार के परस्पर संबंधों की स्थापना

किशोर का नये अधिकारों का दावा सबसे पहले वयस्कों के साथ संबंधों के सारे क्षेत्र से ताल्लुक रखता है। किशोर पहले जिन अपेक्षाओं को सहर्ष पूरा कर देता था, उन्हें पूरा करने में अब वह आनाकानी करने लगता है। जब भी उसकी स्वतंत्रता को सीमित किया जाता है,

और वैसे भी जब उसकी बच्चों जैसे हिफ़ाज़त की जाती है, मार्गदर्शन किया जाता है, निगरानी रखी जाती है, आज्ञापालन करने को कहा जाता है, सज़ा दी जाती है, उसकी रुचियों, संबंधों, राय, आदि का ध्यान नहीं रखा जाता है, वह बुरा मानता है और विरोध करता है। किशोर में अपनी अस्मिता की तीव्रानुभूति प्रकट होती है, वह अपने को ऐसा व्यक्ति मानने लगता है, जिसे दबाया-कुचला और स्वतंत्रता के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। बचपन में वयस्कों के साथ उसके जैसे संबंध थे (जो वयस्कों की दुनिया में बच्चे की असमान हैसियत को प्रतिबिंबित करते हैं), वे उसके लिए अस्वीकार्य, उसकी अपनी वयस्कता के स्तर की धारणा से असंगत बन जाते हैं। **वह वयस्कों के अधिकारों को तो सीमित करता है, किंतु अपने अधिकारों को बढ़ा-चढ़ाकर देखता है, अपने व्यक्तित्व तथा अस्मिता का समादर किये जाने, विश्वासपात्र बनाये जाने और स्वतंत्रता बढ़ाये जाने, यानी वयस्कों का समकक्ष माने जाने का दावा करता है और इस दावे को मान्य ठहराये जाने के लिए कोशिश भी करता है।** किशोर के विरोध और अनाज्ञाकारिता के विभिन्न रूप वे साधन हैं, जिनके ज़रिये वह वयस्कों के साथ पहले के संबंधों के स्थान पर नये, वयस्कों के बीच ही प्रचलित संबंध स्थापित करने की चेष्टा करता है। किशोर में वयस्कता की अनुभूति और अन्य लोगों द्वारा उसे मान्य ठहराये जाने की आवश्यकता का जन्म एक सर्वथा नयी समस्या खड़ी करता है। यह है एक दूसरे के साथ संबंधों में वयस्क और किशोर के अधिकारों की समस्या।

किशोर का महत्त्व और विशेष स्थान इससे निर्धारित होता है कि इस आयु में ही **बाल्यकाल के लिए लाक्षणिक वयस्क-बच्चा संबंधों से गुणात्मक रूप से नये, वयस्क लोगों के बीच प्रचलित संबंधों में संक्रमण होता है।** यह संक्रमण किशोर और वयस्क की सामाजिक अन्योन्यक्रिया की नयी रीतियों के विकास की प्रक्रिया के रूप में संपन्न होता है। नयी रीतियां शनैःशनैः पुरानी रीतियों का स्थान लेती जाती हैं, किंतु साथ ही वे समकालिक भी होती हैं। इससे वयस्कों के लिए भी और किशोर के लिए भी बड़ी कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। किशोर के व्यवहार, उसके आत्ममूल्यांकन और वयस्कों के उसके प्रति रवैये

के मूल्यांकन को व्यवहित करनेवाले नये मानदंड किशोर के विकासमान नैतिक विश्व-दृष्टिकोण का आधार बनते हैं।

नये प्रकार के संबंधों में निर्बाध, सहज संक्रमण तभी संभव होता है, जब वयस्क स्वयं पहल करता है अथवा किशोर की अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर उसके प्रति अपने रवैये को बदलता है, यानी उसके साथ बच्चे की तरह व्यवहार नहीं करता है। किंतु कुछ ऐसी बातें हैं, जो पहले के रवैये को आसानी से बदलने नहीं देतीं। ये हैं: १) किशोर की सामाजिक स्थिति का न बदलना – वह "स्कूली छात्र" था और अब भी रहता है; २) उसकी मां-बाप पर पूर्ण भौतिक निर्भरता, जो अध्यापक के साथ उसकी शिक्षा व पालन में भाग लेते हैं; ३) वयस्कों की बच्चे का मार्गदर्शन करने व उसपर निगरानी रखने की आदत, जिसे छोड़ना कठिन होता है; ४) किशोर की शक्ल-सूरत और व्यवहार में, विशेषतः आरंभ में, बच्चे के लक्षणों का बना रहना और उसका स्वतंत्र रूप से काम न कर पाना। इन सब कारणों से वयस्क किशोर से बच्चे की भांति बर्ताव करते रहते हैं और इसका मतलब है कि उसे उनका आज्ञापालन करना ही चाहिए। इन्हीं सब कारणों से किशोर के अधिकारों तथा स्वतंत्रता को बढ़ना भी अनावश्यक और अनुचित माना जाता है। किंतु वयस्क का ऐसा रवैया न केवल किशोर की आकांक्षाओं तथा प्रयासों पर, बल्कि **बाल्यकाल से वयस्कता में संक्रमण** की इस आयु में बच्चों की शिक्षा व पालन के लक्ष्य पर भी कुठाराघात करता है। किशोर की सामाजिक वयस्कता का विकास उसे भावी जीवन के लिए तैयार करने के वास्ते सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है। यह एक जटिल प्रक्रिया है। वह समयसाध्य होती है और तभी संपन्न हो सकती है, जब किशोर वयस्कों के लिए निर्धारित मानदंडों और अपेक्षाओं की प्रणाली में रहना आरंभ करे, जिसके लिए उसकी स्वतंत्रता, कर्त्तव्यों और अधिकारों को बढ़ाना बहुत ज़रूरी है। केवल ऐसी हालत में ही किशोर वयस्कों की तरह काम करना, सोचना, तरह-तरह के कृत्य पूरे करना और लोगों से घुलना-मिलना सीख सकता है। इसीलिए किशोर की शिक्षा और पालन के लिए वयस्कों के साथ पहले प्रकार के संबंधों को नये संबंधों से प्रतिस्थापित करना आवश्यक है।

किशोर और वयस्क के द्वंद्व के कारण

किशोरावस्था के आरंभ में ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है, जिसमें यदि वयस्क की ओर से किशोर के प्रति बच्चे जैसा रवैया बना रहे, तो विरोध पैदा हो सकते हैं। यह रवैया, एक ओर **शिक्षा व पालन के लक्ष्य से टकराता है** और किशोर की सामाजिक वयस्कता के विकास में बाधक बनता है और, दूसरी ओर, वह **किशोर की अपनी वयस्कता की मात्रा की धारणा और नये अधिकारों के उसके दावों से टकराता है। यही विरोध उन द्वंद्वों तथा कठिनाइयों का स्रोत बनता है, जो किशोर के अधिकारों के स्वरूप और स्वतंत्रता की मात्रा के बारे में वयस्क और किशोर की धारणाओं में अंतर के कारण उनके परस्पर संबंधों में उत्पन्न होते हैं।**

यदि वयस्क किशोर के प्रति अपने रवैये को नहीं बदलता, तो किशोर नये संबंधों में संक्रमण के लिए पहल स्वयं करने लग जाता है। वयस्क यदि प्रतिरोध करता है, तो किशोर विभिन्न प्रकार से अनाज्ञाकारिता और विरोध दिखाकर उसका जवाब देता है। इन विरोधी प्रवृत्तियों की विद्यमानता और परस्पर प्रतिरोध से टक्करें पैदा होती हैं, जो वयस्क द्वारा अपना रवैया फिर भी न बदले जाने पर नियमित और किशोर द्वारा नकारात्मक रुख दिखाये जाने पर और अधिक ज़बर्दस्त बनती जाती हैं। **ऐसी स्थिति बने रहने पर पुराने संबंधों के टूटने की प्रक्रिया सारी किशोरावस्था के दौरान जारी रह सकती है और चिर द्वंद्व का रूप ले सकती है।** विभिन्न प्रकार से अवज्ञा और विरोध प्रदर्शन करके किशोर पहले के "बचकाने" संबंधों को तोड़ता है और वयस्क पर नये "वयस्क" संबंध थोपता है, जिन्हें वैसे भी देर-सबेर कायम होना ही है। **द्वंद्व तब तक जारी रह सकता है, जब तब कि वयस्क किशोर के प्रति अपने रवैये को नहीं बदल डालता।** द्वंद्वपूर्ण संबंध व्यवहार के अनुकूलनात्मक रूपों के विकास और किशोर की विमुक्ति में सहायक होते हैं। विसंबंधन और वयस्क की बेइंसाफ़ी में विश्वास पैदा हो जाता है। किशोर की इन भावनाओं को उसकी इस धारणा से और भी बल मिलता है कि वयस्क उसे नहीं समझता और न समझ ही सकता है। अगला कदम यह हो सकता है कि किशोर

वयस्क की अपेक्षाओं, मूल्यांकनों और नज़रियों को मानने से जान-बूझकर इनकार करने लगेगा और फिर वयस्क किशोर के व्यक्तित्व के नैतिक तथा सामाजिक आधारों के विकास के महत्त्वपूर्ण दौर में उसपर कोई प्रभाव डालने की संभावना से हाथ धो बैठेगा।

द्वंद्व इसका परिणाम होता है कि वयस्क किशोर के लिए अपने बराबर में **नया स्थान** या तो खोज नहीं सकता या फिर खोजना नहीं चाहता। किशोर की स्वतंत्रता और समानता की समस्या वयस्क-किशोर संबंधों और सामान्यतः किशोर की शिक्षा व पालन की सबसे कठिन और उग्र समस्या है। **स्वतंत्रता की एक ऐसी सीमा खोजा जाना आवश्यक है, जो किशोर की क्षमताओं तथा समाज द्वारा उससे की जानेवाली अपेक्षाओं के अनुरूप हो और वयस्क को उसका मार्गदर्शन करने, उसपर प्रभाव डालने की संभावना दे सके।**

वयस्क और किशोर के संपर्कों में कठिनाइयां तब नहीं उत्पन्न होंगी, जब उनके परस्पर संबंध वयस्कों के संबंधों – **मित्रों के संबंधों – की तरह बनाये जायें या फिर वे परस्पर आदर, सहायता और विश्वास पर आधारित सार्थक सहयोग के संबंध हों।** सहयोग की प्रक्रिया में किशोर और वयस्क की सामाजिक अन्योन्यक्रिया की नयी रीतियां पैदा होती हैं, जिनकी नैतिक अंतर्वस्तु किशोर की सामाजिक वयस्कता के विकास के लक्ष्य और वयस्कों के साथ संबंधों के स्वरूप के बारे में उसकी जो नयी अपेक्षाएं हैं, उनसे पूर्णतः मेल खाती है। सहयोग ही वयस्क को किशोर को उसकी नयी स्थिति – **विभिन्न कामों में अपने सहयोगी और साथी की स्थिति – में रखने और उसके लिए आदर्श व मित्र बनने की संभावना देता है।** ऐसे संबंध ही आत्मपरक रूप से किशोर के लिए और वस्तुपरक रूप से उसकी शिक्षा व पालन के लिए आवश्यक होते हैं।

वयस्क और किशोर के तनावहीन संबंध, उनके बीच संपर्क और परस्पर समझ इसलिए ज़रूरी है कि आरंभिक स्कूली आयु से किशोरावस्था में संक्रमण के वक्त बच्चे के संपर्क की दो प्रणालियों – वयस्कों के साथ और साथियों के साथ – के बीच जटिल संबंध पैदा हो जाते हैं। इसका कारण है इन दो प्रणालियों में बच्चे की **सर्वथा भिन्न स्थितियां।** पहली प्रणाली (वयस्कों के साथ संपर्क) में उसकी

असमान स्थिति होती है, जिसकी अभिव्यक्ति बच्चों के लिए आज्ञाकारिता के उपदेश में पायी जाती है। दूसरी प्रणाली (साथियों, समवयस्कों के साथ संपर्क) में उसकी बिल्कुल **बराबरी** की स्थिति होती है, जो एक ओर तो वयस्कों की स्थिति और उनकी दुनिया में बच्चे की भावी स्थिति जैसी होती है और, दूसरी ओर, विभिन्न प्रकार की सक्रियताओं में बच्चों के सहयोग का स्रोत बनती है। जां पियाजे ने बताया था कि कैसे क्रीड़ामूलक सक्रियता के दौरान बच्चों के बीच सहयोग बढ़ता है, जिसमें व्यष्टि (बच्चा) अपने को दूसरों का समकक्ष मानता है, और इससे उनमें परस्पर नियंत्रण, तथा समन्वयता यानी साथीपन के नियमों के पालन की प्रवृत्ति पैदा होती है। इसके आधार पर ही पियाजे इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि जब बच्चा अपने जैसों से सहयोग करता है, तो इसका मतलब है कि वह बड़ा हो चुका है। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं ने अपने अनुसंधानों के दौरान पाया है कि पहले तो तीसरी-चौथी कक्षाओं में ही साथीपन के नियमों (सहायता, वफ़ादारी, आदर) का पालन साथी और मित्र के गुणों को आंकने का मापदंड बन जाता है और, दूसरे, बच्चों के सार्थक संपर्कों का बढ़ना तथा गहन बनना और परस्पर संबंधों के प्रति उनकी अपेक्षाओं की वृद्धि एक दूसरे पर प्रत्यक्षतः निर्भर हैं (समानता और निष्ठा के मानकों का महत्त्व बढ़ता है, तो उन स्थितियों की संख्या भी बढ़ जाती है, जिनमें वे लागू होते हैं)। उल्लेखनीय है कि ये मानक वयस्कों के परस्पर संबंधों के बहुत ही अहमियत रखनेवाले मानक होते हैं। इसीलिए **बच्चों के परस्पर संपर्कों का एक विशेष प्रकार्य होता है। वह यह कि उनके दौरान बच्चे वयस्कों की नैतिकता को आत्मसात् करते हैं** (और इससे बच्चे की सामाजिक-नैतिक वयस्कता में वृद्धि होती है), और इस नैतिकता का मुख्य बिंदु – समानता, निष्ठा और साथीपन के मानक – बच्चे और वयस्क के संबंधों में आज्ञाकारितावाली जिस नैतिकता पर ज़ोर दिया जाता है, उसके सर्वथा विपरीत है।

इस प्रकार **किशोरावस्था के आरंभ तक बच्चे के अपने समवयस्कों, विशेषतः मित्रों के साथ संबंध वयस्कों की समानतावाली नैतिकता के कतिपय महत्त्वपूर्ण मानकों की बुनियाद पर बनने लग जाते हैं,**

जबकि वयस्कों के साथ संबंधों की बुनियाद – आज्ञाकारितावाली विशिष्ट बाल नैतिकता ही रहती है। इस विरोधाभास के कुछ महत्त्वपूर्ण परिणाम निकल सकते हैं: १) किशोर के व्यक्तित्व के विकास के लिए संपर्क के इष्टतम प्ररूप के तौर पर सहयोग साथियों के साथ संबंधों में अधिक तेज़ी से बढ़ सकता है; २) वयस्कों का संसर्ग नहीं, अपितु साथियों का संसर्ग ही किशोर को अधिक संतोष दे सकता है, आत्मपरक रूप से अधिक आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण बन सकता है और सामाजिक-नैतिक वयस्कता के विकास तथा व्यक्तित्व के निर्माण में मुख्य भूमिका अदा कर सकता है; ३) किशोर द्वारा आत्मसात्कृत वयस्क नैतिकता के मानक एक तो आज्ञाकारितावाली नैतिकता से टकरा सकते हैं और, दूसरे, वे उसपर हावी भी हो सकते हैं, ठीक इसलिए कि बाल नैतिकता किशोर के लिए अस्वीकार्य हो गयी है।

यही विदेशी मनोविज्ञानवेत्ताओं द्वारा इतनी अधिक प्रचारित समस्या – "स्वतंत्र बाल नैतिकता" और उसकी वयस्कों के समाज की नैतिकता से टक्कर की समस्या – को सही ढंग से समझने की कुंजी है। "स्वतंत्र बाल नैतिकता" को समाजविरोधी और इसलिए वयस्कों की नैतिकता से टकरानेवाली कहना गलत प्रस्थापना है: "स्वतंत्र बाल नैतिकता" सारतः **वयस्कों के साहचर्यपूर्ण और मैत्रीपूर्ण संबंधों की नैतिकता** है और इसीलिए वह सबसे अधिक समाजसंगत है। उसका विरोध "वयस्क नैतिकता" से नहीं, अपितु उस नैतिकता से है, जो वयस्कों ने बच्चों के लिए बनायी है। वयस्कों और साथियों के साथ किशोर के स्कूली और शैक्षिक संबंधों की स्थिति में इन दो नैतिकताओं के बीच टकराव की सदा बेहद संभावना रहती है, क्योंकि दत्त परिस्थितियों में वे परस्पर असंगत होती हैं। जब वयस्क आज्ञाकारितावाली नैतिकता के वाहक और अभिव्यक्तिकर्त्ता की भूमिका में सामने आता है, तो वह किशोर के लिए इसी कारण अस्वीकार्य बन जाता है कि किशोर उस नैतिकता को अंगीकार नहीं करता (अन्यथा उसके उस वयस्क को स्वीकार न करने का कोई कारण नहीं है)। इसी कारण किशोर उन अनजाने लोगों के सामने अभद्रता भी दिखाते हैं, जो उनकी हरकतों पर टीका-टिप्पणी करते हैं, उन्हें बाल आचरण के नियमों के विपरीत बताते हैं।

शिक्षा और पालन की अ० स० मकारेंको द्वारा प्रतिपादित पद्धति किशोर आयु-वर्ग के बच्चों की कठिन से कठिन समस्याओं को सुलझाने का आदर्श रास्ता दिखाती है। यह पद्धति बहुत हद तक इसलिए सफल हो पायी कि मकारेंको ने **वयस्कों और किशोरों के संबंधों को समाजवादी समाज के वयस्कों की नैतिकता के मानकों पर आधारित किया था और समुदाय के जीवन के वे संगठनात्मक रूप प्रस्तावित किये थे, जो जनवादी केंद्रीयतावाद के मानकों से मेल खाते थे।** मकारेंको की पद्धति में परस्पर आदर, समानता, सहायता और विश्वास के मानकों को विभिन्न सवालों पर सामूहिक विचार-विमर्श द्वारा साकार बनाया जाता था। इन विचार-विमर्शों के दौरान वयस्क और बच्चे समान हैसियत रखते थे और जब कोई निर्णय कर लिया जाता था, तो उसका पालन वयस्कों समेत **सबके लिए अनिवार्य** होता था। "दो नैतिकताओं" की कोई समस्या न उठती थी, न उठ ही सकती थी क्योंकि **सबके लिए एक ही नैतिकता थी।** ऐसी परिस्थितियों में ही समुदाय अपार प्रभाव अर्जित करता है और अपने हर सदस्य का शिक्षक-प्रतिपालक बनता है। मकारेंको की पद्धति में किशोरों के आपस में और वयस्कों के साथ सहयोग द्वारा एक तो विभिन्न प्रश्नों पर समुदाय के उद्देश्य, कार्यभार तथा रवैया निर्धारित किया जाता था और, दूसरे, सारा व्यावहारिक कार्यकलाप चलाया जाता था और आपसी संबंधों का नियमन किया जाता था। **किशोरों की स्वतंत्रता सामाजिक दृष्टि से लाभदायी सामूहिक और निजी सक्रियता के रूप में साकार बनती थी, जिसके परिणाम सबके लिए और प्रत्येक के लिए समान रूप से महत्त्व रखते थे।** यही समाज के लिए सही दिशा में किशोरों की सामाजिक-नैतिक प्रौढ़ता के सघन विकास को सुनिश्चित करता था।

मकारेंको की अपरिमित निजी प्रतिष्ठा का स्रोत उनका **व्यष्टि और समुदाय के समादर** पर आधारित दृष्टिकोण था। दूरगामी उद्देश्यों की प्रणाली के द्वारा वह बच्चों के वर्तमान और भावी जीवन को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी, रोचक और आह्लादकारी बनाने के लिए प्रयत्नरत रहते थे और अटल विश्वास रखते थे कि उनके किशोर शिष्य भी इसमें उनकी मदद करना चाहते और जानते हैं। इन किशोरों का वर्तमान भविष्योन्मुखी था और भविष्य के लिए आवश्यक सामाजिक

प्रौढ़ता की नींव वर्तमान में, लोगों के साथ किशोरों की सामाजिक अन्योन्यक्रिया की "वयस्क" रीतियों के ज़रिये तथा सोवियत समाज के लिए लाक्षणिक सामाजिक-नैतिक मूल्यों के आधार पर डाली जाती थी। मकारेंको की पद्धति, जिसे एक अमरीकी मनोविज्ञानवेत्ता ने निरंकुशता की गलत संज्ञा दी है, अपने वास्तविक सार की दृष्टि से और अपने उदात्त उद्देश्यों की बदौलत ही नहीं, अपने नैतिक मूलमंत्र – व्यक्ति का आदर – की बदौलत भी एक जनवादी पद्धति है और किशोर के लिए उसके व्यक्तित्व का आदर ही सर्वोपरि महत्त्व रखता है।

समुदाय में, समुदाय के ज़रिये और समुदाय के लिए व्यक्ति का संवर्धन सामाजिकत: सही और आवश्यक दिशा में किशोर की सामाजिक-नैतिक प्रौढ़ता के विकास की अनिवार्य और अपरिहार्य शर्त है। समुदाय के साथ किशोर के संबंध जितने ही सारगर्भित होंगे और सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सक्रियता के विविध क्षेत्रों में अपने हमउम्रों तथा वयस्कों के साथ उसका सहयोग जितना ही व्यापक होगा, उतने ही अधिक सामाजिक महत्त्व के मूल्य वह आत्मसात् करेगा और उतना ही संपन्न उसका व्यक्तित्व होगा।

किशोरों की कम्युनिस्ट शिक्षा-दीक्षा की प्रणाली में पायोनियर संगठन की बहुत बड़ी भूमिका है (सोवियत संघ में ९ से १४ वर्ष की आयु तक के सभी बच्चे इस संगठन के सदस्य होते हैं)। उसका प्रभाव बहुत हद तक इसपर निर्भर होता है कि ये दो प्रश्न कितनी सफलतापूर्वक हल किये गये हैं: १) किशोरों के आयोजित **क्रियाकलाप की अंतर्वस्तु** का प्रश्न और २) एक ओर वयस्कों तथा किशोरों के और, दूसरी ओर, स्वयं किशोरों के **परस्पर संबंधों** के निर्माण का प्रश्न। सामूहिक जीवन संगठित करने का लक्ष्य ही यह है कि किशोरों को देश तथा जनता के जीवन के घनिष्ठ संपर्क में लाया जाये और उन्हें समाजोपयोगी कार्यकलाप का और अपने से बड़ों तथा छोटों के साथ काम करने के तरीकों का अनुभव सिखाया जाये।

§६. वयस्कता के विकास की दिशाएं और जीवन-मूल्यों का निर्माण

वयस्कता प्राप्ति के दौरान किशोर जिन प्रतिमानों से निदेशित होता है, उनका स्वरूप चूंकि भिन्न-भिन्न होता है, अतः वयस्कता के विकास की दिशाएं भी भिन्न-भिन्न होती हैं। किशोर के जीवन-मूल्यों की अंतर्वस्तु और उसके व्यक्तित्व-निर्माण की सामान्य दिशा काफ़ी हद तक इन प्रतिमानों से ही निर्धारित होती हैं।

वयस्कता की बाह्य अभिव्यक्तियों का अनुकरण

किशोर के लिए **वयस्कता की बाह्य अभिव्यक्तियां** काफ़ी आकर्षक सिद्ध हो सकती हैं। इन अभिव्यक्तियों में सबसे पहले उसकी नज़र वयस्कों के बाह्य रूप तथा तौर-तरीकों पर और अपने कतिपय विशेषाधिकारों के कारण वे बच्चों की अपेक्षा जिस बेहतर स्थिति में होते हैं, उसपर ही पड़ती है, जैसे धूम्रपान, ताश खेलना, शराब पीना, खास तरह के शब्दों का प्रयोग करना, फ़ैशनेबुल कपड़े पहनना, केश-सज्जा करना, सौंदर्य-प्रसाधनों का उपयोग, आभूषण पहनना, नाज़-नखरे, विश्राम व मनोरंजन के ढंग, आदि। हाथ में सिगरेट लेना किशोर को अपनी नज़रों में और जैसा कि उसे लगता है, आसपास के लोगों की नज़रों में भी वयस्क बना देता है। पुरुष अथवा नारी वयस्कता के ऐसे लक्षणों का **अनुकरण** किशोर के लिए अपनी वयस्कता को अभिव्यक्त तथा प्रदर्शित करने और मनवाने का साधन होता है। यह सबको दिखायी देनेवाली वयस्कता की प्राप्ति का सबसे सरल उपाय है। इसीलिए किशोरों में वयस्कता का प्रायः यह रूप ही सबसे पहले प्रकट होता है। वह बहुप्रचलित है, मज़बूत होता है और आसानी से बेनकाब नहीं किया जा सकता।

अपने को आकर्षक बनाने की चिंता, फ़ैशनेबुल दिखाने की कोशिश विशेषतः लड़कियों का बहुत समय ले लेती है। कुछ किशोर पांचवीं-छठी कक्षा में ही साथियों की सहायता से फ़ैशनेबुल नृत्य सीखने लग जाते हैं। उनके लिए यह महत्त्वपूर्ण बन जाता है कि उनके प्रति स्नेह-प्रेम

और प्रशंसा का प्रदर्शन बच्चों के ढंग से नहीं, वयस्कों के ढंग से किया जाये, जैसे मिलन के लिए बुलाया जाये, सौजन्य प्रदर्शन पारंपरिक तरीके से किया जाये, नाच-गान और शराबवाली पार्टियां की जायें, वगैरह। ऐसी स्थितियों में किशोर आरंभ में कुछ संकोच, झिझक अनुभव करते हैं: उनके पास बात करने को कुछ नहीं होता, वे नहीं जानते कि दूसरों के सामने कैसे पेश आयें, किंतु उनके लिए व्यवहार, संबंधों और मनोरंजन के एक निश्चित रूप का पालन ही अपने आप में बड़ा महत्त्व रखता है। कुल मिलाकर वे प्राय: कालेज-विश्वविद्यालय के छात्रों के पदचिह्नों पर चलने की कोशिश करते हैं, सिनेमा में, टेलीविजन पर, सड़क पर जो देखा है, उसकी नकल करते हैं। **सीखा अथवा किया वही जाता है, जो पापुलर लगता है** ("सब ऐसा करते हैं", "इसी का फ़ैशन है") और इससे मेल खानेवाले **प्रतिमान मूल्यांकन और आत्ममूल्यांकन की कसौटी बन जाते हैं।** फ़ैशन, नाच-गानों, पार्टियों, मिलनों, आदि के पीछे दीवाना होने की मात्रा भिन्न-भिन्न हो सकती है। बहुत बार तो यह प्रवृत्ति एक खास वर्ग के किशोरों के जीवन में बहुत बड़ा महत्त्व रखने लग जाती है। किंतु **अपने बाह्य रूप और दूसरे लिंग के व्यक्ति में रुचि अन्य प्रकार से भी – वयस्कों की नकल किये बिना भी – व्यक्त हो सकती है।**

प्राय: ठोस प्रतिमान अपने से अधिक वयस्क सहपाठी अथवा दूसरे बच्चे बनते हैं। बहुत बार वे ही किशोरों को वयस्क जीवन के न्यूनाधिक वर्जित पहलुओं से परिचित कराते हैं और उनके लिए एक तरह के उस्ताद या मार्गदर्शक बन जाते हैं। सबसे अधिक खतरे की बात तब होती है, जब बड़ी कक्षाओं के किशोर (सातवीं-आठवीं कक्षाओं के छात्र) मौज-मस्ती और बेफ़िक्री की उस जीवन पद्धति की नकल करने लगते हैं, जिसे विधिवेत्ता लोग "खाली समय बिताने का निकृष्ट तरीका" कहते हैं (मद्यपान, ताशबाज़ी, सार्वजनिक नृत्यस्थलों पर जाना, बेमतलब सड़कों पर घूमना, आदि)। ऐसे में किशोर के जीवन में पढ़ाई गौण बन जाती है, संज्ञानमूलक रुचियां लुप्त हो जाती हैं और **"मौज-मस्ती में समय गुज़ारने" का लक्ष्य और उसके अनुरूप जीवन-मूल्य पैदा हो जाते हैं।** इस तरह से समय गुज़ारने के लिए पैसों की समस्या अपराधवृत्ति को जन्म दे सकती है। यह पाया गया है कि ८०-९०

प्रतिशत अवयस्क अपराधियों को अपराध के मार्ग पर "खाली समय बिताने के निकृष्ट तरीका" ठेलता है। वयस्कता के विकास की ऐसी दिशा अत्यंत अवांछनीय है।

"सच्चे पुरुष" का आदर्श

वयस्कता के विकास की एक अन्य दिशा किशोर लड़कों का **पुरुषत्व के आदर्श की एक निश्चित अंतर्वस्तु**, जिसे "**सच्चे पुरुष" की विशेषताएं** कहा जाता है, की ओर सक्रिय रूप से उन्मुख होना है। इन विशेषताओं में एक ओर शक्ति, संकल्प, साहस, निर्भीकता, तितिक्षा जैसे गुण आते हैं और, दूसरी ओर, अटूट मैत्री और वफ़ादारी जैसे गुण। सोवियत संघ के किशोरों की टामस मेन रीड, जे० फ़ेनीमोर कूपर और अलैक्ज़ेंडर ड्यूमा के उपन्यासों, १६१७ की महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति तथा महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध (१६४१-१६४५) के वीरों से संबंधित रचनाओं और शौर्यपूर्ण तथा जासूसी कथानकोंवाले साहित्य तथा फ़िल्मों में अनेक दशकों से ज्यों की त्यों बनी हुई रुचि के पीछे काफ़ी हद तक यही कारण है कि इन सबके नायकों में "सच्चे पुरुष" के या तो सभी या अधिकांश गुण पाये जाते हैं। ऐसे नायक उन्हें मोहित कर लेते हैं, उनके लिए अनुकरण अथवा आत्मशिक्षा के वास्ते प्रतिमान बन जाते हैं। किशोर अपने पिता, भाई और परिचित जनों के भी ऐसे गुणों पर गर्व करते हैं, उनके बारे में दूसरों को बताते हैं और स्वयं भी उनके जैसा बनने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। किशोर के लिए उसका वह समवयस्क भी प्रतिमान बन सकता है, जो अन्य बच्चों के बीच अपनी शक्ति, साहस, फुर्तीलेपन और क्रीड़ा-कुशलता के लिए मशहूर है। ऐसे बच्चों को विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाता है और यदि वे अच्छे साथी भी हों, तो उनकी लोकप्रियता और भी बढ़ जाती है। कायरता को हिकारत की नज़रों से देखा जाता है। अपने साहस और निर्भीकता के प्रदर्शन के लिए बच्चा जोखिम का काम और कभी-कभी तो अनुचित काम करने से भी नहीं झिझकता। शारीरिक बल की बड़ी कद्र की जाती है। कभी कक्षा में अथवा समूह में बच्चों के शारीरिक बल के मुताबिक एक सोपानक्रम सी बन जाता है,

जिसे सभी जानते और ध्यान में रखते हैं। किशोर अपने शारीरिक विकास के प्रति बड़े संवेदनशील होते हैं। वे कुश्ती लड़ना, ताकत आज़माना पसंद करते हैं। इन्हें सबके सामने किया जाता है। कुछ बच्चों की एक दूसरे से लड़ने-भिड़ने की आदत बहुधा किसी पर अपनी ताकत का रौब जमाने की आकांक्षा से जुड़ी होती है। साथियों का आदर पाने के लिए किशोर अपने शौर्य-पराक्रम का बढ़ा-चढ़ाकर बखान कर सकता है। इस सिलसिले में उसे जो तारीफ़ मिलती है, वह उसके लिए बड़ा महत्त्व रखती है।

बहुत सारे लड़के विभिन्न अभ्यासों के ज़रिये पांचवीं-छठी कक्षा से ही **अपने में शारीरिक बल और दृढ़ इच्छा-शक्ति का विकास करना शुरू कर देते हैं। इसमें खेलकूद महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।** सातवीं-आठवीं कक्षाओं के लड़कों को शक्ति और निडरता के खेल के रूप में बाक्सिंग विशेष रूप से आकृष्ट करता है। पहले चरण में किशोर की अपने व्यवहार पर नियंत्रण करने की आकांक्षा किसी काम को करने की अनिच्छा पर और भयोत्पादक स्थितियों में भय पर काबू पाने की कोशिशों का रूप लेती है। अनिच्छा पर काबू पाने के लिए वह अपनी दिनचर्या निश्चित करता है और भय पर काबू पाने के लिए अपने शारीरिक बल, इच्छा-शक्ति तथा साहसिकता की तरह-तरह से परीक्षा करता है तथा उनके विकास के लिए विशेष प्रशिक्षणात्मक अभ्यास करता है (यद्यपि कभी-कभी वे स्वास्थ्य व जीवन के लिए खतरनाक भी होते हैं)। आरंभिक असफलताएं, जिनका होना स्वाभाविक ही है, किशोर के उत्साह पर पानी फेर सकती हैं और कमियों के दूर कर पाने की अपनी क्षमता में अविश्वास पैदा कर सकती हैं। ऐसे समय पर किशोर को वयस्कों की सहायता की विशेष ज़रूरत होती है। वयस्कों को ठोस लक्ष्य निर्दिष्ट करने और उनकी प्राप्ति के सही साधन ढूंढ़ने और सांयोगिक क्रियाओं को स्थायी क्रियाओं में बदलने के तरीके चुनने में उसकी मदद करनी चाहिए। सातवीं-आठवीं कक्षाओं में कुछ बच्चे आत्मशिक्षा के इस अधिक ऊंचे चरण में स्वयं ही पहुंच जाते हैं। तब आत्मशिक्षा उनके लिए उत्तरोत्तर जटिल बनते कृत्यकों से युक्त संगठित और नियमित सक्रियता बन जाती है।

किशोरावस्था में अधिकांश लड़कों के लिए **पुरुषत्व के गुण वयस्कों**,

साथियों और स्वयं को आंकने का महत्त्वपूर्ण मापदंड बन जाते हैं और उसकी स्थायी रुचियों तथा शौकों – सामान्यतः खेलकूद से संबद्ध रुचियों तथा शौकों – को निर्धारित करनेवाले **निजी मूल्यों के विशेष प्रवर्ग का रूप ले लेते हैं।** अलग-अलग किशोरों के लिए इन मूल्यों का अन्य मूल्यों के बीच स्थान अलग-अलग और कभी-कभी तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण भी हो सकता है। किंतु नैतिक शिक्षा के अभाव में किशोर में (अथवा किशोर समूह में) शक्ति, संकल्प और साहसिकता की पूजा की भावना भी उत्पन्न हो सकती है, चाहे इन गुणों का सामाजिक-नैतिक अभिप्राय कुछ भी क्यों न हो। अतः शिक्षकों और प्रतिपालकों का कर्त्तव्य है कि वे किशोरों में पुरुषत्व के गुणों तथा उनकी नैतिक अंतर्वस्तु की सही धारणा का पोषण करें।

किशोर की सक्रियता में प्रतिमान के रूप में वयस्क

अंतर्वस्तु की दृष्टि से मूल्यवान सामाजिक व नैतिक प्रौढ़ता का विकास वयस्क और किशोर की संयुक्त सक्रियता के दौरान होता है। उसमें **वयस्क की भूमिका प्रतिमान (कर्त्तव्य-पालन और योग्यता के प्रतिमान) की होती है और किशोर की भूमिका उसके सहायक की।** किशोर के लिए ऐसा प्रतिमान पिता, मां, अध्यापक, यानी कोई भी वयस्क हो सकता है। ऐसा उन परिवारों में प्रायः दिखायी देता है, जो किन्हीं कठिनाइयों से गुज़र रहे हैं। उनमें किशोर द्वारा दी जानेवाली सहायता आवश्यक बन जाती है और परिवार के जीवन में बहुत सी चीज़ें उसपर निर्भर होती हैं। प्रायः घर के बहुत से कामों और छोटे बच्चों की देखभाल का दायित्व उसी को निबाहना पड़ता है। उन बच्चों के संबंध में उसकी हैसियत वयस्क जैसी ही होती है। ऐसी स्थितियों में – और जब मां-बाप के बीच खटपट चल रही हो, तब तो और भी – किशोर काफ़ी हद तक वयस्कों के ढंग से ही रहने लग जाता है।

श्रम में वयस्कों के बराबर ही सहभागिता और उनकी ओर से विश्वास किशोर में उत्तरदायित्व, स्वावलंबिता, विभिन्न कार्यों और कर्त्तव्यों को निभाने की दक्षता, दूसरों के बारे में सोचने व ध्यान रखने की योग्यता, संवेदनशीलता और सतर्कता जैसे गुण विकसित करते हैं।

इन गुणों के विकास के लिए सर्वोत्तम परिस्थितियां तब बनती हैं, जब किशोर मां के सहारे और रक्षक की भूमिका निभाता है। **अपने प्रिय जनों की सकुशलता, उनकी चिंता उसके लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं और जीवन-मूल्य का रूप ले लेती हैं।**

उल्लेखनीय है कि बहुत से किशोर लड़के "वयस्क" हुनरों को भी सीखने की कोशिश करते हैं, जैसे बढ़ई और फ़िटर के काम, खराद चलाना, ड्राइवरी, ट्रैक्टर चलाना, फ़ोटोग्राफ़ी, बंदूक चलाना, शिकार खेलना, कुतुबनुमा का इस्तेमाल जानना, आदि। किशोरावस्था का आरंभ ऐसे हुनर सिखाने के लिए सबसे उपयुक्त समय है। इसके लिए किशोर को वयस्कों के इन कामों में सहायक के तौर पर भाग लेने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए। स्वयं किशोर भी इसके लिए लालायित रहते हैं और काम की अंतर्वस्तु तथा शिक्षण जितने ही गंभीर होंगे, वे उतनी ही तत्परता से काम में हिस्सा लेंगे। वयस्कों द्वारा उसपर भरोसा किया जाना किशोर को अच्छा लगता है और वह उसे सही ठहराने का प्रयत्न करता है। उसके लिए मंडलियों और श्रम-कक्षाओं में काम का आकर्षण इसपर निर्भर होता है कि उससे उसे नयी बातें सीखने, आगे बढ़ने, अपनी मेहनत के फल देखने और समाज का व अपना हित करने का अवसर कहां तक मिलता है। लड़कियों में भी "ज़नाना" हुनरों (सिलाई, कढ़ाई, बुनाई, पाककला, आदि) को सीखने की तत्परता पायी जाती है।

शैक्षिक व संज्ञानमूलक सक्रियता के दौरान वयस्कता का विकास

वयस्कता के विकास की एक मुख्य दिशा सार्थक रुचियों के विकास और भविष्य की योजनाओं के निर्माण से जुड़ी हुई है। उसका मूल किशोर की किसी काम को **असली ढंग से** जानने और करना सीखने की आकांक्षा में होता है। इससे स्वतंत्र शैक्षिक व संज्ञानात्मक सक्रियता के जन्म को प्रेरणा मिलती है, जिसकी अंतर्वस्तु **स्कूली पाठ्यक्रम तक ही सीमित नहीं होती।** ऐसी सक्रियता और ज्ञान के प्रति ऐसा रुख पेशे-संबंधी योजनाओं से असंबंधित और विज्ञान, तकनीक, कला,

आदि कई अथवा एक ही ज्ञान शाखा से संबंधित हो सकते हैं। शौक कभी-कभी इतनी गहरी धुन का रूप ले सकता है कि खाली समय का ही नहीं, पाठों की तैयारी के लिए आवश्यक समय का भी काफ़ी बड़ा भाग उसी को अर्पित कर दिया जाता है। जिन किताबों, पत्रिकाओं, सामग्रियों या उपकरणों में रुचि है, उन्हें खोजने और हासिल करने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया जाता है। किशोर नियमित रूप से पुस्तकालय, संग्रहालय अथवा प्रदर्शनियों में जाने लगते हैं, किसी खास विषय से संबद्ध सामग्री का बारीकी से अध्ययन करने लगते हैं। रुचि-साम्य के आधार पर साथियों के साथ गहन, सार्थक संपर्क कायम किये जाते हैं। तरह-तरह के सवालों पर बहसें चलती हैं, पुस्तकों, सामग्रियों का विनिमय किया जाता है, कथनी और करनी द्वारा एक दूसरे की कठिनाइयों में मदद की जाती है। ऐसी स्थिति में किशोर संदर्भिकाओं और पुस्तकों से भी सहायता लेता है और स्वयं असफलता का कारण खोजने का प्रयास करता है। यह सार्थक रुचियों और उत्पादक सक्रियता के विकास का बहुत महत्त्वपूर्ण पहलू है: **किशोर किन्हीं नयी जानकारियों को हासिल करने की अपनी आवश्यकता स्वयं ही, यानी आत्मविकास व स्वयंशिक्षा द्वारा पूरी करता है।** प्रायः किशोर की स्वतंत्र सक्रियता में सृजनात्मक तत्त्व रहते हैं – उसे नवसृजन की प्रक्रिया और सामान्यतया खुद संज्ञान की प्रक्रिया भी आकृष्ट करती है। फलस्वरूप बौद्धिक विकास तेज़ी से होता है और ज्ञान अधिक गंभीर तथा व्यापक बन जाता है।

किशोरावस्था में ही संज्ञानमूलक रुचियों की मुख्य प्रवृत्ति का विकास होता है। हर कक्षा में ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के अपने विशेषज्ञ होते हैं, जिनसे सहपाठी परामर्श लेते हैं, बहसों में निर्णायक का काम करने को कहते हैं। ऐसे किशोरों का काफ़ी अधिक ज्ञान **स्वयं अर्जित किया हुआ होता है। उनके लिए वे ज्ञान भी और उसके अर्जन की प्रक्रिया भी व्यक्तिगत रूप से महत्त्वपूर्ण और आवश्यक होते हैं।** स्वयं-शिक्षा की प्रवृत्ति कतिपय पांचवीं कक्षा के छात्रों में भी दिखायी देने लग जाती है। सामान्यतः ये वे बच्चे होते हैं, जिनके माता-पिता अपने बेटे या बेटी की संज्ञानमूलक रुचियों और सार्थक शौकों के विकास पर बड़ा ध्यान देते हैं।

बहुधा ऐसी परिस्थितियों में ही आरंभिक स्कूली आयु में अथवा किशोरावस्था के आरंभ में बच्चा अपने भावी पेशे के बारे में इरादे बनाने लग जाता है (जिनमें स्कूली शिक्षा की समाप्ति तक कोई खास परिवर्तन नहीं आता) और फिर पांचवीं-छठी कक्षा से अपने को भविष्य के लिए तैयार भी करने लग जाता है। कुछ मामलों में **खेल, आत्म-विकास तथा स्वयंशिक्षा का अद्‌भुत मेल देखने में आता है**: किसी निश्चित पेशे को अपनाने का छठी कक्षा के बच्चे का स्वप्न, एक ओर, मनपसंद भूमिकापरक खेलों और मनपसंद भूमिकाओं की अंतर्वस्तु में साकार बनता है और, दूसरी ओर, रुचियों के दायरे को निर्धारित करता है और किसी खास प्रकार का ज्ञान, कौशल तथा गुण हासिल करने के लिए प्रेरणा का स्रोत बनता है। मिसाल के लिए, सागर से संबंधित किसी पेशे का स्वप्न, एक ओर, सामरिक अंतर्वस्तुवाले खेलों के शौक़ में प्रतिबिंबित हो सकता है और, दूसरी ओर, सागर व सागर-यात्रियों से संबंधित पुस्तकें तथा देशभक्तिपूर्ण लड़ाइयों की कहानियां पढ़ने के शौक में, जहाज़ी के लिए आवश्यक गुणों, दक्षताओं तथा ज्ञान के अर्जन की कोशिशों में झलक सकता है। पुरुषत्व के गुण विभिन्न अभ्यासों और खेलकूद में भाग लेने के ज़रिये विकसित किये जा सकते हैं। छठी कक्षा में ज्ञान और कौशलों का अर्जन असंगठित ढंग से होता है, किंतु सातवीं कक्षा में किशोर बाल नदी जहाज़रानी की मंडली में शामिल होने की योजना बनाने लग जाता है और अपनी इस योजना को साकार भी बना लेता है। किशोरावस्था के उत्तरार्ध (सातवीं-आठवीं कक्षाओं) में पेशे-संबंधी स्वप्नों के साकारीकरण के बाल रूप लुप्त हो जाते हैं।

किशोर के मन में भावी पेशे की तसवीर **जितनी ही साफ़ और टिकाऊ होगी**, उतनी ही जल्दी वह "आवश्यक" और "अनावश्यक", "महत्त्वपूर्ण" और "महत्त्वहीन" जानकारियों के बीच भेद करना जान जायेगा और उनके बीच समय को ठीक से बांटना सीख लेगा। छठी कक्षा में ही कुछ बच्चों को और सातवीं-आठवीं कक्षाओं में तो और भी ज्यादा बच्चों को, जिनका तकनीकी विषयों और तकनीकी पेशों के प्रति रुझान है, मानविकी के विषय "अनावश्यक" और "महत्त्वहीन" प्रतीत होने लग जाते हैं, जबकि भौतिकी तथा गणित

में उनकी रुचि स्कूली पाठ्यक्रम की सीमाएं भी लांघ जाती है। सरल वैज्ञानिक और विशेषीकृत साहित्य को अधिक पढ़ा जाता है, वैज्ञानिक और तकनीकी क्लबों में नियमित रूप से जाया जाता है और तकनीकी यंत्र व युक्तियां बनायीं, ईजाद की जाती हैं। कुल मिलाकर उनकी **स्वतंत्र सक्रियता ऐसी स्वयंशिक्षा का रूप ले लेती है, जिसकी एक सर्वथा निश्चित दिशा और स्पष्ट लक्ष्य होता है – उन सब चीज़ों को सीखना, जो भविष्य में काम आयेंगी।** इसलिए पाठ्येतर संज्ञानमूलक सक्रियता का किशोर के लिए बहुत बड़ा व्यक्तिगत महत्त्व होता है।

किशोरावस्था में **ज्ञान, उसकी व्यापकता और गहराई किशोर के लिए वयस्कों, साथियों और स्वयं के मूल्यांकन का एक महत्त्वपूर्ण मापदंड हो जाते हैं।** इस कारण सातवीं-आठवीं कक्षाओं के बहुत से छात्र अपना **सामान्य सांस्कृतिक स्तर ऊंचा उठाने**, कला के विविध क्षेत्रों – साहित्य, संगीत, चित्रकला, थियेटर, आदि – के बारे में ज़्यादा से ज़्यादा जानने के लिए लालायित रहते हैं। बहुत बार इसके लिए उन्हें प्रेरणा अपने उन साथियों से मिलती है, जिनका बहुज्ञान उनकी संगत को रोचक बना देता है और किशोर की अपने अज्ञान के बारे में आंखें खोलता है। आरंभ में किशोरों की आत्मपरिष्कार की ओर उन्मुख यह सक्रियता अनियमित, अनेकमुखी और असंगठित होती है, किंतु कुछ बच्चों के मामले में उसमें आठवीं कक्षा में ही तरुणों की सक्रियता जैसे लक्षण आ जाते हैं।

सभी ही किशोरों के मामले में ज्ञानार्जन वर्तमान तथा भविष्य के लिए आत्मपरक दृष्टि से आवश्यक सक्रियता का रूप नहीं लेता। इसके बावजूद **जिज्ञासा और कौतूहल किशोर की विशेषताएं हैं। जो कुछ भी नया है, रोचक है, अर्थपूर्ण है, उसे ग्रहण करने के लिए उसके मस्तिष्क के कपाट खुले रहते हैं,** वह तरह-तरह की जानकारियों तथा तथ्यों को आत्मसात् करता है, किंतु उसकी जिज्ञासा की मुख्य दिशा बहुविध हो सकती है। वयस्क किन्हीं कारणों से उससे जो जानकारी छिपाते हैं, वह उसकी रुचि और भी बढ़ा देती है। वर्जना और निषेध जिज्ञासा और सक्रियता को उद्दीप्त करते हैं।

किशोर के व्यक्तित्व के विकास में कला की भूमिका

किशोर की वयस्कता के विकास में ललित साहित्य, सिनेमा और टेलीविजन विशेष भूमिका निभाते हैं। किशोरों को सिनेमा देखने का बड़ा शौक होता है और किताबें भी उनमें से अधिकांश के लिए आत्मपरक दृष्टि से आवश्यक बन जाती हैं। इस संबंध में पठन-रुचियों का परिवर्तन भी ध्यान देने योग्य है: बाल साहित्य का स्थान शनैःशनैः वयस्कों द्वारा पढ़ा जानेवाला साहित्य लेने लगता है और बाद में केवल वयस्कों का साहित्य, उपन्यास ही पढ़े जाते हैं। यही बात फ़िल्मों और रंगमंच से संबंधित रुचि पर भी लागू होती है। **पुस्तकें और फ़िल्में वस्तुपरक रूप से ही नहीं, आत्मपरक रूप से भी जीवन और लोगों को जानने का साधन होती हैं। दोनों ही जीवन और मानव संबंधों के विभिन्न पहलुओं में पैठने में मदद करती हैं।**

किशोर का प्रिय नायक ऐसा व्यक्ति होता है, जो सक्रिय है, लक्ष्योन्मुख है, गंभीर, लगभग अलंघ्य बाधाओं को भी पार कर लेता है और अंत में विजयी सिद्ध होता है। किशोर को ऐसे कथानक आकृष्ट करते हैं, जिनमें प्रकृति की शक्तियों के साथ, तरह-तरह की कठिनाइयों के साथ , बुराई और उसकी विभिन्न अभिव्यक्तियों के साथ संघर्ष दिखाया होता है। आयु के साथ किशोर मानव संबंधों तथा क्षमताओं और प्रेम की समस्याओं में रुचि लेने लगता है। पुस्तकें और फ़िल्में ही उसे मानव संबंधों और भावनाओं की जटिलता और मनुष्य के जीवन में उनके स्थान के बारे में जानने की संभावना देती हैं। वे उसके जीवन के दायरे को विस्तृत कर देती हैं। पात्रों और नायकों की नियति में सहभागी बनना, विभिन्न स्थितियों में काल्पनिक रूप से पैठना, अपने को नायक के स्थान पर रखना, अंत को आकर्षक बनाने के लिए कल्पना में कथानक को दूसरा मोड़ देना, जो लिखा-कहा नहीं गया है, उसकी कल्पना करना, ये सब किशोर स्वभाव की विशेषताएं हैं।

हर कलात्मक रचना की अंतर्वस्तु किशोर के लिए ऐसे सक्रिय कर्म का विषय होती है, जिसके दौरान वह विभिन्न पात्रों की एक दूसरे से और अपने से तुलना करता रहता है। इस तुलना के ज़रिये वह अपने आपको पहचानता है और कुछ पात्र उसके लिए प्रतिमान

बन जाते हैं। कार्यों की तुलना के फलस्वरूप विभिन्न गुणों के मूल्यांकन की कसौटियां बनती हैं। **मानसिक स्तर पर रचना की विषयवस्तु संबंधी ऐसी क्रिया किशोर के नैतिक और संवेगात्मक विकास का साधन होती है।** पुस्तकों और फ़िल्मों की बदौलत वह एक विशेष रूप में और विशेष तरीके से वयस्कों के जीवन के संपर्क में आता है और दत्त क्षण में जो **मानव संबंध तथा अनुभूतियां** उसकी पहुंच से बाहर हैं, उन्हें **आत्मसात् करता है। इस तरह मानसिक, वैचारिक आत्मसात्करण व्यावहारिक आत्मसात्करण से पहले संपन्न हो जाता है।** किशोर के विकास के लिए यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

यथार्थ के विविध पहलुओं का वैचारिक आत्मसात्करण स्वप्नों (कल्पना) में जारी और विद्यमान रहता है। उनमें किशोर अपनी सक्रियता के लिए पढ़ी, देखी या सुनी गयी चीज़ों में से जिस चीज़ ने उसे चकित किया है, उसके आधार पर कल्पित जीवनीय स्थितियों का निर्माण करता है। इस तरह कल्पित स्थितियां वर्तमान में मौजूद स्थितियों और संबंधों से अंतर्गुंफित भी हो सकती हैं और उनसे असंबद्ध भी। प्रायः किशोर अपने भावी रूप की कल्पना वयस्क के तौर पर ही करता है। **अपनी वयस्कता के बिंब का निर्माण और तदनुसार आचरण की कल्पना किशोर वय के स्वप्नों का विशेष लक्षण है।** उनका संबंध बाह्य रूप, विभिन्न गुणों, पेशे, मैत्री और प्रेम के संबंधों से होता है। कुल मिलाकर ऐसे स्वप्नों को **वर्तमान और भावी जीवन की संतोषजनक रीति की खोज और ऐसे गुणों की समष्टि के रूप में अपने व्यक्तित्व के बिंब की खोज कहा जा सकता है, जो किशोर ने अन्य लोगों में देखे हैं और जो उसे आकर्षित करते हैं।** किशोर अपनी कल्पना में तरह-तरह के विकल्प गढ़ता है और कुल मिलाकर एक रोचक और सारगर्भित जीवन के, सामाजिकतः उपयोगी व सृजनपूर्ण सक्रियता के, अपने आपको जताने तथा दूसरों से मान्यता व आदर पाने के, सच्ची मैत्री तथा प्रेम के स्वप्न देखता है। उसकी कल्पना की कभी-कभी कोई सीमा नहीं होती और कल्पित वस्तु की अयथार्थता भी नयी-नयी स्थितियों को गढ़ने में बाधक नहीं बनती। कल्पनालोक में विहार करना सभी किशोरों को प्रिय है। स्वप्न को व्यवहार में साकार बनाने की आकांक्षा आत्मविकास और स्वयंशिक्षा की प्रवृत्ति में प्रकट होती है।

कभी-कभी वह घर से भागकर किसी निर्माणस्थली पर अथवा अन्यत्र कार्य करने चले जाने, नाविक प्रशिक्षण विद्यालय अथवा ऐसी किसी अन्य संस्था में भरती हो जाने में भी प्रकट होती है। ऐसे विशिष्ट तरीके से बच्चा भविष्य को निकट लाता है, उसमें आज ही प्रवेश करने, अपने को स्वतंत्र, स्वावलंबी महसूस करने, संरक्षण से मुक्ति पाने, दुनिया को अपनी आंखों से दखने, वयस्कों के श्रम में भाग लेने और समाज को लाभ पहुंचाने की कोशिश करता है।

इस प्रकार किशोर वयस्कों की दुनिया में **विभिन्न तरीकों से** प्रवेश और उसके मूल्यों का आत्मसात्करण करते हैं। **वयस्कता अथवा प्रौढ़ता का विकास एकांगी तौर पर भी हो सकता है और एक साथ कई दिशाओं में, विभिन्न गतियों से और विभिन्न रीतियों से भी हो सकता है, जैसे एक खास ढंग से बने हुए संबंधों पर अमल के रूप में, अनुकरण और सीधे-सीधे ग्रहण के ज़रिये, आत्मविकास और स्वयंशिक्षा के ज़रिये, वयस्कों और उनके जीवन से संबंधित ज्ञान के आत्मसात्करण के ज़रिये।** इन सभी प्रक्रियाओं का वस्तुतः एक ही प्रयोजन होता है: हर प्रक्रिया के दौरान किन्हीं न किन्हीं मानकों, मूल्यों, सामाजिक अपेक्षाओं तथा व्यवहार रीतियों का आत्मसात्करण होता है और सक्रियता की दिशा तथा अंतर्वस्तु को, मूल्यांकन और आत्ममूल्यांकन की कसौटियों को निर्धारित करनेवाले **वैयक्तिक मूल्य बनते हैं।** वैयक्तिक मूल्यों की इस निश्चित प्रणाली के निर्माण की अभिव्यक्ति यह है कि किशोर के लिए विभिन्न कार्य **विभिन्न वैयक्तिक महत्त्व** रखते हैं – किसी का सर्वोपरि महत्त्व और किसी का शून्य महत्त्व। इसके अलावा एक ही काम का विभिन्न किशोरों के लिए **विभिन्न प्रयोजन** भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, एक किशोर के लिए खेलकूद आत्मविकास का साधन होता है, दूसरे के लिए मेलजोल बढ़ाने का और तीसरे के लिए विश्राम और मनोरंजन का अथवा निठल्लेपन को दूर करने का।

वयस्को की दुनिया के मूल्य आत्मसात् और इस दुनिया में प्रवेश करने में मुख्यतया माता-पिता तथा अध्यापकों को ही किशोर की मदद करनी चाहिए। अन्यथा किशोर यह स्वयं अथवा साथियों, मित्रों व अन्य वयस्कों की मदद से करेगा और बिल्कुल संभव है कि महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर दृष्टिभेद के कारण किशोर और मां-बाप व शिक्षक के संबंधों

में कठिनाइयां पैदा हो जायें। वयस्क का यह कहना कि किशोर को अभी अपना दृष्टिकोण रखने का अधिकार नहीं है, न केवल कठिनाई को हल नहीं करता, बल्कि किशोर के लिए अत्यंत अपमानजनक भी है। उसके भ्रामक दृष्टिकोण को तर्कों द्वारा परास्त किया जाना चाहिए, क्योंकि उसके आत्मविश्वास की तह में अस्थिर राय और जानने-समझने की इच्छा छिपी होती है। किशोर से बातें करने के लिए वयस्क में उसकी बात सुनने की योग्यता, धैर्य, शांति और आंतरिक एकाग्रता होना आवश्यक है। बहसों को गंभीरता से लिया जाना चाहिए। वे किशोर के नैतिक विकास का साधन होती हैं।

§७. किशोर का साथियों से संसर्ग

एक ही आयु के बच्चों की बुनियादी तौर पर समान स्थिति संबंधों के इस क्षेत्र को उनके लिए आकर्षक बना देती है, क्योंकि यह समानता किशोर में उत्पन्न अपनी वयस्कता की अनुभूति के नैतिक अंतर्य के अनुरूप होती है। किशोरावस्था के आरंभ में विकास में होनेवाले विशिष्ट परिवर्तनों के कारण किशोरों की आकांक्षाओं, आवश्यकताओं, संवेगों और वयस्कों व साथियों के साथ संबंधों से की जानेवाली अपेक्षाओं में बुनियादी साम्य पाया जाता है। इससे समवयस्कों के साथ संबंध गहन बनने में मदद मिलती है। किशोर के जो मूल्य बनते हैं, वे वयस्क की अपेक्षा समवयस्क के लिए अधिक बोधगम्य होते हैं। वयस्कों का संसर्ग पूरी तरह समवयस्कों के संसर्ग का स्थान नहीं ले सकता।

किशोर के जीवन में समवयस्कों के संसर्ग की भूमिका

अपने सहपाठियों के साथ किशोर के संबंध प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के संबंधों के मुकाबले कहीं ज़्यादा जटिल, बहुविध और सारगर्भित होते हैं। **घनिष्ठता की मात्रा की दृष्टि से बहुविध संबंध किशोरावस्था में ही बनते हैं, जिनमें किशोर द्वारा स्पष्ट अंतर किया जाता है:** मात्र साथी के संबंध, घनिष्ठ साथी के संबंध, व्यक्तिगत मित्रता के संबंध। साथियों के साथ संसर्ग शैक्षिक सक्रियता और स्कूल के बाहर

भी लगातार बढ़ता जाता है। उसके दायरे में नयी-नयी रुचियां, काम और संबंध शामिल होते जाते हैं और अंततः वह **किशोर के लिए जीवन का एक स्वतंत्र व बहुत महत्त्वपूर्ण क्षेत्र** बन जाता है। यह क्षेत्र अनेकानेक व बहुविध घटनाओं, संघर्षों व टकरावों, विजयों व पराजयों, नयी खोजों व निराशाओं, रंजिशों व खुशियों से भरपूर होता है। किशोर का वास्तविक जीवन, जिसमें वह काम करता व सोचता है और जिसे वह बहुत समय व आत्मिक शक्ति अर्पित करता है, इन सबकी समष्टि होता है। **साथियों का साथ किशोर के लिए कभी-कभी इतना मूल्यवान बन जाता है** कि पढ़ाई पृष्ठभूमि में छूट जाती है और नाते-रिश्तेदारों का संसर्ग भी बहुत कम आकर्षक रह जाता है। आम तौर पर सबसे पहले मां ही इसे महसूस करती है, जो पाती है कि पुत्र (या पुत्री) उससे दूर हट रहा है, अपना एक अलग ही जीवन जी रहा है, इस बारे में उसे कुछ नहीं बताता है और अपना ज़्यादा से ज़्यादा समय घर से बाहर साथियों के साथ बिताने को लालायित रहता है। किशोर के लिए साथियों के साथ संबंध **उसके अपने निजी संबंधों का क्षेत्र** होते हैं, जिसमें वह स्वतंत्र रूप से काम करता है। वह समझता है कि उसे इसका अधिकार है। अपने इस अधिकार पर वह अड़ा रहता है और इसलिए वयस्कों का अनुचित हस्तक्षेप उसके मन में नाराज़गी और विरोध की भावना पैदा करता है। किशोर के वयस्कों के साथ संबंध जितने ही तनावपूर्ण होंगे, उसके जीवन में साथियों के साथ संबंधों का उतना ही ज़्यादा स्थान होगा और उतना ही प्रबल उसपर उनका प्रभाव होगा।

किशोर में एक ओर तो **समवयस्कों से संसर्ग बढ़ाने, उनके साथ मिल-जुलकर कार्य करने** और घनिष्ठ साथी बनाने की प्रबल प्रवृत्ति होती है और, दूसरी ओर, इतनी ही प्रबल यह **इच्छा भी कि साथी उसे समझें, मानें और आदर दें।** यह उसकी एक महत्त्वपूर्ण आत्मिक आवश्यकता बन जाती है। यदि सहपाठियों के साथ संबंध अच्छे न हों, कोई घनिष्ठ साथी और मित्र न हों या मैत्री टूट जाये, तो किशोर के लिए यह व्यक्तिगत ट्रेजेडी होती है और उसे गंभीर मानसिक आघात पहुंचता है। किशोर के लिए सबसे अप्रिय स्थिति वह होती है, जब साथी उसकी सच्चे दिल से भर्त्सना करते हैं। उसके लिए सबसे बड़ी

सज़ा वह होती है, जब उसका प्रकटतः या अप्रकटतः बहिष्कार किया जाता है, उससे मिलने-जुलने की अनिच्छा दिखायी जाती है। एकाकीपन का अहसास किशोर के लिए अत्यंत असह्य व कष्टकर होता है। सह-पाठियों के साथ अच्छे संबंध न होने पर वह स्कूल के बाहर साथी और मित्र खोजता है। सामान्यतः वे उसे मिल भी जाते हैं। किंतु ऐसी नयी मैत्री के दुखद परिणाम निकल सकते हैं।

किशोर की साथियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने, उनकी अपने में रुचि जगाने और सहानुभूति अर्जित करने की आकांक्षा कई तरह से व्यक्त हो सकती है, जैसे सीधे-सीधे अथवा वयस्कों की अपे-क्षाओं का उल्लंघन करके अपने गुणों का प्रदर्शन करना, मसखरापन दिखाना, नखरे करना, आदि। किशोरों द्वारा सामाजिक व्यवहार के नियमों के उल्लंघनों के पीछे सबसे अधिक वे अभिप्रेरक होते हैं, जिनका संबंध समवयस्कों के बीच अपनी स्थिति से किशोर की असंतुष्टि से होता है।

सोवियत संघ में आरंभिक किशोर आयु के बच्चे अपने स्वभाव से समाजोन्मुखी और लोक सेवा की भावना से प्रेरित होते हैं। सामूहिक जीवन व कार्य पद्धति उन्हें अच्छी लगती है। सामाजिक कार्य उन्हें आकृष्ट करता है, पसंद आता है। इस आयु में सामाजिक कार्य का शिक्षा व पालन के लिए बहुत बड़ा महत्त्व रखता है। इसके अलावा वह किशोरों के परस्पर संसर्ग के लिए सारगर्भित आधार बनता है और उन्हें अपनी स्वावलंबिता, क्रियाशीलता तथा उपक्रम के प्रदर्शन का अवसर देता है। फलस्वरूप हर कार्य में बच्चे निरपेक्ष दर्शक न रहकर उसके सक्रिय भागीदार बनते हैं।

साथियों से अपेक्षाएं

किशोरों के वैयक्तिक और सामूहिक परस्पर संबंध प्रायः वयस्कों के साथ संबंधों से निरपेक्ष रूप से बनते हैं। बहुत बार तो उनमें वयस्कों की इच्छा और प्रभाव को भी अनदेखा कर दिया जाता है। इन परस्पर संबंधों की अपनी अंतर्वस्तु और विकास का अपना तर्क होता है। कक्षा

में किशोर का उच्च समाजमितीय स्थान निम्न बातें तय करती हैं: १) किशोर में उन वैयक्तिक गुणों का होना, जिनकी कक्षा के सभी छात्र कद्र करते हैं; २) किशोर के मूल्यों का कक्षा के अन्य छात्रों के मूल्यों से मेल खाना; ३) साथियों की दृष्टि में मूल्यवान अपने गुणों को उचित ढंग से, बल्कि कुछ कम करके ही आंकना। कक्षा में अलोकप्रिय और कक्षा द्वारा ठुकराये हुए किशोरों का आत्ममूल्यांकन प्रायः गलत और अधिकांश मामलों में अतिरंजनापूर्ण होता है। किशोर के आत्ममूल्यांकन का स्वरूप साथियों के साथ संबंधों के विकास के लिए बड़ा महत्त्व रखता है। आरंभिक स्कूली आयु की तुलना में किशोरावस्था में बच्चों के दो चरम समूह (लोकप्रिय और अलग-थलग) स्पष्टतः उभर आते हैं और समुदाय में बच्चे की स्थिति अधिक स्थिर बन जाती है।

यदि प्राथमिक कक्षाओं में समुदाय में बच्चे की स्थिति मुख्यतया उसकी पढ़ाई में प्रगति, व्यवहार और सामाजिक क्रियाशीलता से (यानी वह वयस्कों की अपेक्षाएं कैसे पूरा करता है, इससे) निर्धारित होती है, तो **किशोरों के मामले में सबसे महत्त्वपूर्ण अन्य बातें बन जाती हैं, जैसे साथी और मित्र के नाते इसके गुण, सूझबूझ, ज्ञान (केवल पढ़ाई में प्रगति ही नहीं), साहसिकता और आत्मनियंत्रण की योग्यता।** विभिन्न कक्षाओं में (किशोर-समूहों में भी) इन गुणों का मूल्यांकन भिन्न-भिन्न होता है। **किंतु एक गुण – साथीपन का गुण – फिर भी सर्वोच्च स्थान पर रहता है।** लोकप्रियता ही नहीं, सच्चा आदर और मान्यता अर्जित करने के लिए भी सर्वप्रथम अच्छा साथी होना आवश्यक है। इस संबंध में प्रायः किशोरावस्था के आरंभ में पहले के लोकप्रिय बच्चों का समूह बदल जाता है: एक तो, पहले जिनका दबदबा था, उनके स्थान पर अन्य आ जाते हैं और, दूसरे, प्रायः देखा जाता है कि कक्षा में जो मानीटर, वगैरह हैं, वे अनिवार्यतः सबसे अधिक समादृत और प्रतिष्ठित भी नहीं हैं, क्योंकि बहुत से अध्यापकों में मानीटर, वगैरह को अच्छा पढ़नेवाले तथा अनुशासनबद्ध किशोरों में से चुनने की प्रवृत्ति होती है, चाहे उनमें अच्छे साथी के गुण हों या न हों। सहपाठी जिनके प्रभाव, दबदबे को नहीं मानते, उनका मानीटर, आदि होना अच्छा समुदाय बनाने और पायनीयर

संगठन के काम को ठीक से आयोजित करने में पैदा होनेवाली कठिनाइयों का एक कारण है। दूसरा, उतना ही महत्त्वपूर्ण कारण है अध्यापकों द्वारा अपनी निरंकुश नेतृत्व शैली को बनाये रखना और मानीटर, वगैरह को सहपाठियों से वैसे ही पेश आने की सीख देना, हालांकि किशोर इसे बिल्कुल कबूल नहीं करते, क्योंकि **वयस्कों से भी और साथियों से भी उनकी एक ही बुनियादी अपेक्षा होती है – उनके व्यक्तित्व और गरिमा का आदर।**

यह अपेक्षा ही किशोरों की "साथीपन के नियमों की संहिता" का मेरुदड है। ये नियम खेलकूद में और अन्य कार्यों में शनैःशनैः बनते और निश्चित रूप धारण करते हैं। उन्हें वयस्कों के परस्पर संबंधों से भी लिया जाता है। इन नियमों के निर्धारण तथा सुनिश्चितीकरण में पुस्तकें और फ़िल्में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। **किशोरों की "साथीपन के नियमों की संहिता" में सबसे अधिक बल आदर, समानता, निष्ठा, साथी की सहायता और ईमानदारी पर दिया जाता है। किशोरों के बीच किसी की भी साथी, समूह अथवा कक्षा के संबंध में कोई भी हरकत छिपी नहीं रहती और इन नियमों के अनुकूल अथवा प्रतिकूल करार दी जाती है।** इसीलिए किशोर साथी या समूह के प्रति दिखायी "गद्दारी" की, समझौता तोड़ने की, नेतागीरी दिखाने की, घमंड और अपने गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने की, साथी की राय की उपेक्षा करने और किसी भी रूप में (सीधे या उसके पीठ पीछे) उसकी गरिमा पर आघात करने की एक स्वर से भर्त्सना करते हैं। ये बातें मनमुटाव, टकराव और झगड़े पैदा करती हैं। किशोर साथी में आत्मसम्मान की कमी, अपनी राय न रखने अथवा उसपर डटे रहना और अपमानकर्त्ता को मुंहतोड़ जवाब देना न जानने की भी निंदा करते हैं। इसी तरह उन्हें चापलूसी, खुशामद और गिरगिट की तरह रंग बदलने से भी घृणा होती है। इन सबके प्रतिकूल गुण ही किशोर के उस जायमान नैतिक आदर्श का आधार बनते हैं, जो साथी के गुणों के संबंध में उसकी अपेक्षाओं तथा साथी के साथ संबंधों के नियमों को निर्धारित करता है।

बहुत महत्त्वपूर्ण है कि ये मानक, नियम और अपेक्षाएं वयस्कों के संबंधों के मुख्यतम मानकों व नियमों – साथीपन, मैत्री, सच्चे सहयोग

के संबंधों – से मेल खाते हैं। **किशोरों की "साथीपन के नियमों की संहिता" की नैतिक अंतर्वस्तु के वयस्कों के परस्पर संबंधों के मानकों व नियमों से एकरूप होने की बदौलत किशोर का अपने समवयस्कों से संसर्ग उसकी सामाजिक-नैतिक प्रौढ़ता के विकास के लिए एक विशेष विद्यालय जैसा बन जाता है।** यह संसर्ग उसे समुदाय में सामाजिक अन्योन्यक्रिया की नयी रीतियों, जो वयस्कों की नैतिकता के मानकों पर आधारित होती हैं, की व्यावहारिक शिक्षा देता है। **साथियों के साथ संबंधों के व्यवहार में ही यह नैतिकता सबसे कारगर ढंग से आत्मसात् हो पाती है।** समवयस्कों का संसर्ग किशोर को अपने बड़े होने की अनुभूति विकसित तथा सुदृढ़ करने के लिए अनुकूलतम परि-स्थितियां मुहैया करता है।

समवयस्कों से आदर तथा मान्यता पाने की चाह किशोर को उनकी रायों तथा मूल्यांकनों के प्रति संवेदनशील बनाती है। साथियों की टीका-टिप्पणियां, असंतोष और नाराज़गी उसे उनके कारणों के बारे में सोचने, अपनी खामियां महसूस करने के लिए बाध्य करती हैं और, दूसरी ओर, अच्छे संबंध और आदरपूर्ण स्थिति की आवश्यकता, खामियां दूर करने और दूसरों की आशा के अनुकूल सिद्ध होने की इच्छा जागृत करती है। किशोरावस्था में **समवयस्कों की अपेक्षाओं को समझने, उन्हें ध्यान में रखने की योग्यता** बड़ी तेज़ी से विकसित होती है। सुचारु संबंधों और संसर्ग के लिए यह योग्यता बहुत ज़रूरी है। उसके अभाव को बड़े किशोरों द्वारा बचकानापन माना जाता है। संबंधों के सुचारु न होने का मुख्य कारण प्रायः किशोर की अपनी बारे में बढ़ी-चढ़ी राय होती है, जिसकी वजह से वह साथियों द्वारा की गयी आलोचना को नहीं सह पाता और उनकी अपेक्षाओं को नहीं समझ पाता। इसीलिए वह उनके लिए अस्वीकार्य बन जाता है।

किशोर के जीवन में मैत्री का स्थान

किशोर के व्यक्तित्व और सामाजिक-नैतिक प्रौढ़ता के विकास में घनिष्ठ साथियों और मित्र के साथ संबंधों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। ये संबंध उसके लिए उत्तरोत्तर आवश्यक बनते जाते हैं। **किशोर**

अपने उन सहपाठियों से मेलजोल बढ़ाने और मैत्री करने के लिए लालायित रहता है, जिनका दूसरे आदर करते हैं और दबदबा मानते हैं। इस आकर्षण के कारण कुछ भी हो सकते हैं: अच्छे साथी के गुण, व्यापक ज्ञान, बहुकार्यदक्षता, साहसिकता, क्रीड़ा-कुशलता, बाह्य रूप तथा आचरण में प्रौढ़ता, रोमांटिक संबंधों का अनुभव, वयस्कों के साथ संबंधों में आत्मनिर्भरता, वगैरह। उल्लेखनीय है कि कम आयु के किशोरों में वे किशोर प्रायः हलचल पैदा करते हैं, जिनमें बाह्य प्रौढ़ता के लक्षण होते हैं (ये किशोर प्रायः वे होते हैं, जो अपनी आयु से बड़े लगते हैं अथवा दूसरे वर्ष एक ही कक्षा में रह जाते हैं)। सहपाठियों की नज़र में वे औरों से बड़े होते हैं और इसीलिए अपने में ज़रूरत से ज़्यादा दिलचस्पी जगाते हैं। कुछ बच्चे उनकी आलोचना करते हैं, कुछ उनके जैसा बनने, उनकी नकल करने अथवा उनसे घनिष्ठ संबंध बनाने की कोशिश करते हैं। यह इसके लिए प्रत्यक्ष संकेत है कि कक्षा में सामान्य शिक्षा का कार्य तेज़ कर दिया जाना चाहिए। बहुत ज़रूरी है कि वयस्कता अथवा प्रौढ़ता के इन नकली प्रतिमानों को तुरंत बेनकाब कर दिया जाये और उसकी अंतर्वस्तु के बारे में, सच्चे आदर और प्रभाव के बुनियादी तत्त्वों के बारे में सही धारणाएं पेश की जायें। इसके लिए अवसर प्रचुर होते हैं, क्योंकि किशोर को एक साथ कई तरह के, बहुत ही भिन्न-भिन्न रुचियोंवाले सहपाठी या साथी आकृष्ट करते हैं और न्यूनाधिक लंबे समय तक उसके संपर्क का दायरा व्यापक, मगर अस्थिर रहता है: काफ़ी घनिष्ठ, किंतु अल्पकालिक संबंध कायम किये जाते हैं – **घनिष्ठ साथी की तलाश चल रही होती है और सभी मामलों में संपर्क की परस्पर आकर्षकता को और दोहरे ढंग की – रुचियों के अनुसार और व्यक्तिगत संबंधों के स्वरूप से संतोष की मात्रा के अनुसार – परस्पर संगति को परखा जा रहा होता है।**

किशोरों की किन्हीं विशेषताओं के विकास के स्तरों में यदि काफ़ी अंतर है, तो मैत्री की स्थापना में बाधा उत्पन्न हो सकती है, क्योंकि अधिक विकसित के लिए कम विकसित की संगत में कोई आनंद न आयेगा। दूसरी ओर, यह भी हो सकता है कि अधिक विकसित कम विकसित पर हावी हो जाये।

किशोरों को एक दूसरे के करीब आने के लिए रुचियों तथा प्रिय

कामों की साम्यता, संगत और बातचीतों का दिलचस्प होना बड़ा महत्त्व रखते हैं। मेलजोल का सार्थक आधार प्रिय शौक और काम हो सकते हैं। किशोरों में मिल-जुलकर काम करने और किसी एक को दिया हुआ काम भी संयुक्त रूप से करने की प्रवृत्ति होती है। यदि उन्हें अपना कोई समवयस्क मानता है, तो वे आसानी से उसकी रुचियों को अपना लेते हैं और, दूसरी ओर, उसे भी अपनी रुचियों, कामों में भागीदार बनाने का प्रयास करते हैं। प्रायः साथियों की संगत इतनी आकर्षक होती है कि उनके साथ किशोर वह काम भी करने लग जाता है, जिसमें उसकी रुचि न पहले थी और न अब है। किंतु समय के साथ वह उसमें रुचि लेने लग सकता है। इसलिए **साथियों का संसर्ग नयी रुचियों की उत्पत्ति का स्रोत होता है।** साथ मिलकर अच्छी तरह काम करने की योग्यता की किशोर बड़ी कद्र करते हैं।

मनपसंद समवयस्क के गुण किशोर को पहली बार अपने बारे में गंभीरतापूर्वक सोचने, अपने में उन गुणों की कमी जानने और महसूस करने की संभावना देते हैं, जो उसे अच्छे लगते हैं और साथी जिनकी कद्र करते हैं। इस तरह उसके जैसा, बल्कि बेहतर बनने की इच्छा पैदा होती है। **साथी किशोर के लिए प्रतिमान बन जाता है।** वह उसकी या तो सीधे-सीधे नकल करता है या फिर अपने में कुछ खास गुण विकसित करने लगता है, जैसे खूब पढ़ना, शारीरिक शक्ति और साहसिकता का विकास करना, आत्मसंयम सीखना, वचन-पालन की आदत डालना, आदि।

घनिष्ठ साथियों के परस्पर संपर्क में बातचीत का बड़ा स्थान है। किशोर कक्षाओं में और पाठों के दौरान, घूमते समय और पाठ तैयार करते समय भी बातें करते रहते हैं, क्योंकि उनकी राय में बातों से बढ़कर दिलचस्प और कुछ नहीं है। कुछ मामलों में तो सारा खाली समय, जब किशोर साथ होते हैं बातचीत में ही बीतता है और उनके बीच एकमात्र संबंध-सूत्र यही होता है। ऐसी मैत्री पहले-पहल किशोरावस्था में पैदा होती है। बच्चे अपनी दिलचस्पी की सूचनाओं का विनिमय करते हैं, कक्षा की घटनाओं, सहपाठियों की हरकतों, परस्पर संबंधों, आदि की परिचर्चा करते हैं, बिल्कुल निजी सवालों के बारे में खुसफुसाते हैं, जिनका खुले आम ढिंढोरा नहीं पीटा जा सकता,

जैसे अपने मंसूबे, सपने, उन्हें जीवन में साकार बनाना, संयुक्त इरादे, रोमांटिक झुकाव (प्रसंगत: किशोरों के "राज़" इन्हीं सवालों से संबंध रखते हैं) और अधिक अंतरंग, यौवनारंभ से संबंधित सवाल।

बातचीत की महत्त्वपूर्ण और वैयक्तिक समझी जानेवाली अंतर्वस्तु ज्यों-ज्यों बढ़ती तथा गहन बनती जाती है, त्यों-त्यों ऐसे मित्र की आवश्यकता अधिकाधिक तीव्रता से महसूस की जाने लगती है, जिससे मन की बात कही जा सके, सलाह ली जा सके और सहारा व मदद पायी जा सके। इसलिए **मैत्री संबंधों से भी विशेष अपेक्षाएं की जाने लगती हैं – परस्पर स्पष्टवादिता, समझ, संवेदनशीलता, सहृदयता, सहानुभूति और राज़ छिपाये रखने की योग्यता जैसी अपेक्षाएं।** जिस मैत्री में एक मित्र दूसरे मित्र से कुछ नहीं छिपाता, अपना मन खोलकर रख देता है, वैसी मैत्री दोनों को ही आत्मिक तौर पर संपन्न बनाती है, एक दूसरे को बेहतर समझने और यह जानने की संभावना देती है कि स्वयं अपनी आत्मा में क्या घट रहा है। सच्चा मित्र पाना और खुद भी उसके लिए एकमात्र मित्र होना हर किशोर का, लड़के और लड़की का स्वप्न होता है। वे मित्र अथवा घनिष्ठ साथी के अन्य किशोरों के प्रति झुकाव के बारे में बड़े ईर्ष्यालु होते हैं और अपनी मैत्री में किसी तीसरे का दखल सहन नहीं कर सकते। किंतु जोड़े के हर सदस्य के सामान्यत: अन्य कमोबेश घनिष्ठ साथी भी होते हैं और उनसे ही किशोर का ज़्यादातर मिलना-जुलना होता है। इसी आधार पर कक्षा में समूह बनते हैं। किशोरावस्था में विभिन्न समूहों के सदस्यों के बीच जटिल और तनावपूर्ण संबंध पैदा हो सकते हैं।

किशोरों की मैत्री का आदर्श होता है "सदा सब मिल-जुलकर और सदा सब बांटकर!" इसका मतलब "साथीपन के नियमों की संहिता" का और मैत्री संबंधों से की जानेवाली अतिरिक्त अपेक्षाओं का पूर्ण पालन ही नहीं, एक दूसरे के जीवन के सभी पहलुओं में दखल, सहयोग और सहकार्य भी होता है। **किशोर अपने साथी अथवा मित्र के साथ साझे जीवन के लिए प्रयत्नशील रहता है।** आयु के साथ "आत्मैक्य", यानी मानसिक जीवन का साझापन, परस्पर समझ और वैयक्तिक मूल्यों की समानता व आकांक्षाओं की समानता, महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर दृष्टिसाम्य अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण बनते जाते हैं। ऐसी

मैत्री की स्थापना में सभी संभव जीवन संबंधी, नैतिक तथा सौंदर्यपरक प्रश्नों पर परस्पर विचार और बहसें सहायक होती हैं, जो कभी-कभी लंबी और अत्यंत संवेगात्मक भी हो सकती हैं। वे नैतिक विकास के लिए आवश्यक हैं, क्योंकि उनमें हर कोई न केवल अपने मत की सत्यता को सिद्ध करना तथा उसपर अड़े रहना, बल्कि यदि वह गलत है, तो उसकी त्रुटिपूर्णता को देखना भी सीखता है। बहसों और उसके बाद होनेवाले चिंतन-मनन की प्रक्रिया में किशोर का दृष्टिकोण बनता है, जो **उसका अपना, निजी दृष्टिकोण होता है। दूसरे शब्दों में, उसके दृढ़ विश्वास बनते हैं।** इसके साथ ही मित्रों का विभिन्न प्रश्नों पर दृष्टि-साम्य भी उत्पन्न होता है, जो उनकी आत्मिक घनिष्ठता का आधार बनता है।

संबंध तब विकास के और भी ऊंचे स्तर पर पहुंच जाते हैं, जब किशोरों के **साझे और हर किसी के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण लक्ष्य और कार्यभार** प्रकट हो जाते हैं, जिनका संबंध भावी पेशे की तैयारी, आत्मविकास और स्वयंशिक्षा से होता है। मित्र संयुक्त प्रयासों से उन्हें असली रूप देना शुरू करते हैं: संयुक्त रूप से ज्ञान का अर्जन करते हैं, हुनर सीखते हैं, विभिन्न गुण विकसित करते हैं और एक दूसरे के काम आते हैं। यह व्यक्तित्व के विकास के लिए सबसे मूल्यवान मैत्री-प्ररूप है। इसका विलोम मैत्री-प्ररूप किशोरों की बाह्य वयस्कता की आकांक्षा पर, समययापन व मनोरंजन के मामले में वयस्कों की नकल करने पर आधारित होता है।

सच्ची मैत्री विरले ही तुरंत पैदा होती है। सामान्यतः खोज, असफलताएं और अल्पकालिक संबंध उसके पूर्वगामी होते हैं। **ऐसे अनुभव के आधार पर ही मित्र और मैत्री का वैयक्तिक आदर्श बनता और परिष्कृत रूप ग्रहण करता है।** संबंधों का जन्म जितनी आसानी से होता है, उतनी आसानी से वे सुदृढ़ और प्रगाढ़ नहीं बन पाते। इसके लिए मात्र रागात्मक झुकाव और रुचि-साम्य काफ़ी नहीं है। यह ज़रूरी है कि हर पक्ष "साथीपन के नियमों" और मैत्री से की जानेवाली अपेक्षाओं का पालन करे। यही सबसे कठिन होता है, विशेषतः आरंभ में, चूंकि किशोर साथी के साथ संबंध से तो बड़ी-बड़ी और कुछ निश्चित अपेक्षाएं करता है, किंतु अपने से इनी-गिनी ही और वे

भी हमेशा नहीं, और इसी तरह वह दूसरे की खामिया तो देखता है, किंतु अपनी खामियां नहीं। इससे मनमुटाव, टकराव, झगड़े पैदा होते हैं और संबंध टूट भी सकते हैं। किशोर मैत्री का मूल्य करते हैं, किंतु साथ ही वे बहुत कठोर और अतिसंवेदनशील भी होते हैं। घनिष्ठ साथी का मित्र बनना बहुत ही अंतरंग प्रक्रिया है। वह किशोर की समवयस्क के साथ संगत से अपनी संतुष्टि के बोध और इस संगत के एक ऐसी आवश्यकता में परिवर्तन से जुड़ी हुई है, जिसकी तुष्टि दत्त क्षण में और कोई नहीं कर सकता। इसीलिए किशोरों की मैत्री संवेगात्मक और वैयक्तिक संबंधों के स्वरूप के सिलसिले में अनेकानेक अनुभूतियों से भरपूर होती है।

किशोर घनिष्ठ साथी और मित्र के साथ संबंधों के बारे में बहुत सोचता है। यह जानना और समझना चाहता है कि इन संबंधों में और साथी में उसे क्या पसंद है और क्या नहीं। वह अपने प्रति उसके रवैये की और उसके प्रति अपने रवैये की तुलना करता है, उन हरकतों को निर्दिष्ट करता है, जो बुरी लगती हैं और फिर उनके कारण समझने की चेष्टा करता है। वह साथी की अपने से तुलना करता है। ऐसे चिंतन तथा मूल्यांकन की प्रक्रिया में संबंधों से असंतुष्टि के कारणों के बारे में और दोषी कौन है व आगे क्या किया जाना चाहिए (उदाहरणार्थ, क्षमा कर दिया जाना चाहिए अथवा दोस्ती तोड़ देनी चाहिए), इस बारे में धारणा बनती है। किशोर अपने संबंधों के विकास के हर चरण में एक दूसरे के संबंध में बहुत सक्रियता से काम करते हैं और उन्हें इस या उस दिशा में बनाते हैं।

उनका परस्पर संसर्ग एक विशेष प्रकार की सक्रियता होता है, जिसका विषय दूसरा व्यक्ति – साथी – है और अंतर्वस्तु परस्पर संबंधों का निर्माण तथा उनके दायरे में काम करना। इस सक्रियता के दौरान किशोर द्वारा दूसरे व्यक्ति का और स्वयं अपना ज्ञान प्राप्त किया जाता है और इस ज्ञान के साधन विकसित होते हैं, जैसे साथी और अपने कार्यों की तुलना, विश्लेषण और सामान्यीकरण करने की योग्यता, उन कार्यों के नैतिक अंतर्य को देखने व मूल्यांकन करने की क्षमता। इस तरह साथी के व्यक्तित्व और स्वयं अपने व्यक्तित्व से संबंधित धारणाएं भी समृद्धतर बनती हैं और मूल्यांकन तथा आत्ममूल्यांकन

में परिवर्तन होता है। इन सब सोच-विचारों के फलस्वरूप **अपनी ही नहीं, साथी की भी खामियों को सुधारने की ओर लक्षित क्रियाशीलता जन्म लेती है।**

दूसरे आदमी पर प्रभाव डालने की चेष्टा किशोर की नयी और काफ़ी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इसमें उसकी सामाजिक क्रियाशीलता और समवयस्कों से सामाजिक अन्योन्यक्रिया का नया स्वरूप झलकते हैं। मित्रों और घनिष्ठ साथियों के साथ संबंधों की विशिष्टता यह है कि किशोर **एक दूसरे को ढालते है**, क्योंकि हर पक्ष दूसरे पक्ष से संबंध और व्यवहार विषयक कुछ निश्चित अपेक्षाएं करता है और उनकी पूर्ति पर निगरानी रखता है, और यदि उनकी पूर्ति नहीं की जाती, तो सज़ा के तौर पर संसर्ग से इनकार जैसा कड़ा कदम उठाया जाता है। व्यक्तित्व के विकास के लिए निकट साथी और मित्र के संसर्ग का बहुत बड़ा महत्त्व इसलिए है कि यह संसर्ग **विशेष प्रकार के संबंधों – वैयक्तिक संबंधों**, जो केवल वयस्क लोगों के बीच ही पाये जाते हैं – **के नियमों को सीखने की व्यावहारिक शिक्षा देता है। मैत्री के नियमों को सीखना किशोरावस्था में बच्चे की एक सबसे बड़ी उपलब्धि है।**

लड़के-लड़कियों के संबंधों की विशेषताएं

किशोरावस्था में लड़कों और लड़कियों के संबंधों में गंभीर परिवर्तन आते हैं। एक दूसरे में रुचि, एक दूसरे को पसंद आने की चाह पैदा होती है और फिर इसी सिलसिले में अपनी शक्ल-सूरत पर, अपनी आकर्षकता पर भी ध्यान दिया जाने लगता है। शारीरिक विकास और लैंगिक परिपाक (यौवनारंभ) के मामले में लड़कियां लड़कों से आगे निकल जाती हैं। पांचवीं-छठी कक्षाओं में कुछ लड़कियां लड़कों से अधिक लंबी और हृष्ट-पुष्ट होती हैं। छोटा कद लड़के में अप्रिय अनुभूतियां और हीनता का भाव उत्पन्न कर सकता है। ऐसी ही अनुभूतियां उस लड़की में भी पैदा हो सकती हैं, जो कक्षा में औरों से लंबी है।

आरंभ में बहुत से लड़कों की लड़कियों में रुचि अस्पष्ट सी होती है और नवकिशोरों के मामले में एक विशेष ढंग से व्यक्त होती है, जैसे लड़कियों को चिढ़ाना। लड़कियां इसपर प्राय: नाराज होती हैं,

मगर यह नाराज़गी गंभीर नहीं होती, क्योंकि वे ऐसी हरकतों का कोई उल्टा मतलब नहीं लगातीं। बाद में संबंध बदल जाते हैं: निश्छलता खो जाती है, एक प्रकार की जड़ता, झिझक और संकोच प्रकट हो जाते हैं। कुछ के मामले में यह सीधे-सीधे दिखायी दे जाता है और कुछ के मामले में दूसरे लिंग के प्रति छद्म-उदासीनता तथा "घृणा" के नीचे छिपा रहता है। व्यवहार उभयभावी बन जाता है: लड़के-लड़कियों की एक दूसरे में रुचि और अलगाव बने रहते हैं, किंतु साथ ही वे जायमान संबंधों में और उनके विकास की विशेषताओं में बड़ी जिज्ञासा भी दिखाते हैं।

छठी-सातवीं कक्षाओं में बहुत से किशोरों, विशेषत: लड़कियों को यह प्रश्न परेशान करता है कि किसे कौन पसंद है। यद्यपि अपने अनुराग के बारे में किशोर सामान्यत: केवल मित्र या घनिष्ठ साथी को ही बताते हैं, फिर भी आम तौर पर उसे कई अन्य सहपाठी भी जानते हैं: उनकी निगाह पैनी होती है और खबरों का आदान-प्रदान भी चलता ही रहता है।

पांचवीं-छठी कक्षाओं में लड़कों और लड़कियों के बीच मैत्री विरले ही पैदा होती है, किंतु सातवीं-आठवीं कक्षाओं में परस्पर अनुराग अत्यंत संवेगात्मक हो सकता है और जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रख सकता है। इकतरफ़ा अनुराग प्राय: गंभीर मनोवेदनाओं का कारण बनता है। साझे शौक, रुचियों और कामों के रूप में कोई सारगर्भित आधार होने पर रोमांटिक संबंध साथियों के संबंधों की तरह विकसित हो सकते हैं। ऐसे आधार के अभाव में मिलन, साथ-साथ भ्रमण, सिनेमा देखना, पार्क में टहलना, आदि उसकी जगह ले सकते हैं। सातवीं-आठवीं कक्षाओं में लड़के-लड़कियों के मिले-जुले गिरोह बनने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है।

विपरीत लिंग के समवयस्कों में रुचि का किशोर के व्यक्तित्व के विकास के लिए बड़ा महत्त्व होता है। जिस व्यक्ति से अनुराग है, उसमें बढ़ी हुई दिलचस्पी चयनात्मक प्रेक्षण में अभिव्यक्ति पाती है: उस व्यक्ति के व्यवहार, कार्यों, प्रतिक्रियाओं, मनोदशाओं, मनोवृत्तियों और भावनाओं में सूक्ष्म परिवर्तनों पर ध्यान दिया जाने लगता है। इसी तरह दूसरे लिंग के व्यक्ति के संसर्ग से उत्पन्न अपनी मन:स्थितियों

पर भी ध्यान देने की प्रवृत्ति पैदा होती है। रोमांटिक अनुभूति व्यक्तित्व की क्षमताओं को समेकित करती हैं, बेहतर बनने की इच्छा को जन्म देती है, प्रिय कार्य, मदद अथवा रक्षा करने की प्रेरणा प्रदान करती है। ऐसा अनुराग आत्मपरिष्कार का एक अभिप्रेरक बन जाता है।

इस प्रकार किशोरावस्था में साथियों का संसर्ग किशोर के व्यक्तित्व के निर्माण पर गंभीर, प्रायः निर्णायक प्रभाव डालता है। साथी उसके लिए प्रतिमान बन जाते हैं। एक दूसरे पर सक्रिय प्रभाव डाला जाता है, एक दूसरे को शिक्षित किया जाता है। इसलिए अध्यापक के प्रभाव के दायरे में किशोरों के कामकाजी परस्पर संबंधों को ही नहीं, साथियों और मित्रों के साथ संबंधों को भी समाविष्ट किया जाना चाहिए।

§८. किशोर की शिक्षा सक्रियता

पढ़ाई, अध्यापक और शिक्षा विषयों के प्रति रवैया

स्कूल और पढ़ाई किशोरों के जीवन में बहुत बड़ा स्थान रखते हैं। किंतु यह स्थान सभी बच्चों के मामले में एक सा नहीं होता, यद्यपि पढ़ाई की आवश्यकता और महत्त्व को सभी स्वीकारते हैं। बहुत से बच्चों के लिए स्कूल का आकर्षण समवयस्कों से संसर्ग की व्यापक संभावना की वजह से बढ़ता है, किंतु इससे प्रायः पढ़ाई पर बुरा असर पड़े बिना नहीं रहता। किशोर के लिए पाठ का घंटा पढ़ाई का ही नहीं, बल्कि सहपाठियों और अध्यापक से संपर्क का समय भी होता है, जो अनेकानेक अर्थपूर्ण हरकतों, क्रियाओं, मूल्यांकनों और अनुभवों से भरपूर रहता है। विभिन्न कृत्यकों को करते हुए बच्चे अपने संपर्क को रोकते नहीं। अध्यापक का सामग्री को दिलचस्प ढंग से समझाना और पाठ को कुशलतापूर्वक संचालित करना ही किशोर बच्चे को साथियों के बारे में भूलने के लिए मजबूर कर सकते हैं। साथियों से संपर्क किशोर का पाठ की तैयारी की ओर से ध्यान हटाता है। इसके अलावा किशोर की निजी रुचियां, प्रिय काम और शौक पढ़ाई में आड़े आते हैं। इसी प्रकार किशोर विविध स्रोतों से जो बहुविध

और दिलचस्प जानकारियां व्यग्रतापूर्वक आत्मसात् करता है, वे भी स्कूल में प्राप्त ज्ञान से प्रतिस्पर्धा करती हैं।

जीवन का और परिवेश के साथ संबंधों का समृद्धतर और व्यापकतर बनना **किशोर की स्कूली पढ़ाई में निमग्नता को कम कर देता है।** किशोर की शिक्षा सक्रियता की परिस्थितियां वैसी नहीं होतीं, जैसी कि पहले थीं।

माध्यमिक स्कूल में पहुंचने तक बच्चों में कई दृष्टियों से अंतर आ जाते हैं, जिनका संबंध निम्न बातों से होता है: १) पढ़ाई के प्रति रवैया – अति गंभीरता से लेकर काफ़ी कुछ उदासीनता तक ; २) सामान्य विकास – ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में जानकारी के ऊंचे और अपनी आयु के लिए काफ़ी ऊंचे स्तर से लेकर अति सीमित स्तर तथा दायरे तक ; ३) शिक्षा सामग्री के आत्मसात्करण की रीतियां – स्वतंत्र रूप से काम करने और सामग्री को हृदयंगम करने की योग्यता से लेकर उसके पूर्ण अभाव और शब्दशः रटने की आदत तक ; और ४) रुचियां – ज्ञान-विज्ञान की किसी शाखा में स्पष्टतः परिलक्षित रुचियों और सार-गर्भित कार्यों व अभ्यासों से लेकर संज्ञानमूलक रुचियों के पूर्ण अभाव तक।

शिक्षा सक्रियता के दोषों की बाह्य अभिव्यक्ति की मात्रा भिन्न-भिन्न हो सकती है। यदि प्राथमिक कक्षाओं में उनमें से कुछ दोष बच्चों के ठीक से पढ़ने में बाधक नहीं बनते थे, तो पांचवीं कक्षा से वे प्रच्छन्न नहीं रह जाते और ज्ञान के पूर्ण आत्मसात्करण में गंभीर रुकावटें पैदा करने लग जाते हैं। उन्हें समय रहते दूर किया जाना आवश्यक है, अन्यथा **उनके स्थायी कुपरिणाम निकल सकते हैं, जैसे नयी, शनैःशनैः जटिल बनती सामग्री को स्वतंत्र रूप से आत्मसात् करने की अयोग्यता।** किशोर पढ़ाई में ठीक नहीं चल रहा है, इसका सीधा संकेत है प्राथमिक कक्षाओं के मुकाबले अब खराब अंक पाना। इसका कारण पढ़ाई के प्रति दोषपूर्ण रवैया और शिक्षा सामग्री के आत्मसात्करण के गलत ढंग हो सकते हैं, इसलिए दोनों ही हालतों में ज्ञान में रिक्त स्थान बढ़ते जाते हैं।

माध्यमिक स्कूल में आ जाने पर किशोरों का शैक्षिक कार्य एकाएक काफ़ी जटिल बन जाता है: अब एक ही अध्यापक के स्थान पर पांच-छह

नये अध्यापक आ जाते हैं, जो संभव है कि आरंभ में अपने छात्रों को जानते भी नहीं। उनमें से हर किसी का पढ़ाने और पूछने का अपना ढंग होता है, छात्रों से अपनी अपेक्षाएं और उनके प्रति अपना रवैया होता है। अध्यापकों की नयी और विभिन्न अपेक्षाओं के अनुकूल अपने को ढालने की प्रक्रिया पूरी कक्षा के लिए और प्रच्छन्न अथवा प्रकट दोषयुक्त शिक्षा सक्रियतावाले छात्रों के लिए विशेषतः कठिन होती है। छात्रों और कोई एक ही विषय पढ़ानेवाले अध्यापकों के परस्पर संबंध प्राथमिक कक्षाओं के छात्र-अध्यापक संबंधों से भिन्न होते हैं, यानी ज़्यादा सतही और कम वैयक्तिक। वैसे भी हर नया अध्यापक सदा रुचि पैदा करता है। जब एक साथ कई सारे नये अध्यापक आ जायें, जिनकी पेशेगत कुशलता का स्तर, व्यक्तित्व की विशेषताएं, व्यवहार और छात्रों के प्रति दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं, तो विभिन्न बातों में उनकी तुलना और मूल्यांकन भी किया जाने लगता है। कुछ का अध्यापन-कौशल दूसरों की आलोचना किये जाने का कारण बनता है। इसके परिणामस्वरूप एक तो अध्यापकों के प्रति विभेदित दृष्टिकोण पैदा होता है, कुछ "मनपसंदों" की श्रेणी में आ जाते हैं और कुछ "ना-पसंदों" की श्रेणी में, और, दूसरे, **अन्य व्यक्ति को जानने के साधन** विकसित होते हैं और वयस्क की सक्रियता तथा व्यक्तित्व को **आंकने की नयी कसौटियां** बनती हैं। कुछ कसौटियां अध्यापन के स्तर से संबंध रखती हैं और कुछ किशोरों के प्रति अध्यापक के रवैये की विशेष-ताओं से। वैसे किशोरावस्था के आरंभ अध्यापक की बच्चों के साथ संबंधों को सही ढंग से बनाने की योग्यता अथवा अयोग्यता ही कक्षा में उसके कार्य की कठिनता की मात्रा को निर्धारित करती है।

किशोर जानकार, कठोर, निष्पक्ष, सदाशयतापूर्ण, व्यवहारकुशल और ऐसे अध्यापकों की कद्र करते हैं, जो सामग्री को रोचक व बोधगम्य ढंग से पढ़ाना, समझाना, पाठ के दौरान काम को चलते-चलते संगठित करना, छात्रों को उसमें मग्न करना और पाठ को सभी के लिए व हर एक के लिए अधिकतम उत्पादक बनाना जानते हैं। सातवी-आठवीं कक्षाओं में अध्यापक की विद्वत्ता, विषय पर अधिकार और छात्र को अतिरिक्त जानकारी देने की उत्सुकता की विशेष कद्र की जाती है। उन अध्यापकों का भी सम्मान किया जाता है, जो कक्षा में समय व्यर्थ

नहीं गंवाते। दूसरी ओर, वे अध्यापक पसंद नहीं किये जाते, जो छात्रों के स्वतंत्र रूप से सोचने पर रोक लगाते हैं।

किशोरावस्था के आरंभ में शिक्षा विषय के प्रति बच्चों का रवैया सबसे पहले अध्यापक के प्रति रवैये और प्राप्त अंकों पर निर्भर होता है। बहुतों को वह विषय पसंद आता है, जो उनके लिए सरल होता है और जिसमें आसानी से उत्तीर्ण हुआ जा सकता है। इसके साथ ही वह विषय अधिकाधिक आकृष्ट करता है, जो बौद्धिक क्रियाशीलता तथा स्वतंत्र रूप से कार्य की अपेक्षा करता है और दृष्टिकोण को व्यापक बनाता है। शिक्षा विषयों का "रोचक" और "अरोचक" में विभेदन बहुत अध्यापन के स्तर तथा किशोर की वैयक्तिक रुचियों पर निर्भर होता है, जबकि पाठों का "आवश्यक" और "अनावश्यक" में विभाजन भावी व्यवसाय विषयक इरादों के बनने से संबंध रखता है। हर नया विषय अथवा पाठ्यक्रम किशोर में रुचि जागृत करता है। **इस रुचि को बनाये रखना व आगे विकसित करना अध्यापक के हाथ में है।** उसके कौशल पर बहुत कुछ निर्भर होता है, जैसे यह कि छात्र पाठ पर ध्यान देगा या अपने ही कामों में लगा रहेगा, घर पर करने के लिए दिया हुआ काम ईमानदारी से करेगा या यों ही अथवा कुछ नहीं करेगा, सामग्री को समझने-जानने की कोशिश करेगा या आवश्यक अंक पाने के लिए न्यूनतम चेष्टा से ही संतुष्ट हो जायेगा। अध्यापक बदलने पर यह बात स्पष्टतः दिखायी दे जाती है: आलसी और जैसे-तैसे पढ़नेवाला छात्र थोड़े ही समय में सक्रिय, विषय में रुचि लेनेवाला और अच्छा पढ़नेवाला छात्र बन जाता है अथवा, इसके विपरीत, किशोर की विषय में रुचि, पाठ के दौरान अध्यापक की बातें सुनने की इच्छा, घर पर मेहनत करने की चाह घट जाती हैं। अध्यापक बदलने से बहुत बार सारी कक्षा के काम और व्यवहार का स्वरूप भी बदल जाता है और "समस्या कक्षा" से वह "सामान्य कक्षा" में अथवा विपरीत क्रम में परिवर्तित हो जाती है।

किशोरावस्था में पढ़ाई की संकल्पना की अंतर्वस्तु व्यापकतर बन जाती है, क्योंकि इसी आयु में ज्ञानार्जन स्कूल और पाठ्यक्रम की सीमाएं लांघता है और स्वतंत्र रूप से ही नहीं, अपितु सोद्देश्य ढंग से भी किया जाता है। समय के साथ यह प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। बहुत

से छात्रों में बौद्धिक परिश्रम के प्रति स्थायी झुकाव, नये ज्ञान व योग्यताओं को अर्जित करने की आकांक्षा, कुछ विषयों और ज्ञान, विज्ञान, तकनीक व कला की तत्संबंधित शाखाओं में गहन, स्थिर रुचि जागृत हो जाती है। कुछ किशोरों का एक या एकाधिक शाखाओं का ज्ञान उनकी आयु के बच्चों से अपेक्षित ज्ञान से कहीं ज़्यादा हो सकता है।

किंतु कक्षा में कुछ योग्य, किंतु पाठों के दौरान ठीक से काम न करनेवाले किशोर भी होते हैं, जिनका बौद्धिक सक्रियता के प्रति झुकाव, चिंतनपरकता, सूझ-बूझ, देर तक और एकाग्रता से काम करने की क्षमता और संज्ञानात्मक व उत्पादक सक्रियता का शौक़ शिक्षा विषयों की अंतर्वस्तु के आत्मसात्करण के समय प्रकट नहीं होते। इन मामलों में **व्यक्तित्व के मूल्यवान गुण स्कूली पढ़ाई के दौरान नहीं, बल्कि पाठ्येतर स्वतंत्र सक्रियता के दौरान जन्मते और विकसित होते हैं।**

व्यक्तित्व के विकास के लिए सर्वोत्तम परिस्थितियां तब होती हैं, जब अर्जित ज्ञान किशोर के लिए **आत्मपरक रूप से आवश्यक तथा वर्तमान के लिए तथा भविष्य की तैयारी के लिए महत्त्वपूर्ण बनता है और जब विभिन्न शैक्षिक कार्यों में संज्ञानात्मक, उत्पादक व सृजनात्मक कृत्यकों का समावेश होता है तथा वे आत्मविकास एवं आत्म-परिष्कार में सहायक बनते हैं।** किशोरावस्था में ही पढ़ाई के नये अभिप्रेरक पैदा होते हैं, जिनका संबंध जीवन के संदर्शों तथा आदर्शों, पेशे संबंधी इरादों और आत्मचेतना (अपने ज्ञान तथा सांस्कृतिक स्तर में कमियों की चेतना) के निर्माण से होता है। **अपने से असंतोष और इरादे को पूर्ण करने का प्रयास किशोर की संज्ञानात्मक क्रियाशीलता के स्रोत बन जाते हैं।** किशोर के स्वतंत्र कार्यों में दूर और निकट के लक्ष्य उभरते हैं और उसकी ठोस सक्रियता को संगठित तथा निदेशित करते हैं। **पढ़ाई वैयक्तिक अर्थ ग्रहण कर लेती है और स्वयंशिक्षा में परिवर्तित हो जाती है।** इस गुणात्मक रूप से नयी और उच्च प्रकार की शिक्षा सक्रियता का जन्म तथा विकास किशोरावस्था में ही होता है।

दूसरी ओर, किशोरावस्था में ही स्कूल की पढ़ाई एक औपचारिक सक्रियता में बदल जा सकती है, यदि किशोर की प्रबल शिक्षेतर रुचियां हों और संज्ञानमूलक रुचियां न हों, यानी जब जायमान वैयक्तिक

मूल्यों में ज्ञान के अर्जन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त न हो। **स्कूली पढ़ाई की आवश्यकता की अमूर्त समझ ही किशोर के लिए पर्याप्त कारगर प्रेरक नहीं हो सकती।** इस दृष्टि से स्थितिक अभिप्रेरक (उदाहरणार्थ, किशोर की कक्षा में सर्वोत्तम छात्रों में गिने जाने और इस तरह अधिकांश अन्य छात्रों से भिन्न दर्जा पाने की आकांक्षा) काफ़ी प्रभावी होते हैं। किंतु पढ़ाई में अच्छे अंक पाने को ही मुख्य मानने और साथ ही आत्मसात् किये जा रहे ज्ञान में रुचि न लेने का परिणाम शिक्षा सक्रियता का ह्रास ही हो सकता है। पढ़ाई अरोचक, बोझ बन जाती है और ज्ञान मात्र औपचारिक बनकर रह जाता है।

किशोर का बौद्धिक विकास

माध्यमिक कक्षाओं के छात्र विज्ञानों के मूलतत्त्वों का अध्ययन आरंभ करते हैं। उन्हें ज्ञान की बहुत बड़ी मात्रा आत्मसात् करनी होती है। इन कक्षाओं का पाठ्यक्रम एक ओर तो शैक्षिक, संज्ञानमूलक तथा चिंतनमूलक सक्रियताओं के पहले से ऊंचे स्तर की अपेक्षा करता है और, दूसरी ओर, स्वयं उसका लक्ष्य इन सक्रियताओं के विकास में योग देना होता है। छात्र नयी-नयी वैज्ञानिक संकल्पनाएं और गणित, भौतिकी तथा रसायनविज्ञान में प्रयुक्त विशेष संकेत प्रणालियां सीखते हैं, सैद्धांतिक धरातल पर तर्क-वितर्क करने की आदत डालते हैं। उपर्युक्त नये और वस्तुपरक रूप से सबसे कठिन शिक्षा विषय ही ज्ञान के आत्मसात्करण की रीति से सर्वथा नयी अपेक्षाएं करते हैं और उच्चतम स्तर की बुद्धि – सैद्धांतिक, तार्किक और मननात्मक चिंतन – के विकास की ओर लक्षित होते हैं। ऐसा चिंतन तरुणावस्था के लिए लाक्षणिक है, किंतु उसके अंकुर ११-१२ वर्ष की अवस्था से ही दिखायी देने लग जाते हैं। किशोर **प्राक्कल्पना-निगमनात्मक ढंग से,** अर्थात केवल सामान्य आधारिकाओं की बुनियाद पर तर्क-वितर्क करने लग जाता है। इस स्तर पर सारा तर्क-वितर्क – निष्कर्ष निकालने तक – मौखिक (शाब्दिक) धरातल पर होता है, क्योंकि ऐसे तर्क-वितर्क की प्रत्यक्ष अंतर्वस्तु कथन (शब्दों अथवा गणित, आदि में प्रयुक्त विशेष संकेतों के रूप में) होता है।

किशोर की बुद्धि के विकास में नया तत्त्व यह होता है कि संज्ञानकारी कृत्यकों के प्रति उसके उपागम में परिवर्तन आ जाता है: वह उन्हें ऐसे कामों के रूप में समझने लगता है जिनके लिए सबसे पहले **विभिन्न प्राक्कल्पनाओं के निर्माण के ज़रिये चिंतन के स्तर पर अग्रिम निष्पादन और जांच की आवश्यकता होती है।** बच्चे के विपरीत किशोर अपने सामने उत्पन्न बौद्धिक समस्या का विश्लेषण उपलब्ध तथ्यों में विद्यमान संबंधों के उद्घाटन के प्रयासों से आरंभ करता है, इन संबंधों के बारे में विविध प्रकल्पनाएं बनाता है और इसके बाद उन प्रकल्पनाओं (प्राक्कल्पनाओं) की जांच करता है। **यथार्थ का इस भांति विश्लेषण करते हुए किशोर जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात सीखता है, वह है बौद्धिक कृत्यकों के निष्पादन में प्राक्कल्पनाओं से काम लेना।** प्रकल्पनात्मक चिंतन वैज्ञानिक तर्कणा का एक उत्कृष्ट उपकरण है। चिंतन के विकास के इस स्तर की विशिष्टता यही नहीं है कि अमूर्तीकरण बढ़ता है, बल्कि यह भी है कि किशोर के ध्यान, विश्लेषण और मूल्यांकन का विषय स्वयं उसकी बौद्धिक क्रियाएं बन जाती हैं। इसलिए ऐसे चिंतन को मननात्मक चिंतन कहा जाता है।

यद्यपि स्कूल में वैज्ञानिक संकल्पनाओं का आत्मसात्करण स्वयं ही छात्र के सैद्धांतिक चिंतन के विकास के लिए कई वस्तुपरक परिस्थितियां पैदा कर देता है, फिर भी वह सभी में विकसित नहीं हो पाता है। विभिन्न छात्रों में उसके विकास का स्तर और गुणवत्ता वस्तुतः भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। सैद्धांतिक चिंतन स्कूली ज्ञान का ही परिणाम नही हो सकता है। कुल मिलाकर चिंतन के इस रूप की विशेषता यह है कि **किशोर की अपनी बौद्धिक क्रियाओं की चेतना होती है और उनका नियमन भी करने लगता है।** ऐसा ही कई अन्य मानसिक क्रियाओं के प्रसंग में भी होता है। **बोली नियंत्रित और नियमित बन जाती है।** इतना ही नहीं, कतिपय व्यक्तिगत महत्त्व की स्थितियों में किशोर विशेषतः शुद्ध और अलंकारपूर्ण भाषा में बोलने को इच्छुक रहते हैं। ये सब किशोरावस्था में आनेवाले नये और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हैं।

गणित और भौतिकी से संबंधित सामग्री का संकल्पनापरक, सामान्यीकृत और तार्किक स्वरूप आरंभिक आत्मसात्करण के समय,

अर्थात जब अध्यापक वह सामग्री समझा रहा होता है, किशोर से काफ़ी अधिक बौद्धिक क्रियाशीलता की अपेक्षा करता है। प्रमेय की सिद्धि को "मात्र सुनने" से उस तरह काम नही चल सकता, जैसे कि, मिसाल के लिए, भौगोलिक खोजों से संबंधित किसी कहानी के मामले में चल सकता है। ज्यामिति के पाठ में एक मिनट के लिए भी ध्यान हटने का परिणाम होगा आगे कुछ भी न समझ पाना, क्योंकि इस तरह की सामग्री का प्रत्येक अंश तभी पूर्णतः आत्मसात् हो सकता है, जब **पूर्ववर्ती स्पष्टीकरण और प्रमाण के तर्क को समझ और याद कर लिया जाये।** अन्यथा हर अगला कदम, उदाहरणार्थ, प्रमेय को सिद्ध करने अथवा फ़ार्मूले के निरूपण में, अबोधगम्य रह जायेगा। किशोरावस्था में ही **अमूर्त और तार्किक ढंग से प्रस्तुत सामग्री पर देर तक ध्यान टिकाये रखने की योग्यता** विकसित होती है। किंतु इसमें समय लगता है और सभी किशोरों में इस योग्यता का समान मात्रा में विकास नहीं होता।

प्रत्यक्षण और अवबोधन की प्रक्रियाओं को बौद्धिक स्तर पर संपन्न करना किसी भी शिक्षा सामग्री के सफल आत्मसात्करण की अनिवार्य शर्त है। इस सामग्री में आरेख, नक्शे और चित्र भी आ जाते हैं। किंतु किशोरों में उनके प्रति उदासीनता दिखाने और उनके महत्त्व को पूरी तरह न समझने की प्रवृत्ति पायी जाती है। इस प्रवृत्ति से लड़ा जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, आरेख को "देखने" और "पढ़ने" की कुशलता पर यह प्रत्यक्ष रूप से निर्भर होता है कि किसी प्रमेय को कितनी गहराई के साथ समझ और आत्मसात् कर लिया जायेगा। आरेख को मात्र याद कर लेने या उसे पुनर्प्रस्तुत करना जानने से काम बिल्कुल नहीं चल सकता। प्रमेय में जो महत्त्वपूर्ण सूचना समाविष्ट है और जिसपर उसके सही आत्मसात्करण की संभावना निर्भर है, वह सूचना **आरेख के साथ अभ्यास करके ही** प्राप्त की जा सकती है, बेशक शर्त यह है कि उसमें जो निश्चित संबंध और निर्भरताएं इंगित हैं, वे मालूम हों और उन्हें निर्दिष्ट करना आता हो (उदाहरणार्थ, दो समानांतरों और छेदक रेखाओं के चित्रवाले आरेख में)। ऐसी सक्रियता में आरेख का अर्थग्रहण चिंतनाधारित हो जाता है और गुणात्मक रूप से बदल जाता है। किशोरों में मूर्त अथवा अमूर्त, ठोस अथवा

सामान्यीकृत, किसी भी प्रकार की सामग्री के साथ काम करते हुए, किसी भी प्रकार के शैक्षिक-व्यावहारिक कृत्यक संपन्न करते हुए **चिंतन-मनन** और अर्थगर्भित, महत्त्वपूर्ण संबंधों एवं कार्य-कारण निर्भरताओं को खोजने व निर्दिष्ट करने **की आदत डालना बहुत ही ज़रूरी है।**

वैज्ञानिक संकल्पनाओं के आत्मसात्करण की प्रक्रिया में और उसके परिणामस्वरूप चिंतन में नयी अंतर्वस्तु आ जाती है, बौद्धिक सक्रियता के नये रूप पैदा हो जाते हैं। सैद्धांतिक ज्ञान के अपूर्व आत्मसात्करण का एक महत्त्वपूर्ण संकेत यह है कि किशोर इस ज्ञान के प्रयोग की अपेक्षा करनेवाले कृत्यक निष्पादित नहीं कर पाता। गणित, भौतिकी और रसायनविज्ञान के कृत्यकों को करने में ही बहुत से छात्रों को (विशेषत: आरंभ में) कठिनाई होती है: वे तथ्यों को रूपांतरित करना, उनमें अपने परिचित सिद्धांत, नियम अथवा प्रमेय की अभि-व्यक्ति देखना नहीं जानते। ज्ञान की शाब्दिकता और औपचारिकता वैज्ञानिक संकल्पनाओं के आत्मसात्करण के क्षेत्र में एक बहुप्रचलित रोग है। वह तब पैदा होता है, जब सामान्यता अभी ठोस बहुसंख्या और विविधता पर अवलंबित नहीं होती है। ये बातें दिखाती हैं कि किशोर ने अभी मूर्त और अमूर्त के नये संबंध को हृदयंगम नहीं किया है।

मानविकी विषयों की पढ़ाई से भी छात्र वैज्ञानिक संकल्पनाओं को और तथ्यों के वर्गीकरण की विधि को आत्मसात् करता है, वस्तुजगत की विविध परिघटनाओं के बीच कार्य-कारण संबंध को देखना और संक्षेप में लक्षण-वर्णन करना तथा विस्तृत शाब्दिक विवरण देना सीखता है। ऐसी सामग्री का आत्मसात्करण गणित, भौतिकी, आदि की सामग्री के आत्मसात्करण से सरल होता है, किंतु कुछ किशोर मानविकी विषयों से संबंधित घर के लिए दिये गये कार्य पर ज़रूरत से ज़्यादा समय लगाते हैं, क्योंकि काम करने की सही रीतियां नहीं जानते।

नवकिशोरों के स्वतंत्र कार्य का एक बहुप्रचलित दोष सामग्री को **याद करने** अथवा बार-बार दोहराकर कंठस्थ करने (न कि समझने) की प्रवृत्ति अथवा आदत है। यह बहुत हानिकर है। किंतु स्मृति का बुद्धि-प्रयोग की दिशा में विकास किशोरावस्था में ही होने लगता है। दूसरी कक्षा के छात्रों की स्मृतिक सक्रियता की पांचवीं-आठवीं कक्षाओं के छात्रों की स्मृतिक सक्रियता के तुलनात्मक अध्ययन से पाया गया है

कि इस सक्रियता के पुनर्गठन की प्रवृत्तियां निम्न हैं: १) व्यवहित स्मरण के तरीकों और उनके उपयोग के अवसरों की संख्या में वृद्धि ; २) इन तरीकों का प्रयोग करनेवाले बच्चों की संख्या में वृद्धि ; और ३) स्मरण के तरीकों के प्रयोग का उत्तरोत्तर साभिप्राय व सोद्देश्य बनते जाना। स्मरण के तरीक़ों के प्रयोग, उनमें सिद्धहस्तता के स्तर और स्मरण तथा पुनर्प्रस्तुतीकरण की फलदायिता के बीच प्रत्यक्ष संबंध होता है।

स्मृतिक सक्रियता के स्वरूप के अनुसार छात्रों में दो चरम वर्ग पाये जाते हैं: अच्छे स्मरणकर्त्ता और बुरे स्मरणकर्त्ता। अच्छे स्मरणकर्त्ता पांचवीं कक्षा के छात्र स्मरण के प्रायः न केवल बाह्य तरीके, अपितु कतिपय व्यवहित उपाय (साहचर्य, मुख्य स्थलों की खोज, अर्थपरक वर्गीकरण) भी इस्तेमाल करते हैं। इस वर्ग के आठवीं कक्षा के छात्रों की विशेषता यह होती है कि वे याद करने की प्रक्रिया में व्यवहित तरीकों का सचेतन रूप से और इरादतन प्रयोग करते हैं। उनमें प्रत्येक सामग्री के लिए पृथक विशिष्ट तरीकों की खोज की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। इनमें मुख्य स्थान सामग्री की अंतर्वस्तु, विशिष्टता तथा आंतरिक तर्कसंगति के विश्लेषण को प्राप्त है। कुछ किशोर याद करने के तरीकों के चुनाव के मामले में लचीलापन बरतते हैं, कुछ किसी एक ही रीति को पसंद करते हैं और कुछ सामग्री को क्रमबद्ध तर्क की कसौटी पर परख करके याद करने का प्रयत्न करते हैं। बुरे स्मरणकर्त्ता पांचवीं कक्षा के छात्र ध्यान एकाग्र नहीं कर पाते और बौद्धिक दृष्टि से निष्क्रिय होते हैं। इस वर्ग के आठवीं कक्षा के छात्रों की स्मृतिक सक्रियता में विविधताहीनता व जड़ता पायी जाती है। वे सामग्री के विश्लेषण-संश्लेषण की इनी-गिनी, सामान्य रीतियां ही जानते हैं, जिनमें आपस में कोई खास भेद नहीं होता। उनका प्रिय तरीका है रटना। उनके स्मरण में मानो चिंतन का कोई स्थान नहीं होता।

किशोरों में सामग्री के विश्लेषण-संश्लेषण की योग्यता प्रायः स्वतः-स्फूर्त ढंग से विकसित होती है। अध्यापक को इसके विकास पर विशेष ध्यान देना चाहिए। छात्र की सुचारु प्रगति और उसके ज्ञान की गहराई और मज़बूती ही नहीं, बुद्धि व विभिन्न योग्यताओं का आगे विकास करते जाना भी इसी पर निर्भर होते हैं। सामग्री को शब्दशः कंठस्थ

करने की आदत वाक्शक्ति के और विचारों को **अपने** तरीके से व्यक्त करने की क्षमता के विकास में गंभीर बाधा होती है।

किशोर की शैक्षिक सामग्री का ठीक से अध्ययन व हृदयंगम करने की योग्यता और उसकी बुद्धि तथा संज्ञानात्मक रुचियों के विकास के बीच घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। बुद्धि और संज्ञानात्मक रुचियों के विकास का भावी संभावनाओं के निर्माण के लिए बहुत बड़ा महत्त्व है। किंतु काफ़ी अधिक किशोरों में रुचियों के मामले में बिखराव तथा अनिश्चय और भावी पेशे संबंधी इरादों के मामले में अस्थिरता देखी जाती है। किंतु इस अस्थिरता का स्वरूप प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों की अस्थिरता से भिन्न होता है।

भावी पेशे के बारे में रवैया

किशोरावस्था वह दौर है, जब **भविष्य विषयक बालसुलभ स्वप्नों का स्थान भविष्य विषयक चिंतन ले लेता है, जिसमें किशोर अपनी क्षमताओं और जीवन परिस्थितियों को भी ध्यान में रखने का प्रयत्न करता है।** बेशक ऐसा परिवर्तन सभी किशोरों के मामले में नहीं आता है, क्योंकि बहुत से फिर भी पूर्वतः वर्तमान में ही रहते हैं और भावी पेशे के बारे में बहुत कम सोचते हैं। किंतु अधिकांश किशोरों के लिए सातवीं-आठवीं कक्षाओं में पढ़ाई का काल भविष्य के बारे में सघन चिंतन का काल होता है। कुछ स्वप्नों को वास्तविकता में साकार बनाने का प्रयत्न करते हैं, तो कुछ तरह-तरह के विकल्पों को तौलते रहते हैं। कुछ अपनी क्षमताओं की पेशे की अपेक्षाओं के साथ संगति की समस्या को हल करने में लगे रहते हैं, तो कुछ को यह समस्या परेशान किये रहती है कि जिस पेशे को वे अपनाना चाहते हैं, उसकी अंतर्वस्तु उनकी आशाओं के अनुरूप निकलेगी कि नहीं। गलती कर बैठने का भय पैदा हो जाता है।

किशोर अपने को आकर्षित करनेवाले पेशे के बारे में और जिस शिक्षा संस्था में उसका प्रशिक्षण पाया जायेगा, उसके बारे में जानकारी जुटाते हैं, अपने निकट साथियों से सलाह-मशविरा करते हैं, अपने सहपाठियों की योजनाओं में दिलचस्पी दिखाते हैं। कुछ गंभीरतापूर्वक

सोच-विचार करते हैं और अपनी क्षमताओं, योग्यताओं को ठीक-ठीक आंकते हैं, कुछ अतिमूल्यांकन अथवा अल्पमूल्यांकन कर बैठते हैं। कतिपय ज्येष्ठ किशोर गंभीर दुविधा और अनिश्चय में पड़ जाते हैं और अपने पहले के स्वप्नों को बचपना समझकर (उनकी अपूरणीयता के कारण) त्याग देते हैं। अवस्था बढ़ने के साथ ऐसे किशोरों की संख्या बढ़ती जाती है, जो ऐसा पेशा अपनाना चाहते हैं, जिसके लिए उच्च शिक्षा आवश्यक होती है। विशेषत: आकर्षक महत्त्वपूर्ण और आधुनिक पेशे, रूमानियत से भरपूर पेशे, रोचक और सृजनात्मक कार्य की संभावना देनेवाले पेशे होते हैं। अधिकांश किशोर लड़के इंजीनियरी के पेशे चुनते हैं। लड़कियों में भी अध्यापन, डाक्टरी और सिलाई जैसे पारंपरिक "ज़नाना" पेशों के अलावा विज्ञान व तकनीक से संबंधित पेशे चुनने की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

आठवर्षीय शिक्षा का निकट आता अंत ज्येष्ठ किशोरों को अपने भविष्य के बारे में सोचने के लिए प्रेरित करता है। कुछ दसवर्षीय (पूर्ण माध्यमिक) शिक्षा पूरी करने की सोचते हैं और दूसरे विशिष्ट माध्यमिक विद्यालय में भरती होकर पेशा प्रशिक्षण पाने की।

§६. किशोर वय में आत्मचेतना का विकास

आत्मचेतना का सामाजिक दृष्टि से नियामक प्रकार्य

किशोरावस्था में प्रवेश करने पर बच्चे की आत्मचेतना में गुणात्मक परिवर्तन आ जाते हैं। किशोर परिवेश के प्रति अपने रवैये को बदला हुआ पाता है, अपने को ऐसा व्यक्ति अनुभव करने लगता है, जिसे सभी वयस्कों की भांति आदर, स्वतंत्रता और भरोसे का अधिकार है। वह वयस्कों की दुनिया से विभिन्न मूल्य और व्यवहार के मानक व रीतियां आत्मसात् करता है, जो उसकी चेतना की नयी अंतर्वस्तु बनते हैं और दूसरे आदमी के तथा स्वयं के व्यवहार से की जानेवाली अपेक्षाओं में और मूल्यांकन और आत्ममूल्यांकन की कसौटियों में बदल जाते हैं। जैसा कि विगोत्स्की ने कहा है आत्मचेतना अपनी अंतर्वस्तु की दृष्टि से भीतर अतरित की हुई सामाजिक चेतना ही है।

प्राथमिक कक्षाओं के बच्चे की अपने बारे में धारणा और उसका आत्ममूल्यांकन मुख्यतया वयस्कों, विशेषतः अध्यापक और माता-पिता की राय पर आधारित होते हैं। अपनी विशेषताओं के बारे में वह विशेष रूप से नहीं सोचता। **अपनी विशेषताओं के ज्ञान की आवश्यकता, अपने में रुचि और आत्मचिंतन का जन्म किशोरावस्था में ही होता है।** अपनी कमियों और गुणों को जानने की ज़रूरत अन्य लोगों की और स्वयं अपनी अपेक्षाओं का उत्तर देने और परिवेश के साथ संबंधों को नियमित करने की ज़रूरत से पैदा होती है। अपने व्यक्तित्व के विश्लेषण को किशोर एक ऐसे साधन के तौर पर लेता है, जो परस्पर संबंधों और सक्रियता के संगठन के लिए, अपने लिए वर्तमान में और भविष्य में महत्त्व रखनेवाले लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। आत्मज्ञान इसकी एक शर्त है। आत्मविषयक चिंतन के सामाजिक दृष्टि से नियामक प्रकार्य की एक स्पष्ट अभिव्यक्ति यह है कि किशोर पहले अपनी कमियों को देखता है और उन्हें दूर करने की आवश्यकता अनुभव करता है और इसके बाद जाकर ही अपने समग्र व्यक्तित्व की विशेषताओं – अपनी क्षमताओं एवं गुणों – पर ध्यान देता है और उन्हें जानने का प्रयत्न करता है। **कमियों पर विशेष ध्यान दिया जाना सारी किशोरावस्था के दौरान जारी रहता है।** कुछ का अपने से असंतोष बढ़ता ही जाता है। किशोर के आत्मचिंतन का पूर्वविचारित स्वरूप होता है। वह एक स्वतंत्र मानसिक प्रक्रिया बन जाता है और किशोर द्वारा आवश्यक और आरंभिक स्कूली आयु की तुलना में एक नयी चीज़ जैसा समझा जाता है।

समवयस्कों के बीच सम्मानित स्थान पाने की आवश्यकता और घनिष्ठ साथी, मित्र बनाने की आकांक्षा का किशोर को आत्मचिंतन के लिए प्रेरित करने में बड़ा हाथ होता है। साथियों में से किसी के साथ अपने संबंधों अथवा किसी आकर्षक समवयस्क की विशेषताओं के बारे में सोचते हुए किशोर प्रायः अपने बारे में भी सोचने लग जाता है। यह बड़े महत्त्व की बात है कि वह अपने साथ तुलना के लिए समवयस्क को ही चुनता है और ऐसा प्रतिमान भी उसे ही बनाता है, जिसकी बराबरी पर पहुंचना है। इससे तुलना की प्रक्रिया भी और अपनी विशेषताओं को जानने, आंकने तथा आत्मसुधार की प्रक्रिया भी अधिक-

तम फलप्रद बन जाती हैं। **किशोर के लिए समवयस्क ऐसा मापदंड है,** जो उसे अपने को यथार्थ क्षमताओं के स्तर पर आंकने और उन क्षमताओं को ऐसे व्यक्ति में साकार बना हुआ देखने की संभावना देता है, जिसकी बराबरी पर पहुंचा जा सकता है। ऐसा मापदंड अथवा प्रतिमान वयस्क नहीं बन सकता, क्योंकि एक तो उसकी बराबरी पर पहुंचना किशोर के लिए लगभग असंभव है और, दूसरे, उसकी विशेषताएं ऐसी जीवनीय स्थितियों और संबंधों में अपने को प्रकट करती हैं, जिनसे किशोर प्रायः परिचित नहीं होता।

किशोरावस्था के आरंभ तक बच्चे शिक्षा सक्रियता से संबंधित अपनी विशेषताओं को बेहतर और अधिक सही समझने व आंकने लग जाते हैं। आयु के साथ आत्मविषयक धारणा व्यापकतर, गहनतर और अपने ही विचारों पर आधारित बनती जाती है। किंतु बहुत से किशोरों का अपने गुणों और यथार्थ क्षमताओं का मूल्यांकन अतिरंजित होता है। यह बात गणित के सवालों को हल करते हुए विशेषतः प्रकट होती है (किशोरों के लिए सूझ-बूझ मूल्यांकन और आत्ममूल्यांकन की एक महत्त्वपूर्ण कसौटी है)। यह पाया गया है कि पांचवीं-आठवीं कक्षाओं के काफ़ी अधिक छात्रों का आत्ममूल्यांकन उनकी सक्रियता के परिणामों से मेल नहीं खाता और अधिसंख्य मामलों में वह स्पष्टतया अतिरंजनापूर्ण होता है। दूसरी ओर, इन कक्षाओं को पढ़ानेवाले अध्यापकों में किशोरों की क्षमताओं को घटा करके आंकने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

ऐसी स्थिति, यानी जब किशोर अपनी क्षमताओं को बढ़ा-चढ़ाकर आंकता है अथवा अध्यापक उन्हें घटाकर आंकता है, किशोर को उत्तेजित और विक्षुब्ध करती है। वह सोचता है कि उसके साथ अन्याय किया जा रहा है। पहले मामले में ऐसी धारणा गलत होती है, क्योंकि उसमें किशोर का अपने बारे में दावा उसकी यथार्थ क्षमताओं के स्तर से ऊंचा है। किंतु दूसरे मामले में किशोर की धारणा उचित होती है।

तीसरा विकल्प भी संभव है, अर्थात् जब अध्यापक अतिरंजित आत्ममूल्यांकनवाले किशोर का अल्पमूल्यांकन करता है। इस स्थिति में किशोर में एक विशेष मनोग्रंथि पैदा हो जाती है, जिसकी अभिव्यक्तियां हैं नाराज़गी, संदेह, अविश्वास, कभी-कभी उद्दंड व्यवहार

और हमेशा ही हर छोटी-मोटी टिप्पणी पर तुरंत बिदक उठना। पहली और बार-बार की असफलताएं उसे उत्तेजित व विक्षुब्ध करती हैं, किंतु जब वे न्यूनाधिक स्थायी परिघटना बन जाती हैं, तो इसका परिणाम आत्मविश्वास के डिगने के रूप में सामने आता है। किशोर की आत्मविश्वास की आकांक्षा और प्रयत्न उसके आत्ममूल्यांकन के स्वरूप पर निर्भर होते हैं। जब वह अपना अतिमूल्यांकन करता है, तब आत्मसुधार की ज़रूरत खास प्रबलता से महसूस नहीं की जाती।

समय के साथ किशोर का आत्ममूल्यांकन अधिकाधिक यथार्थपरक बन जाता है।

किशोर अपनी अपेक्षा दूसरों का अधिक सही व पूर्ण मूल्यांकन करते हैं। साथी के साथ संबंध जितने ही घनिष्ठ होंगे और संसर्ग का आधार जितना ही बहुमुखी होगा, उसकी विशेषताओं का ज्ञान उतना ही गहरा होगा। "मैं उसे ठीक से नहीं जानता: उससे मेरी दोस्ती नहीं है!" – किशोरों से प्रायः सुना जा सकता है। शनैःशनैः स्वभाव और चरित्र की विशिष्टता के द्योतक लक्षण महत्त्वपूर्ण बनते जाते हैं। यदि पांचवी कक्षा के छात्र सामान्यतया अपने समवयस्कों की शक्ल-सूरत, पढ़ाई और सहपाठियों के प्रति रुख, रुचियों और संकल्पशीलता से संबंधित विशेषताओं और गुणों को निर्दिष्ट करते हैं, तो छठी-आठवीं कक्षाओं के छात्र शक्ल-सूरत और पढ़ाई से संबंधित विशेषताओं पर उतना ध्यान नहीं देते। सहपाठियों के प्रति रुख, रुचियों और संकल्पशीलता पर पहले जैसा ही ध्यान दिया जाता है। इसके साथ ही विचारों, भावनाओं, स्वयं अपने प्रति व अपने भविष्य के प्रति रवैये से संबंधित विशेषताओं को मूल्यांकन में शामिल किये जाने की प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती है। उल्लेखनीय है कि साथियों और सामान्यतः लोगों के प्रति समवयस्क के रुख को पहचानने की जितनी कोशिश किशोर करते हैं, उतनी अध्यापक नहीं करते। इसके अलावा वे अपने साथी के जितने विविध गुण गिनाते हैं, उतने अध्यापक नहीं गिनाते।

किशोर की परस्पर संबंधों की समस्याओं में बड़ी गहरी रुचि होती है। किंतु पाया गया है कि चौथी-आठवीं कक्षाओं के छात्र अपने प्रति साथियों के रुख को ठीक से नहीं आंक पाते। सही मूल्यांकनों का औसत २५-४० प्रतिशत ही होता है। अधिकांशतः गलती "आत्यंतिक प्रस्थिति"

वाले किशोर करते हैं और जिनकी माध्यमिक समाजमितीय प्रस्थिति होती है, उनसे कम गलती होती है। अन्य लिंग के व्यक्ति के अपने प्रति रुख का मूल्यांकन भी काफ़ी अयथार्थपरक होता है। किंतु समूह में अपनी स्थिति को आंकने की अयोग्यता उच्चतर कक्षाओं और उच्च शिक्षा संस्थाओं के छात्रों में भी पायी जाती है। कभी-कभी इस मामले में किशोर उच्चतर कक्षाओं के छात्रों से कहीं ज़्यादा योग्य सिद्ध होते हैं।

किशोर बहुत ही मेलजोलपसंद होता है। उसके लिए अपने आस-पास के लोगों की राय और उनका अपने प्रति अच्छा रुख बड़ा महत्त्व रखते हैं। इसलिए वह मूल्यांकनों (विशेषतः अपनी क्षमताओं के बारे में), सफलता और असफलता के प्रति बड़ा संवेदनशील होता है और अपने को लोगों की, खास तौर से जिनकी राय उसके लिए बड़ा महत्त्व रखती है, निगाहों में ऊंचा उठाने तथा उनसे प्रशंसा पाने को लालायित रहता है। किशोर का तथाकथित आत्मस्थापन बहुत ही विभिन्न रूपों में प्रकट हो सकता है। कुछ बच्चों में झिझक और संकोच इसलिए पाये जाते हैं कि वे अपनी अयोग्यता व अज्ञान के प्रदर्शन से डरते हैं।

आत्मविकास

कम आयु के किशोर प्रायः अपने को तटस्थ दृष्टि से नहीं देख पाते और अपने व्यवहार पर नियंत्रण रखना नहीं जानते। किंतु **ज्येष्ठ वर्ग के किशोरों में अपनी भावात्मक प्रतिक्रियाओं और व्यवहार पर नियंत्रण रखने की प्रवृत्ति पायी जाती है।** उनमें से बहुतों का आत्मनियंत्रण काफ़ी विकसित होता है और ज़रूरत पड़ने पर वे अपनी मनः-स्थिति, रवैये अथवा राय को प्रकट न करना भी जानते हैं। व्यवहार में द्विस्तरीयता आ जाती है। **आयु के साथ आत्मसंगठन की प्रवृत्ति बढ़ती है।** विभिन्न कामों का अपने लिए क्या महत्त्व है, इस बारे में सोचा जाने लगता है। उन्हें आवश्यक और अनावश्यक में, महत्त्वपूर्ण और महत्त्वहीन में विभेदित कर दिया जाता है। ऐसे विभेदीकरण में वैयक्तिक मूल्यों की निर्माणाधीन प्रणाली का बहुत बड़ा हाथ होता है। किशोर समय के महत्त्व को जान जाता है, उसे यों ही नहीं गंवाने तथा नियोजित करने का प्रयास करता है। किंतु जो निर्णय किये जाते

हैं, वे बहुधा प्रत्यक्ष इच्छाओं से मेल नहीं खाते और विजय बहुधा इच्छाओं की होती है। कुछ किशोरों के "दिल" और "दिमाग" के बीच प्रायः टक्कर चलती रहती है। बहुत से अपनी विशृंखलता को इच्छा-शक्ति के अभाव की दुहाई देकर उचित ठहराते हैं। इच्छा-शक्ति का विकास अधिकांश किशोरों के लिए सर्वप्रमुख लक्ष्य बन जाता है। अपने में अन्य गुणों का भी विकास किया जाता है।

किशोरों में आत्मप्रगति की, उसपर निगरानी रखने की और लक्ष्यों व योजनाओं के पूरा न होने पर अफ़सोस करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। अध्ययन दिखाते हैं कि **सातवीं-आठवीं कक्षाओं के अधिकांश छात्र आत्मविकास पर विशेष ध्यान देते हैं**, किंतु सभी के मामले में यह नियमित और सुनियोजित नहीं होता। फिर भी महत्त्व की बात यह है कि उसकी बुनियाद तो पड़ गयी है। **किशोरावस्था में व्यक्तित्व के विकास का एक सबसे महत्त्वपूर्ण नया पहलू यह है कि किशोर की सक्रियता का विषय वह स्वयं बन जाता है**: किसी बात में वह अपने को रोकता है, किसी बात में तोड़ता है और किसी बात में फिर से बनाता है। वह स्वयं अपने पर प्रभाव डालने और स्वयं अपने को बनाने लगता है। इसमें वह अपने सामने कुछ निश्चित प्रतिमान, व्यक्तिगत महत्त्व के कुछ निश्चित लक्ष्य और कार्यभार रखता है, जिनका संबंध उसके वर्तमान और भविष्य से होता है। आत्मविकास और स्वयं-शिक्षा के ज़रिये किशोर अपने विकास की संभावनाओं को विस्तृत और अपने को भविष्य के लिए तैयार करता है। वर्तमान में अत्यधिक निमग्न होने के बावजूद वह भविष्य की तनिक भी उपेक्षा नहीं करता। ऐसी भविष्योन्मुखता और **नये** गुण विकसित करने के लिए अपने को बदलने की ओर लक्षित ऐसी सक्रियता किशोरावस्था का एक विशिष्ट लक्षण है और व्यक्तित्व के विकास के एक गुणात्मक रूप से नये दौर में संक्रमण को द्योतित करती है।

अध्याय ६

आरंभिक तरुणावस्था का मनोविज्ञान

§१. एक सामाजिक-मानसिक परिघटना के रूप में तरुणावस्था

तरुणावस्था और उसकी आयुगत सीमाएं

आयु-वर्ग मनोविज्ञान में तरुणावस्था मनुष्य के विकास का वह दौर है, जो यौवनारंभ से शुरू होता है और वयस्क अवस्था के आगमन के साथ समाप्त होता है। किंतु यह परिभाषा ही, जिसमें पहली सीमा शरीरक्रियात्मक है और दूसरी सामाजिक, इस परिघटना की जटिलता और बहुआयामिता को उजागर कर देती है।

तरुणावस्था के बारे में कई सिद्धांत प्रचलित हैं। जैव सिद्धांत तरुणावस्था को सबसे पहले शरीर के विकास का एक निश्चित चरण मानते हैं। उनके अनुसार अभिवृद्धि की जैव प्रक्रियाओं पर ही शेष सब कुछ निर्भर होता है। मनोवैज्ञानिक सिद्धांत मानसिक विकास के नियमों और मनो-जगत तथा आत्मचेतना की विशेषताओं पर सबसे अधिक ध्यान देते हैं। मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत तरुणावस्था में मनोलैंगिक विकास के एक विशिष्ट दौर के दर्शन करते हैं। किंतु उपरोक्त सभी सिद्धांतों में एक समानता भी है। वह यह कि वे सभी तरुणावस्था का विवेचन व्यक्ति के रूप में मनुष्य के विकास की आंतरिक प्रक्रिया की दृष्टि से ही करते हैं। वे सभी इस तथ्य को अनदेखा कर देते हैं कि यह विकास किसी न किसी रूप मे सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश में ही संपन्न होता है। समाजवैज्ञानिक सिद्धांत तरुणावस्था का विवेचन सबसे पहले समाजीकरण के एक निश्चित चरण के रूप में, पराश्रित बाल्यकाल से वयस्क की स्वतंत्र, उत्तरदायित्वपूर्ण सक्रियता में संक्रमण के दौर के रूप में करते हैं। सर्वोपरि महत्त्व मनुष्य द्वारा सीखी तथा निभायी जानेवाली सामाजिक

भूमिकाओं को, उसके जीवन मूल्यों के निर्माण को और उन समस्याओं को देते हैं, जो श्रम जीवन में प्रवेश से संबंध रखती हैं। दूसरे शब्दों में, वे व्यक्ति की मानसिक समस्याओं के मूल में सामाजिक समस्याओं को देखते हैं।

सोवियत मनोविज्ञान की धारणा है कि तरुणावस्था की समस्या का अध्ययन सभी कोणों से और सामाजिक उपागम अपनाने के साथ विकास के आंतरिक नियमों को भी ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए। बेशक यह काफ़ी कठिन है, क्योंकि मनोशरीरक्रियात्मक विकास की गति और प्रावस्थाएं सदा ही सामाजिक परिपक्वता की अवधियों से मेल नहीं खाती। शारीरिक विकास के त्वरण के फलस्वरूप आज के बच्चे दो-तीन पीढ़ी पहले के मुकाबले कहीं तेज़ी से बढ़ते हैं और औसतन दो वर्ष पहले ही अपने पूर्ण शारीरिक विकास पर पहुंच जाते हैं। यौवनारंभ की शुरूआत और समाप्ति भी दो वर्ष पहले ही हो जाती है। शरीरक्रियाविज्ञानी गौण लैंगिक लक्षणों के आविर्भाव के आधार पर इस प्रक्रिया को तीन प्रावस्थाओं में विभाजित करते हैं: प्राक्-यौवनारंभिक; यौवनारंभिक और उत्तर-यौवनारंभिक। आयु-वर्ग मनोविज्ञान किशोराव-स्था को सामान्यतया पहली दो प्रावस्थाओं से जोड़ा करता था।

त्वरण के कारण किशोरावस्था की सीमाएं नीचे खिसक गयी हैं और अब वह चौदह-साढ़े चौदह वर्ष की अवस्था में ही समाप्त हो जाती है। तदनुरूप तरुणावस्था भी पहले शुरू हो जाती है। किंतु विकास के इस चरण की ठोस अंतर्वस्तु फिर भी सबसे पहले सामाजिक परि-स्थितियों से निर्धारित होती है। समाज में तरुण की स्थिति, उसे जितना ज्ञान होना चाहिए, वह और कतिपय अन्य बातें सामाजिक परिस्थितियों पर ही निर्भर होती हैं।

बहुत से आदिम समाजों में आयुगत अंतर सीधे-सीधे सामाजिक अंतरों के सहभावी थे; समाजीकरण का मुख्य उपकरण आयु-वर्ग होते थे, जो समान आयु के लोगों को (पुरुषों को तो निश्चय ही) एक सूत्र में पिरोते थे, और ऐसा हर वर्ग एक निश्चित, केवल उसी के लिए सहज, सामाजिक प्रकार्य करता था। सामंती समाज में समाजीकरण काफ़ी हद तक किशोर अथवा तरुण को वयस्कों की सक्रियता में प्रत्यक्ष-तया सम्मिलित करके (जैसे कृषि में मददगार के तौर पर, सामंत के

घर-दरबार में परिचर अथवा अस्त्रवाहक के तौर पर) किया जाता था। स्कूल शिक्षण के व्यावहारिक रूपों का केवल पूरक होता था। आधुनिक समाज में चूंकि श्रम और सामाजिक सक्रियता पहले से जटिल बन गयी है, अतः तैयारी की अवधि, यानी जब आदमी काम नहीं करता और मुख्यतया शिक्षा पाता है, काफ़ी लंबी हो गयी है। शिक्षा के लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक अवधि कितनी लंबी होगी, वास्तविक सामाजिक वयस्कता उतनी ही देर से आयेगी। इसीलिए तरुणावस्था की अवधि आज पहले से लंबी है और उसकी काल सीमाएं थोड़ी-बहुत अनिश्चित हैं।

आरंभिक तरुणावस्था (१४.५-१७ वर्ष) जीवन के इस जटिल दौर का केवल आरंभ है। उसकी बुनियादी विशेषताएं क्या हैं?

शारीरिक विकास

आरंभिक तरुणावस्था वह काल है, जब मनुष्य का शारीरिक विकास पूर्णता को प्राप्त करता है। इसमें कद का बढ़ना किशोरावस्था के मुकाबले मंद पड़ जाता है। लड़कियों का कद १६-१७ वर्ष की आयु तक (इसमें १३ महीने की घट-बढ़ हो सकती है) और लड़कों का कद १७-१८ वर्ष की आयु तक (इसमें १० महीने की घट-बढ़ हो सकती है) अपने चरम पर पहुंच जाता है। वज़न भी बढ़ता है और लड़के इस मामले में किशोरावस्था में लड़कियों से जो पिछड़ गये थे, उस कसर को पूरा कर लेते हैं। शारीरिक (पेशीय) शक्ति में तेज़ी से वृद्धि आती है: सोलहवर्षीय लड़का इस दृष्टि से बारहवर्षीय लड़के के मुकाबले लगभग दोगुना शक्तिशाली होता है। कद-वृद्धि खत्म होने के लगभग साल भर बाद शारीरिक शक्ति भी सामान्य वयस्क स्तर पर पहुंच जाती है। बेशक बहुत कुछ समुचित आहार और व्यायाम पर भी निर्भर करता है। कुछ प्रकार के खेलों में अधिकतम सफलताएं आरंभिक तरुणावस्था में ही हासिल की जाती हैं।

लैंगिक विकास के मामले में इस आयु-वर्ग के अधिकांश लड़के-लड़कियां उत्तर-यौवनारंभिक दौर से गुज़र रहे होते हैं। आम धारणाओं के विपरीत यौवनारंभ की अवधि नसली अथवा जातीय विशेषताओं

और जलवायु पर निर्भर नहीं होती। किंतु आहार-भेद और अन्य सामाजिक-आर्थिक कारकों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसके अलावा औसत सांख्यिकीय मानक और व्यष्टिक शरीरक्रियात्मक मानक के अंतर को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। कतिपय पूर्णतः सामान्य लोगों का शारीरिक विकास औसत सांख्यिकीय मानकों की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्रता अथवा मंथरता के साथ होता है। इन अंतरों और शरीरविकारजन्य अतरों के बीच भेद कर पाना सदा आसान नहीं होता।

विकास की सामाजिक पृष्ठभूमि

तरुण की बच्चे और वयस्क के बीच की स्थिति होती है। वच्चा वयस्कों पर निर्भर रहता है और वे ही उसकी जीवन सक्रियता की मुख्य अंतर्वस्तु और दिशा को निर्धारित करते हैं। बच्चे द्वारा निभायी जानेवाली भूमिकाएं वयस्कों की भूमिकाओं से गुणात्मक दृष्टि से भिन्न होती हैं और दोनों ही पक्ष इसे भली भांति जानते व महसूस करते हैं। जीवन सक्रियता के जटिलीकरण के साथ तरुण की सामाजिक भूमिकाओं एव रुचियों की अभिसीमा का परिमाणात्मक प्रसार ही नहीं होता, उनमें गुणात्मक परिवर्तन भी आते हैं। ज्यों-ज्यों तरुण अधिक स्वतंत्र, उत्तरदायी बनता जाता है, उसकी वयस्कों जैसी भूमिकाएं भी बढ़ती जाती हैं। सोवियत संघ में तरुण १४ वर्ष की आयु में युवा कम्युनिस्ट लीग में भरती हो जाता है, १६ वर्ष की आयु में पासपोर्ट-धारी बन जाता है और १८ वर्ष की आयु में मताधिकार तथा विवाह अधिकार पा लेता है और उसपर फ़ौजदारी कानून भी लागू होने लग जाता है। बहुत से इस आयु में श्रम जीवन आरंभ कर चुके होते हैं, पेशे के चुनाव की चिंता करने लग जाते हैं, वगैरह। किंतु वयस्क की स्थिति के कतिपय लक्षण पाने के साथ अभी परनिर्भरता पूर्णतः खत्म नहीं हो पाती, जिससे उसकी स्थिति बच्चे की स्थिति से मिलती-जुलती बनी रहती है। आर्थिक दृष्टि से वह अभी भी मां-बाप पर आश्रित होता है। स्कूल में उसे एक ओर याद दिलाते हैं कि वह बड़ा हो चुका है और, दूसरी ओर, लगातार अपेक्षा करते हैं कि आज्ञापालन का अपना कर्त्तव्य न भूले। यही बात स्कूल के बाहर भी होती है, जहां कभी-कभी न केवल

सोलहवर्षीयों को, बल्कि बीसवर्षीयों को भी वयस्क नहीं माना जाता। यह अनिश्चित स्थिति (कुछ मामलों में वयस्क माना जाना और कुछ में न माना जाना) और उससे की जानेवाली अपेक्षाएं अपने ढंग से उसकी तरुण मानसिकता में प्रतिबिंबित होती हैं।

बौद्धिक सक्रियता की विशेषताएं

मनुष्य की सामान्य बौद्धिक योग्यताएं १५-१६ वर्ष की आयु तक आम तौर पर बन चुकी होती हैं और बचपन में जैसा उनका तीव्र विकास फिर नहीं दिखायी देता। किंतु उनका परिष्करण जारी रहता है। जटिल बौद्धिक क्रियाओं में दक्षता प्राप्त करते और संकल्पनात्मक तंत्र का समृद्ध बनते जाना तरुण-तरुणियों की बौद्धिक सक्रियता को अधिक स्थिर और कारगर बना देता है और इस दृष्टि से उसे वयस्कों की सक्रियता के निकट ले आता है। **विशिष्ट** योग्यताएं खास तेज़ी से बढ़ती हैं। इसके साथ ही रुचियों का विभेदीकरण बढ़ते जाने से तरुण की बौद्धिक सक्रियता की संरचना अधिक जटिल तथा वैयक्तिक बनती जाती है। उपलब्ध तथ्यों से पता चलता है कि बौद्धिक योग्यताओं के विभेदीकरण की प्रक्रिया लड़कों में लड़कियों के मुकाबले पहले आरंभ हो जाती है और अधिक सुप्रकट भी होती है। योग्यताओं तथा रुचियों का विशेषीकरण कई अन्य वैयक्तिक अंतरों को भी अधिक स्पष्ट तथा व्यावहारिक दृष्टि से अर्थपूर्ण बना देता है। इसे देखते हुए और इसी तरह उच्च कक्षाओं के छात्रों को पेशे के चुनाव के वास्ते तैयार करने की आवश्यकता को देखते हुए उच्च कक्षाओं में शिक्षण को अधिक वैयक्तिक बना दिया जाना चाहिए, छात्रों की आत्मनिर्भरता बढ़ायी जानी चाहिए और सामान्य शिक्षा के दायरे में थोड़ा-बहुत विशेषीकरण लागू किया जाना चाहिए। ध्यान रहे कि विशेष योग्यताओं का जन्म और विकास स्वयं बहुत हद तक शिक्षण के स्वरूप और दिशा पर निर्भर होता है।

तरुणावस्था परिपक्वता आने और व्यक्तित्व के निर्माण का अंतिम दौर है। शरीर और शक्ल-सूरत में यौवनारंभ से संबंधित बड़े परिवर्तन, अनिश्चित स्थिति (न बच्चा, न वयस्क), जीवन सक्रियता का जटिली-करण और जिन लोगों के अनुकूल व्यक्ति को अपना व्यवहार ढालना

है, उनके दायरे का व्यापक बनना – ये सब बातें मिलकर तरुणावस्था में **मूल्यानुसारी सक्रियता** को एकाएक बढ़ा देती हैं। प्रश्न चाहे अपनी निजी विशेषताओं को जानने का हो, नयी बातें सीखने का हो अथवा अपने से बड़ों या समवयस्कों के साथ संबंधों का हो, तरुण दूसरे लोगों के **मत** की चिंता करता है और अपना व्यवहार सचेतन रूप से निर्मित अथवा आत्मसात्कृत कसौटियों और मानकों के अनुसार ढालने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

मुख्यतया यह आत्मचेतना के विकास में प्रकट होता है।

§२. आत्मचेतना का विकास

आत्मचेतना एक जटिल मानसिक निर्मिति है, जिसके विभिन्न तत्त्व हैं: अपनी पहचान (उसके प्रथमांकुर शिशु में ही प्रकट हो जाते हैं, जब वह बाह्य वस्तुओं द्वारा जनित संवेदनों और स्वयं अपने शरीर द्वारा जनित संवेदनों में अंतर करने लगता है), एक सक्रिय मूलाधार के रूप में अपने "अहं" की चेतना, अपनी मानसिक गुणों और विशेष-ताओं की चेतना और सामाजिक-नैतिक आत्ममूल्यांकनों की एक निश्चित प्रणाली। ये सभी तत्त्व अपनी क्रिया और मूल की दृष्टि से परस्पर संबद्ध होते हैं। किंतु उनका जन्म एक ही समय नहीं होता। अपनी पहचान के अंकुर शैशवावस्था में ही पनप जाते हैं और "अहं" की चेतना लगभग ३ वर्ष की आयु में पैदा होती है, जब बच्चा निजी सर्वनामों का सही प्रयोग करने लगता है। अपने मानसिक गुणों का बोध और आत्ममूल्यांकन सर्वाधिक महत्त्व किशोरावस्था और तरुणावस्था में ग्रहण करते हैं। किंतु ये सभी घटक चूंकि परस्पर संबद्ध हैं, उनमें से किसी एक का भी विकास अनिवार्यतः सारी प्रणाली का रूप बदल डालता है।

अपनी शारीरिक छवि

किशोरावस्था में ही, जब आत्मस्थापन की आकांक्षा काफ़ी प्रबल होती है, अपने "अहं" और उसकी विशेषताओं मे गहन रुचि ली

जाने लगती है। किशोर अपने बाह्य रूप, शरीर को बिल्कुल नये ढंग से देखने लगता है। यह बढ़ी हुई रुचि प्रायः आरंभिक तरुणाई में भी यथावत बनी रहती है। अपनी बदलती हुई बाह्याकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए लड़के और लड़कियां प्रायः बेहद चिंतित हो उठते हैं। बहुत से तो उसे बदल ही डालना चाहते हैं। उनके लिए ऐसी विशेषताएं सबसे अधिक महत्त्व रखती हैं, जिनपर समवयस्कों के बीच प्रतिष्ठा और लोकप्रियता निर्भर होती हैं। बहुत से तरुण लड़कों और लड़कियों को अपना छोटा कद, मोटाई, मुंहासे, आदि आशंकित कर देते हैं। अत्यधिक मानसिक कष्ट विलंबित परिपक्वतावाले लड़के भुगतते हैं: गौण लैंगिक लक्षणों के प्रकट होने में विलंब से न केवल समवयस्कों के बीच उनकी प्रतिष्ठा घटती है, अपितु उनमें हीनता की भावना भी घर कर जाती है। किंतु इन भावों को वह सामान्यतया छिपाये रहता है। अपने शरीर की छवि वयस्कों की सामान्य धारणा के विपरीत तरुण की आत्मचेतना का कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण घटक है। सामान्य विकास के सभी सूक्ष्म और विविध भेदों की जानकारी न होना बहुतों के लिए अच्छी-खासी ट्रेजेडी या मनोव्यथा में परिणत हो जाता है।

निजी गुणों का बोध और आत्ममूल्यांकन

छोटे बच्चों की आत्मचेतना और आत्ममूल्यांकन सामान्यतया उनके बारे में माता-पिता और अन्य मान्य वयस्कों के मत का ही प्रतिबिंब होते हैं। किंतु ज्यों-ज्यों बच्चा बड़ा होता है, त्यों-त्यों उसका व्यवहार स्वयं अपने मूल्यांकन पर आधारित होने लगता है। किंतु अपने गुणों, विशेषतः, साहस, पौरुष अथवा सिद्धांतपरकता जैसे जटिल नैतिक व मानसिक लक्षणों के बोध में संवेगात्मक मूल्यांकन और सामाजिक तुलना भी शामिल होते हैं (अपनी बुद्धिमत्ता अथवा सौंदर्य को अपनी किसी और से तुलना करके ही आंका जा सकता है)।

किशोर की भांति तरुण भी यह जानने को अत्यंत उत्सुक रहता है कि वह कौन है, किस योग्य है और क्या वकत रखता है। आत्म-

मूल्यांकन की दो रीतियां हैं। एक तो यह कि अपने दावों के स्तर की उपलब्ध परिणामों से तुलना की जाये ("यदि मैं कठिन घड़ी में पीछे नही हटा, तो इसका मतलब है कि मैं कायर नहीं हूं ; यदि मैंने कठिन काम का बीड़ा उठाया है और उसे कर भी दिखाया है, तो इसका मतलब है कि मैं योग्य हूं")। किंतु तरुण का जीवनानुभव का अभाव ऐसी जांच असंभव बना देता है। वयस्कों को खतरनाक शरारतें, दुस्साहसिकता, आदि जो बहुत सी हरकतें अनुचित, अतर्कसंगत लगती हैं, वे दूसरों की नज़रों में उभरने और वाहवाही पाने की इच्छा से उतना प्रेरित नही होतीं, जितना कि अपने दृढ़ निश्चय, पराक्रम, आदि की स्वय परीक्षा करने की आवश्यकता से।

आत्ममूल्यांकन की दूसरी रीति है सामाजिक तुलना, अपने बारे में अपने आसपास के लोगों की रायों को एक दूसरी से मिलाकर देखना। किशोर भी, जो अपने बारे में दूसरों की राय के प्रति बड़ा संवेदनशील होता है, जान जाता है कि अंतर निजी मूल्यांकनों में ही नहीं होता, उनकी कसौटियों में भी होता है। सहपाठी जिस हरकत को शौर्यपूर्ण मानते हैं, अध्यापक उसे झूठा साथीपन कह सकता है। अतः फिर चुनने, जांचने, स्वतंत्र रूप से सोचने की ज़रूरत पैदा हो जाती है।

अपने "अहं" के बिंब, जैसा कि ज्ञात है, जटिल और अनेकविध होते हैं, जैसे वास्तविक "अहं" (जैसा मैं अपने को दत्त क्षण में देखता हूं), गतिशील "अहं" (जैसा मैं बनना चाहता हूं), आदर्श "अह" (अपनी नैतिक मान्यताओं को देखते हुए जैसा मुझे बनना चाहिए), काल्पनिक "अहं" (यदि सब कुछ संभव होता, तो मैं जैसा बनना चाहता), वगैरह। प्रौढ़ व्यक्ति की आत्मचेतना भी विरोधों से मुक्त नहीं होती और सभी आत्ममूल्यांकन भी पर्याप्त यथार्थपरक नही होते। तरुणावस्था में तो यह बात और भी ज़्यादा पायी जाती है। आत्मप्रेक्षण और आत्मानुचिंतन का बढ़ना, अपने आप में बहुत अधिक रुचि दिखाना आरंभिक तरुणावस्था का ठेठ लक्षण है। इसकी अभिव्यक्ति अंतरंग डायरियां रखने (लड़कियां ऐसी डायरियां लड़कों से पहले और अकसर रखने लग जाती हैं), अपने को साहित्यिक रचनाओं के पात्रों की भूमिकाओं में देखने (यदि किशोर इन पात्रों के **कार्यों** से अपना तादात्म्य स्थापित करता है, तो तरुण उनके **अभिप्रेरकों और भावनाओं**

के साथ) और अन्य लोगों के मनोजगत में बढ़ती रुचि में पायी जाती है।

कतिपय मनोविज्ञानवेत्ता तरुणों के आत्मानुचिंतन को एक अवांछनीय प्रवृत्ति मानते हैं और कहते हैं कि इसमें आत्म-अलगाव, वास्तविकता से विरक्ति और स्वप्नों के काल्पनिक संसार से अनुरक्ति का खतरा निहित है। पंद्रहवर्षीय तरुणों का मनोजगत अपनी सारी प्रकट निश्चिंतता के बावजूद काफ़ी जटिल और नाज़ुक होता है। फिर तरुणों के मानसिक स्वास्थ्य के मानक भी वयस्कों से भिन्न होते हैं। तरुण लड़के-लड़कियों के मामले में आशंका का सामान्य स्तर छोटे बच्चों अथवा किशोरों के मुकाबले ज़्यादा ऊंचा होता है। यौवनारंभ की अवस्था में व्यक्तित्व-अप्रतीति और मानसिक विसंबंधन के अनेक केस देखने में आते हैं। बचपन से बिछुड़कर बहुतों को लगता है कि मानो वे कुछ खो बैठे हैं, कि उनका "अहं" अयथार्थ है, कि वे एकाकी हैं, कि लोग उन्हें नही समझते, वगैरह।

किंतु इन बातों को ज़रूरत से ज़्यादा महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। तरुणावस्था की कठिनाइयां विकास की कठिनाइयां हैं, जिन्हें सफलतापूर्वक लांघ लिया जाता है। इसके अलावा उन्हें न हर कोई महसूस करता है, न हर किसी के लिए वे इतनी कष्टकर ही होती हैं। कुल मिलाकर यह जीवन का एक सुखद दौर है। स्थायी अहंकेंद्रिकता और अपने आप में सिमट जाने का खतरा ही वास्तविक खतरा है और वह केवल उन तरुणों के मामले में पैदा होता है, जिनमें मनस्तापीयता के लक्षण होते हैं अथवा जिनमें पूर्ववर्ती विकास की विशेषताओं (आत्मसम्मान का निम्न स्तर, असंतोषजनक मानवीय संबंध, आदि) के कारण ये लक्षण उभर सकते हैं। अच्छे अध्यापक को ऐसे तरुणों की विशेष मदद करनी चाहिए, उनके प्रकटतः महसूस किये बिना उन्हें दूसरों के साथ मेलजोल बढ़ाने के लिए प्रेरित करना चाहिए। किंतु इस संबंध में किसी प्रकार के दबाव या नग्न हस्तक्षेप से काम नहीं किया जाना चाहिए, अन्यथा उन्हें अतिरिक्त आघात ही पहुंचेगा। वैसे नैतिक दृष्टि से स्वस्थ वातावरण में पले-पुसे अधिकांश तरुण लड़के-लड़कियों के मामले में मानसिक अलगाव और आत्मानुचिंतन न केवल संसर्ग में बाधक नहीं बनते, बल्कि उसकी प्रगाढ़ता और चयनात्मकता की वृद्धि में सहायक ही होते हैं।

आत्मविश्लेषण का अर्थ निरुद्देश्य आत्मानुचिंतन नहीं है। एक अनन्य पृथक व्यक्ति के रूप में अपनी खोज उस सामाजिक जगत की खोज से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई होती है, जिसमें इस व्यक्ति को रहना है। तरुण का आत्मानुचिंतन, एक ओर, अपने निजी "अहं" के बोध का सूचक है ("मैं कौन हूं? कैसा हूं? मुझमें क्या योग्यताएं हैं? मैं किस बात के लिए अपना सम्मान कर सकता हूं?") और, दूसरी ओर, विश्व में अपनी स्थिति के बोध का सूचक है ("मेरे आदर्श क्या हैं? मेरे मित्र अथवा शत्रु कौन हैं? मैं क्या बनना चाहता हूं? मैं और मेरा परिवेश बेहतर बने, इसके लिए मैं क्या करूं?")। अपने को संबोधित पहली तरह के सवाल किशोर पूछता है, हालांकि इसका उसे सदा भान नहीं रहता। दूसरी तरह के सवाल, जो आम हैं और विश्व-दृष्टिकोण से संबंध रखते हैं, तरुण द्वारा पूछे जाते हैं, जिसके लिए आत्मविश्लेषण सामाजिक-नैतिक **आत्मज्ञान** का अंग बन जाता है। तरुण की जीवन विषयक योजनाएं जैसे बहुत हद तक अवास्तविक होती हैं, वैसे ही यह आत्मविश्लेषण भी अवास्तविक होता है। किंतु स्वयं आत्मविश्लेषण की आवश्यकता विकसित व्यक्ति का एक अनिवार्य लक्षण और सोद्देश्य आत्मविकास की एक पूर्वापेक्षा है। लेव तोलस्तोय (१८२८-१९१०) की कृति 'तारुण्य' की उनकी ही डायरियों से तुलना करते हुए अपने से निरंतर असंतुष्ट और अपने सामने रखे गये आत्यंतिक, हालांकि कभी-कभी बचकाने, लक्ष्यों को पाने में असमर्थ इस लेखक के आंतरिक द्वंद्व से सहानुभूति महसूस की जा सकती है। किंतु यह देखे बिना भी नहीं रहा जा सकता कि इस आत्मविश्लेषण की गहराई व्यक्तित्व की जटिलता को प्रतिलक्षित करती है और अपने से ऊंची अपेक्षाएं भावी सफलताओं की एक शर्त हैं।

तरुणों के आत्मानुचिंतन की गहराई और तीव्रता कई सामाजिक (सामाजिक मूल व परिवेश, शिक्षा का स्तर), व्यक्ति-प्रारूपिक (अंत-र्मुखता अथवा बहिर्मुखता की मात्रा) और जीवनीसंबंधी (पारिवारिक परिस्थितियां, समवयस्कों के साथ संबंध, पढ़ाई का स्वरूप) कारकों पर निर्भर होती हैं, जिनके सहसंबंधों का अभी पर्याप्त अध्ययन नहीं हो सका है। यदि कुछ तरुण एकांत की ओर खिंचते हैं, तो दूसरे, इसके विपरीत, थोड़े से समय के लिए भी एकाकी रह जाने से बहुत डरते हैं। परवर्ती

मामले में ऐसा संदेह तक पैदा हो जाता है कि इस प्रकार के तरुणों के लिए संसर्ग (बेशक, अचेतन रूप से) अपनी उन समस्याओं से भागने का साधन होता है, जिन्हें अपर्याप्त चिंतनशीलता के कारण वे जानने-समझने में असमर्थ हैं। अधिकांश तरुण बीच की श्रेणी में आते हैं। अध्यापक और प्रतिपालक को ये सब अंतर जानने और ध्यान में रखने चाहिए।

आत्मसम्मान और उसका प्रयोजन

व्यक्तित्व का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण लक्षण, जिसकी बुनियाद आरंभिक तरुणावस्था में रखी जाती है, आत्मसम्मान है, यानी सामान्यीकृत आत्ममूल्यांकन। उच्च आत्मसम्मान दंभ अथवा आत्मालोचना के अभाव का पर्याय नहीं है। उसका अर्थ है कि आदमी अपने को औरों से बदतर अथवा निकृष्ट नही मानता, कि उसका अपने बारे में अच्छा मत है। इसके विपरीत, निम्न आत्मसम्मान का अर्थ है निरंतर असंतोष, अपने से घृणा, अपनी शक्ति में अविश्वास।

किसी भी व्यक्ति में आत्मसम्मान का जो स्तर होता है, वह इक्के-दुक्के आत्ममूल्यांकनों के विपरीत अपेक्षया स्थायी होता है, यद्यपि दीर्घकालीन सफलताएं अथवा असफलताएं उसे घटा-बढ़ा भी सकती हैं। आत्मसम्मान के निर्माण को बाल्यकाल से ही सक्रिय कई कारक – मां-बाप का रवैया, समवयस्कों के बीच स्थिति, आदि – प्रभावित करते हैं। तरुणावस्था में जब पहले के मूल्य खंडित होते हैं और अपने निजी गुणों को नये उजाले में देखा जाने लगता है, अपने व्यक्तित्व की धारणा में संशोधन किया जाता है। तरुणों में प्रायः अतिरंजित, अवास्तविक दावे करने, अपनी योग्यता, समुदाय में स्थिति, आदि को बढ़ा-चढ़ाकर आंकने की प्रवृत्ति पायी जाती है। ऐसा निराधार आत्मविश्वास प्रायः वयस्कों (और समवयस्कों) को अच्छा नहीं लगता और बहुसंख्य टकराव व निराशाएं पैदा करता है। केवल बार-बार के प्रयत्नों और त्रुटियों से ही तरुण आदमी अपनी वास्तविक क्षमताओं की सीमाओं को पहचान पाता है (सामान्यतः यह देर से, स्कूली शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद ही होता है)।

किंतु तरुण का आत्मविश्वास कितना भी क्यों न अखरता हो, आत्मसम्मान की कमी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहीं अधिक खतरनाक होती है। वह मनुष्य की आत्मविषयक धारणा को विरोधपूर्ण और अस्थिर बना देती है। अल्प आत्मसम्मानवाले लड़के-लड़कियां प्रायः संसर्ग-निर्वाह में कठिनाई अनुभव करते हैं और कोई झूठा मुखौटा लगाकर अपने को दूसरों से असंपृक्त कर लेते हैं। इस भूमिका को आगे भी निभाते जाने की आवश्यकता आंतरिक तनाव बढ़ाती है। ऐसे लोग आलोचना, मज़ाक, आदि के बारे में, दूसरे लोग उनके बारे में जो सोचते हैं, उसके बारे में बहुत ही संवेदनशील होते हैं। व्यक्ति में आत्मसम्मान की मात्रा जितनी ही कम होगी, उतनी ही अधिक इसकी संभावना है कि वह एकाकीपन के बोझ से ग्रस्त रहेगा। अल्प आत्मसम्मान के कारण व्यक्ति की सामाजिक अपेक्षाओं का स्तर भी काफ़ी घट जाता है, और वह ऐसी हर तरह की सक्रियता से कन्नी काटने लगता है, जिसमें प्रतियोगिता की कोई बात हो। ऐसे लोग प्रायः अपने सामने रखे हुए लक्ष्य त्याग देते हैं, क्योंकि उन्हें अपनी शक्ति में विश्वास नहीं होता। अपनी बारी में यह उनके अल्प आत्ममूल्यांकन को और सुदृढ़ आधार प्रदान कर देता है।

अल्प आत्मसम्मान संकोच का पर्याय कतई नहीं है। यदि अध्यापक अपने किसी छात्र में अल्प आत्मसम्मान के लक्षण देखता है, तो उसे इस खतरनाक प्रवृत्ति को रोकने के लिए अवश्य ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करनी चाहिए, जिनमें कि तरुण अपने सामाजिक और मानवीय महत्त्व के स्पष्ट प्रमाण पा सके। एक सबसे कारगर तरीका है ऐसे तरुण को सामाजिक कार्यकलाप में शामिल करना, उसे अन्य साथियों के लिए अपनी "आवश्यकता" का अहसास कराना।

§३. संसर्ग और संवेगात्मक जीवन

आत्मज्ञान, आत्मनिर्णय की जटिल समस्याएं तरुण अकेले नहीं, बल्कि माता-पिता, समवयस्कों और अध्यापकों के संसर्ग से, उनकी सहायता व समर्थन से हल करता है।

किशोर भी, ज्यों ही उसमें प्रौढ़ता, वयस्कता की अनुभूति जाग जाती है, माता-पिता के सतत संरक्षण से मुक्ति पाने और उनके साथ समानता के आधार पर संबंध बनाने के प्रयत्न करने लग जाता है। यह प्रवृत्ति तरुणावस्था में जारी रहती है। किंतु अभीप्सित स्वायत्तता का स्वरूप और सीमा क्या होनी चाहिए? एक विज्ञान के रूप में तरुण मनोविज्ञान को उन एकांगी सिद्धांतों से बड़ी हानि पहुंची है, जिनका कहना है कि तरुणावस्था सदा और सर्वत्र "विद्रोही" होती है और "पीढ़ियों का टकराव" उत्पन्न करती है। वास्तव में माता-पिता और संतान के परस्पर संबंध सामाजिक परिवर्तनों की गति तथा स्वरूप, परिवार के ढांचे, अनुशासन के स्वरूप और तरीके, आदि अनेकानेक सामाजिक कारकों की समष्टि पर निर्भर होते हैं। शिक्षा व पालन की निरंकुशतावादी प्रणाली, जो विकासमान व्यक्ति की अपनी आकांक्षाओं को छूट नही देती है, वस्तुतः टकराव उत्पन्न करती है, जिनसे जनवादी शिक्षा व प्रणाली की बदौलत बचा जा सकता है। किंतु वे वैज्ञानिक भी सही नहीं हैं, जो तरुणावस्था में माता-पिता के साथ संबंधों के गंभीर पुनर्गठन की ओर से आंखें मूंद लेते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान बड़े बच्चों की स्वायत्तता का प्रश्न ठोस रूप में उठाता है और **व्यवहारात्मक स्वायत्तता** (तरुण की केवल उससे संबंध रखनेवाले प्रश्नों को स्वयं हल करने की आवश्यकता और अधिकार), **संवेगात्मक स्वायत्तता** (माता-पिता से स्वतंत्र रूप से निर्धारित अपने लगाव, रुझान रखने की आवश्यकता और अधिकार) और **नैतिक व मूल्यात्मक स्वायत्तता** (अपने दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता और अधिकार और ऐसे दृष्टिकोण वास्तव में रखना) के बीच स्पष्ट भेद करता है।

सबसे पहले किशोर अपने खाली समय के संबंध में – बेशक कुछ सीमाओं के भीतर – व्यवहारात्मक स्वायत्तता पाने की कोशिश करते हैं। मिसाल के लिए, अधिकांश शहरी स्कूली छात्र अपना खाली समय स्कूल और घर के बाहर बिताना पसंद करते हैं, क्योंकि शहर में थियेटर, सिनेमा, क्लब, इत्यादि भी होते हैं। किंतु गांव में चूंकि ये

सब प्रायः नहीं होते, इसलिए वहां स्कूल सांस्कृतिक मनोरंजन का केंद्र भी बन जाता है। किशोर वयस्कों के बजाय अपने समवयस्कों के साथ ही खाली समय बिताना पसंद करते हैं।

संवेगात्मक स्वायत्तता के मार्ग में प्रायः बड़ी कठिनाइयां होती हैं। तरुणों को लगता है – और प्रायः वे सही भी होते हैं – कि माता-पिता बच्चों में आये परिवर्तनों का पूर्ण महत्त्व नहीं जानते और उनकी भावनाओं को गंभीरतापूर्वक नहीं लेते। ऐसे में अगर ज़रा सी भी चूक हुई, तो उच्च कक्षा के छात्र के मनोजगत के कपाट माता-पिता के लिए हमेशा-हमेशा के लिए न भी सही, मगर बहुत समय के लिए अवश्य ही बंद हो जायेंगे। इस प्रश्न के उत्तर में कि "तुम्हें बेहतर कौन समझता है", काफ़ी अधिक तरुण लोग मित्रों और समवयस्कों का उल्लेख करते हैं, न कि माता-पिता का। यदि किशोरावस्था अनुशासन की दृष्टि से सबसे कठिन आयु है, तो आरंभिक तरुणावस्था सबसे अधिक संवेगात्मक समस्याएं और प्रायः माता-पिता व बच्चों के बीच मानसिक दूरी भी उत्पन्न करती है। इन वर्षों में पिता के साथ संबंध विशेषतः उलझ जाते हैं। माता इस आयु में भी पिता की अपेक्षा अधिक निकट व प्रिय रहती है। किंतु माता-पिता के साथ संबंधों के थोड़ा-बहुत ठंडा पड़ने और उनसे अपनी कुछ बातें छिपाना शुरू करने का यह अर्थ नहीं कि लगाव समाप्त हो गया है। यह माता-पिता की कुशलता और सूझ-बूझ पर ही निर्भर है कि वे अब बच्चा न रही अपनी संतान के भावना जगत में दखल दिये बिना दोनों पक्षों के लिए जरूरी संवेगात्मक घनिष्ठता और परस्पर समझ बनाये रख सकेंगे कि नहीं।

नैतिक मान्यताओं और मूल्यानुसरण के क्षेत्र में तरुण स्वायत्तता के अपने **अधिकार** पर बड़ी दृढ़ता से अड़े रहते हैं। कभी-कभी चरम दृष्टिकोण जान-बूझकर केवल इसलिए व्यक्त किये जाते हैं कि मौलिकता के अपने इस दावे को पुष्ट किया जाये। किंतु व्यवहार में माता-पिता का प्रभाव यहां फिर भी प्रमुख बना रहता है। पीढ़ियों के बीच अंतर केवल ऐसे अपेक्षया सतही प्रश्नों पर ही दिखायी देता है, जैसे फ़ैशन, पसंदें और मनोरंजन के तरीके। कुछ प्रतिपालकों की हुक्म देकर पेंट की मोहरी की चौड़ाई, बालों की लंबाई अथवा नाच के ढंग को विनियमित करने की कोशिशें अनावश्यक टकराव ही पैदा करती हैं। किंतु जहां

तक अधिक गहन प्रश्नों का संबंध है, जैसे राजनीतिक रुझान, विश्व-दृष्टिकोण, पेशे का चुनाव, आदि, तो उनमें माता-पिता का प्रभाव कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रबल होता है, बजाय साथियों और समवयस्कों के प्रभाव के। कम्युनिज़्म के निर्माता सोवियत समाज में बुनियादी जीवन लक्ष्यों की समानता पीढ़ियों के परिवर्तन को, क्रांतिकारी परंपराओं के हस्तांतरण को आसान बना देती है।

सामूहिकतावाद और सामूहिक जीवन

आरंभिक तरुणावस्था आत्मविश्लेषण की ही आयु नहीं है। यह वह आयु भी है, जब सामूहिकता की भावना सबसे प्रबल होती है। किशोर के लिए सामूहिक जीवन में भाग लेना, दूसरों के साथ **रहना** ही पर्याप्त है। किंतु तरुण के लिए सर्वाधिक महत्त्व समवयस्कों द्वारा **स्वीकार किये जाने**, अपने को समूह के लिए आवश्यक महसूस करने और उसमें एक निश्चित प्रतिष्ठा तथा प्रभाव अर्जित करने का होता है। समूह में उसे यदि समुचित स्थान नहीं मिलता, तो वह अत्यधिक चिंतित हो उठता है। इसी कारण पाया जाता है कि समवयस्कों के बीच कम पसंद किया जानेवाला तरुण औरों की अपेक्षा कहीं अधिक अपने व्यक्तित्व को बदलने के लिए उत्सुक रहता है।

समाजमितीय अध्ययनों से पता चलता है कि तरुणों की कक्षाओं में शनैःशनैः एक निश्चित ध्रुवीकरण हो जाता है, जिसमें एक ओर सबसे लोकप्रिय छात्र होते है और, दूसरी ओर वे, जिन्हें सबसे कम पसंद किया जाता है। ऐसा दर्जा, विशेषतः पसंद न किये जाने का दर्जा, काफ़ी स्थायी होता है और एक कक्षा से दूसरी कक्षा में भी जारी रहता है। इससे तरुणों में प्रतिस्पर्धा की भावना बढ़ती है और कई मानसिक समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। समस्याएं अपेक्षया बेहतर हालतवाले बच्चों के सामने भी पैदा होती हैं। कुछ किशोर अपनी प्रतिष्ठा ऐसी भूमिकाओं (उदाहरणार्थ, कक्षा में मसखरे की भूमिका) पर आधारित करते हैं, जिनसे आगे चलकर, यानी उच्च कक्षाओं में खुद उन्हें भी झुंझलाहट होने लग जाती है। किंतु भूमिका को कैसे बदला जाये, जब साथी उसी भूमिका की उम्मीद कर रहे हों? फिर क्या कोई

दूसरी भूमिका ऐसी अभीप्सित और आदत का अंग बन चुकी लोकप्रियता दे सकेगी? फलस्वरूप तरुणावस्था में समूह में अपनी स्थिति से प्रायः असंतोष पैदा हो जाता है और तरुण का आत्ममूल्यांकन अपनी स्थिति के अनुकूल नहीं रह जाता है।

तरुण के संसर्ग के दायरे के बढ़ते और मुख्य गतिविधियों के जटिल बनते जाने का यह नतीजा निकलता है कि वह जिन समूहों अथवा समुदायों का अंग होता है अथवा जिनसे वह अपने मूल्यों तथा आत्ममूल्यांकनों का मिलान करता है, अभिनिर्देशन पाता है (संदर्भ-समूह), उनकी संख्या काफ़ी बढ़ जाती है। इनमें संगठित स्कूली समुदाय (कक्षा, कोम्सोमोल संगठन), संगठित, किंतु स्कूलेतर समुदाय (खेलकूद संगठन, क्लब, विभिन्न कला तथा शिल्प मंडलियां) और विभिन्न व्यक्तियों के निजी संपर्क की प्रक्रिया में बननेवाले अनौपचारिक, स्वतःस्फूर्त, असंगठित समूह, गिरोह, आदि आते हैं। समूहों व समुदायों का यह बाहुल्य ही कुछ खास भूमिका संबंधी द्वंद्व पैदा कर देता है, क्योंकि तब व्यक्ति के सामने सवाल उठता है कि किस तरह का अंग होना उसके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है (मिसाल के लिए, यदि खेलकूद संगठन और स्कूल में से किसी एक को चुनता है)। स्थिति इससे और भी जटिल बन जाती है कि विभिन्न समूहों की अपेक्षाओं में टकराव हो सकता है।

शिक्षा और पालन के कार्य में असंगठित, गली-मुहल्ले के समूहों और गिरोहों के प्रभाव को ध्यान में रखना बहुत ज़रूरी है। कुछ अध्यापक उनकी ओर से आंखें मूंद लेते हैं अथवा उन्हें सांयोगिक, अल्पकालिक परिघटना जैसे मानते हैं। किंतु यह बहुत खतरनाक भ्रम है।

विकासशील पीढ़ी का सारा समय स्कूल में ही नहीं बीतता। अतः विविध युवा संगठन – राजनीतिक, खेलकूद, सांस्कृतिक, आदि – स्कूल के पूरक का काम करते हैं। किंतु ये संगठन भी तरुण लोगों की असंगठित, अनौपचारिक समूहों, चाहे वे स्कूल में ही बननेवाले साथियों के गिरोह हों अथवा गली-मुहल्ले के गिरोह, के प्रति ललक को खत्म नही कर सकते। कक्षा समुदायों की भांति स्वतःस्फूर्त, असंगठित समूह समवयस्कों के ही और केवल स्कूली छात्रों के समूह नही होते (उनमें गैर-छात्र भी शामिल होते हैं)। उनका पंचमेल स्वरूप और उनमें

वयस्कों की निरंतर निगरानी का अभाव, जो उच्च कक्षाओं के छात्रों को संगठित समूहों में हमेशा पसंद नहीं होती, उन्हें तरुणों के लिए विशेषतः आकर्षक बना देते हैं। यदि किशोरों के मामले में स्वतःस्फूर्त समूह अधिकांशतः स्कूली समूहों के पूरक से होते हैं और दोनों में सरदार एक ही होते हैं, तो तरुणों के मामले में स्थिति बदल जाती है। गली-मुहल्ले के समूह में तरुण का स्थान स्कूल में उसके स्थान से प्रायः विपरीत होता है।

यह विरोधाभास शिक्षा की दृष्टि से एक गंभीर खतरा पैदा करता है। गली-मुहल्ले के समूहों में पोषित मूल्य प्रायः समाज विरोधी मूल्य होते हैं और उनके सरदार भी सदा सर्वोत्तम लड़कों में से नहीं होते। कभी-कभी ये समूह अपराधी गिरोहों अथवा गुंडा गिरोहों में बदल जाते हैं। ऐसी स्थिति में तरुण की आयुगत अनुकूलनात्मकता भी बड़ी हानिकर भूमिका निभाती है। बड़ों से स्वतंत्र बनने की कोशिश में तरुण अपने समवयस्कों के बीच सहारा और समर्थन खोजता है। किंतु अंदर से वह अभी स्वतंत्र नहीं होता, इसलिए बाहर की छूत उसे आसानी से लग जाती है। समूह का अंग होने का अहसास, खास तौर से अगर इस अंग होने की बात को उचित ठहराना हो, कभी-कभी उसके लिए उन मूल्यों से भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण होता है, जिनकी बुनियाद पर स्वयं समूह बनता है। "सभी (लड़के अथवा लड़कियां) ऐसा करते हैं" – यह तर्क उसकी दृष्टि में किसी भी तरह की हरकत का स्पष्टीकरण देने और औचित्य सिद्ध करने के लिए काफ़ी सोता है। प्रसंगतः "सभी" – ये या तो उसके समूह के सदस्य होते हैं, या फिर वे, जिनकी वह नकल करता है।

स्वतःस्फूर्त समूहों को और उनके लक्षणों व प्रतीकों (खास तरह की बोली, आचरण-व्यवहार का तरीका, सौंदर्यात्मक रुचियां, फ़ैशन) को खत्म करने की कोशिशें सामान्यतया निरर्थक सिद्ध होती हैं। इसके अलावा, यह भी संभव है कि संसर्ग-संपर्क का यह रूप (बेशक इसमें गुंडा गिरोह शामिल नहीं हैं) तरुणों में उपक्रम और पुरुषत्व के पोषक की सामाजिक दृष्टि से उपयोगी भूमिका निभाता हो।

स्वतःस्फूर्तता के नकारात्मक परिणामों से बचने का एक उपाय यह है कि संगठित समुदायों के कार्य को अधिक जानदार, रोचक और बहुमुखी बनाया जाये।

सुप्रसिद्ध सोवियत शिक्षाशास्त्री न०क० क्रूप्स्काया (१८६९-१९३९) तरुणों के सामने उत्तरोत्तर जटिल लक्ष्य रखने को, जिन्हें वे स्वतंत्र प्रयासों से हासिल कर सकते हों और जो समाज के साझे लक्ष्य से जुड़े हुए हों, उनमें सामूहिकतावाद की भावना, नैतिक आदर्शों और सिद्धांतनिष्ठा के संवर्धन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण मानती थीं।

मैत्री-संबंध

सामूहिक जीवन का महत्त्व बढ़ने के साथ-साथ तरुणावस्था में व्यक्तिगत, अंतरंग मैत्री की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। अठारहवीं सदी के महान फ़्रांसीसी विचारक रूसो ने भी लिखा था कि सुसंस्कृत युवा व्यक्ति में पहली भावना जो जन्म लेती है, वह प्रेम नहीं, मैत्री की भावना है। लेव तोलस्तोय अपनी आत्मकथात्मक रचना-त्रयी ('बाल्यावस्था', 'कैशोर्य', 'तारुण्य') के नायक की द्मीत्री नेख़्ल्यूदोव के साथ मैत्री को वह प्रतीकात्मक मंज़िल मानते थे, जिसके एक ओर कैशोर्य था और दूसरी ओर तारुण्य।

मित्र की अथक खोज किशोरावस्था में ही आरंभ हो जाती है। किंतु तरुणों की मैत्री किशोरों की मैत्री की अपेक्षा कहीं अधिक स्थायी और जो मुख्य बात है, गहन होती है। आरंभिक किशोरावस्था में मित्रों को मुख्यतया साझी रुचियां, संयुक्त क्रियाकलाप (जिसमें और भाग नहीं ले सकते) ही जोड़ते हैं। तरुणों की मैत्री में प्रमुखता अंतरंगता, संवेगात्मक आत्मीयता और निश्छलता को प्राप्त होती है। तरुण की आत्मचेतना का विकास और उसके स्वभावगत अंतर्विरोध किसी के सामने अपनी आत्मा उंडेलकर रख देने, अपने संवेगात्मक अनुभवों में भागीदार बनाने की उत्कट लालसा पैदा करते हैं। इसीलिए मित्र को अपना अपर स्वरूप (आल्टर ईगो) समझा जाता है। ऐसी उत्कट लालसा तरुणावस्था में ही उत्पन्न होती है।

बेशक तरुण की मैत्री की धारणा और उसकी अंतरंगता की यथार्थ मात्रा सभी के मामले में एकसमान नहीं होती। लड़कियां चूंकि यौवनारंभ की अवस्था में जल्दी पहुंच जाती हैं, इसलिए अंतरंग मैत्री की आवश्यकता उनमें लड़कों से पहले पैदा होती है। यदि लगभग एक ही आयु के

लड़कों और लड़कियों के मैत्री के आदर्शों की तुलना की जाये, तो पता चलेगा कि मैत्री से लड़कियों द्वारा की जानेवाली अपेक्षाएं कहीं ऊंची होती हैं। बाद में यह अंतर संभवतः मिट जाता है। व्यक्तिगत भेद भी काफ़ी बड़े होते हैं। कुछ केवल युगल मैत्री पसंद करते हैं और सोचते हैं कि असली मित्र एक ही हो सकता है। दूसरों के दो, तीन या इससे भी ज़्यादा मित्र होते हैं। कुछ के मामले में मैत्री का जन्म उसकी उत्कट आवश्यकता, जो एकाकीपन की अनुभूति का और संवेगात्मक आत्मीयता की कमी का फल होती है, महसूस कर लेने के बाद होता है। कुछ के मामले में बचपन के साथी ही शनैःशनैः घनिष्ठ मित्रों में तब्दील हो जाते हैं।

पहला स्वतंत्र रूप से चुना हुआ गहन व्यक्तिगत लगाव होने के कारण तरुणसुलभ मैत्री लगाव के कुछ अन्य रूपों, विशेषतः प्रेम, की पूर्वापेक्षा बनती है और कुछ हद तक उनका पूर्वाभास देती है। रूसी क्रांतिकारी जनवादी गेर्त्सेन (१८१२-१८७०) ने लिखा था, "मैं नहीं जानता कि प्रथम प्रेम की यादों को तरुणावस्था की मैत्री की यादों की तुलना में ऐसा अनन्य महत्त्व क्यों दिया जाता है। प्रथम प्रेम इसलिए इतनी मधुर सुरभि लिये होता है कि उसमें स्त्री-पुरुष का भेद मिट जाता है, कि वह उद्दाम मैत्री का प्रतीक होता है। अपनी ओर से तरुणों की मैत्री में भी प्रेम की सारी उत्कटता, बिल्कुल उसके जैसे लक्षण होते हैं – वही शब्दों द्वारा अपनी भावनाओं को स्पर्श करने का संकोचपूर्ण भय, वही अपने में अविश्वास, वही पूर्ण समर्पण, वही विछोह का कष्टकर संताप और वही एकमात्र होने की ईर्ष्याभरी आकांक्षा।"

अनम्यता, अपने व्यक्तित्व के अनुसार व्यवहार की कोशिश और आत्माभिव्यक्ति की लालसा – ये तरुण के ठेठ लक्षण हैं। किंतु आदमी जब तक व्यावहारिक कार्यकलाप के ज़रिये अपनी पहचान न बना ले, अपने विषय में उसकी धारणा कुछ हद तक अस्पष्ट और अस्थायी ही रहेगी। इसकी अभिव्यक्ति अपने को "परायी" भूमिकाएं खेलकर जांचने की इच्छा, दिखावे और जान-बूझकर अथवा बिना जाने-बूझे आत्मनिषेध में मिलती है। तरुण आखिर तक ईमानदार बनना और दूसरों द्वारा समझा जाना चाहता है। उसे यह बात मन ही मन कचोटती रहती है कि वह अपने अंतर्जगत को व्यक्त नहीं कर सकता। आत्मवि-

श्वास की कमी उसमें औरों के बीच खो जाने, हंसी का पात्र प्रतीत होने का भय उत्पन्न करता है।

इसलिए तरुण के लिए अंतरंग मैत्री बहुत बड़ा महत्त्व रखती है, जिसकी बदौलत वह भावनाओं, स्वप्नों और आदर्शों की तुलना कर सकता है और अपने बारे में बोलना-बताना सीख सकता है। आधुनिक तरुण कभी-कभी ऊंची बातों से और कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति से डरते हैं। इसीलिए वे अपने मैत्री संबंधों को जान-बूझकर ठेठ दुनियावी और रूखी शक्ल देते हैं। किंतु इससे भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। मानव संबंधों में संप्रेषण की सतही अंतर्वस्तु और संवेगात्मक अंतर्वस्तु के बीच प्रत्यक्ष संबंध हमेशा नहीं होता। दसवीं कक्षा के दो छात्रों को टेलीफ़ोन पर फ़ालतू की बातचीत करते और उसमें भी लगभग विस्मयादिबोधक ही इस्तेमाल करते देखकर वयस्क चिढ़ जाते हैं। किंतु वे नहीं देखते कि इस बातचीत की जीवन से संबंध रखनेवाली अंतर्वस्तु तार्किक नहीं, अपितु संवेगात्मक है और वह भी शब्दों और वाक्यों द्वारा उतनी व्यक्त नहीं हुई है, जितनी कि बोलने के ढंग, आवाज़ के उतार-चढ़ाव और सीधे-सीधे कुछ बताने से कतरा जाने द्वारा, जो दोनों मित्रों को एक दूसरे की मनःस्थिति की सूक्ष्मताओं से भी परिचित करा देते हैं और साथ ही – यह कभी-कभी जान-बूझकर भी किया जाता है – किसी और सुननेवाले को बेमतलब, ऊलजलूल भी लगते हैं।

१५-१६ वर्ष की आयु में लड़के भी और लड़कियां भी मैत्री को मानव संबंधों में सबसे महत्त्वपूर्ण मानते हैं। तरुणों की मैत्री की अति संवेगात्मकता उसे आंशिकतः अवास्तविक बना देती है। तरुण कभी-कभी न केवल मैत्री में अपने को आदर्श रूप में देखता है, बल्कि अपनी नज़र में मैत्री को भी आदर्श बना देता है। मित्र की उसकी धारणा प्रायः इस आदर्श "अहं" के करीब होती है बजाय वास्तविक "अहं" के। जिससे उसे अनुराग होता है, वह उसे अपने से मिलता-जुलता अधिक प्रतीत होता है, बजाय उसके कि जो वह वास्तव में है। उसकी मैत्री संबंधों से की जानेवाली अपेक्षाएं इतनी ऊंची होती हैं कि यथार्थ संबंध उसे पर्याप्त घनिष्ठ नहीं लगते। प्रगाढ़ संवेगात्मक लगाव का भूखा होने के कारण तरुण कभी-कभी इस लगाव को पैदा करनेवाले व्यक्ति के वास्त-विक गुणों पर ध्यान नहीं देता। कभी-कभी दूसरे व्यक्ति–समवयस्क या

अपने से बड़े व्यक्ति – के प्रति इकतरफ़ा लगाव को भी वह मैत्री मान बैठता है।

हर तरुण अपने मित्र में जिस अपर स्वरूप को खोजता है, वह अपने "अहं" की अबोध्य **अपेक्षाओं** को प्रतिबिंबित करता है। कुछ तरुण मित्र में मुख्यतया अपने "अहं" की पुष्टि खोजते हैं: उनके लिए मित्र दर्पण होता है, जिसमें वह अपना प्रतिबिंब देखता है। कुछ इसके विपरीत खुद ही मित्र से तादात्म्य स्थापित करते हैं, उसके भावना जगत को अपना लेते हैं, चाहे इससे उनका अपना व्यक्तित्व ही क्यों न खत्म हो जाता हो। तीसरी तरह के तरुण ऐसे होते हैं, जो मित्र में एक तरह का **पूरक**, अनुकरण के लिए **प्रतिमान**, मानसिक सुरक्षा खोजते है। इन सब अबोध्य मानसिक आवश्यकताओं पर ही मित्रों का चुनाव और उनके साथ संबंधों का स्वरूप निर्भर होते हैं।

अधिकांश मामलों में उच्च कक्षाओं के छात्र, अन्य आयु-वर्गों के लोगों की भांति, अपने ही लिंग के समवयस्क से मैत्री को प्राथमिकता देते हैं। आयु में अंतर एक-दो वर्ष से अधिक विरले ही होता है। किंतु बहुतों, विशेषत: लड़कियों को, अपने से बड़ों के साथ मैत्री की आवश्यकता भी महसूस होती है। अनेक तरुण लड़के-लड़कियां अपने से कम उम्र के लड़के-लड़कियों के साथ सहर्ष समय बिताते हैं और इससे उन्हें बड़ा संतोष मिलता है। किंतु अपने से छोटों के साथ संबंध प्राय: अनुपूरक से होते हैं और समवयस्कों के साथ मैत्री की जगह नहीं ले सकते। यदि सामान्य विकास की हालत में तरुण लड़का अथवा लड़की अपने से छोटे किशोरों को घनिष्ठ मित्र बनाते हैं, तो यह प्राय: विवशतावश किया जाता है, क्योंकि समवयस्कों के साथ संसर्ग में कठिनाइयां उत्पन्न हो गयी थीं। ये कठिनाइयां संकोचशीलता, बढ़ी हुई अपेक्षाओं या किसी और चीज़ की उपज हो सकती हैं।

तरुण और तरुणियों की मैत्री में अंतरों के प्रश्न का अभी पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ है। मनोवैज्ञानिक अनुसंधान इस प्राचीन काल से चली आ रही धारणा का खंडन करते हैं कि नारियों से मैत्री नहीं निभ सकती। बेशक संभव है कि लड़कियों की अतिशय संवेदनशीलता, छोटी से छोटी बात को महत्त्व देने और "संबंध स्पष्ट करने" की उनकी प्रवृत्ति, वगैरह उनके साथ स्थिर मैत्री संबंध बनाये रखने को

अधिक संयत और "रूखे" लड़कों के मुक़ाबले, जो बुनियादी और मुख्य बातों में परस्पर समझ से ही संतोष कर लेते हैं, ज़्यादा कठिन बना देती हैं।

तरुणावस्था में प्रेम और स्त्री-पुरुष संबंध

लड़के-लड़कियों के आपसी संबंध, जो किशोरावस्था में सीमित और निरुद्ध होते हैं, तरुणावस्था में काफ़ी सक्रिय बन जाते हैं। साथीपन के संबंधों का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, केवल लड़कों अथवा लड़कियों के गिरोहों के साथ-साथ मिले-जुले गिरोह भी बनने लग जाते हैं। मिली-जुली मैत्री की आवश्यकता, विशेषतः लड़कियों के मामले में, बढ़ जाती है। भोले बालसुलभ प्रेम (एक दूसरे को तिरछी चितवन से देखना, पर्चियां लिखना, प्यार व्यक्त करना, कभी-कभी चूम भी लेना, जो पांचवीं-सातवीं कक्षाओं में काफ़ी आम बात हैं) के साथ-साथ १५-१६ वर्ष की आयु में पहले गंभीर रागात्मक संबंध, प्रेम और गहन अनुभूति की उत्कट आवश्यकता पैदा हो जाती है। यह तथ्य कि उच्च कक्षाओं में प्रेम प्रायः "महामारी" की तरह फैलता है – किसी कक्षा में तो कोई भी प्रेम नहीं करता और दूसरे में सभी, हर कोई – स्वयं समस्या की गंभीरता को खत्म नहीं कर देता। लिंगों के परस्पर संबंध शिक्षा और पालन की एक मुख्य समस्या बन जाते हैं। ये संबंध प्रणय-निवेदन अथवा इश्कबाज़ी का रूप लेंगे या पारस्परिक रुचि अधिक व्यापक साथीपन के व निजी संपर्कों के दायरे में बढ़ेगी – यह काफ़ी हद तक पूर्ववर्ती शिक्षा व पालन पर और समुदाय के नैतिक वातावरण पर निर्भर होता है।

स्त्री-पुरुष की समानता पर आधारित सोवियत समाज का आत्मिक वातावरण, सहशिक्षा, श्रम और सामाजिक कार्य – ये सब सही सामाजिक-नैतिक मूल्यों का निर्माण आसान बना देते हैं। किंतु इन अनुकूल सामान्य परिस्थितियों में भी आरंभिक तरुणावस्था में लड़के-लड़कियों के बीच संसर्ग बढ़ने में कुछ मानसिक कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। सबसे पहले तो बचपन से चले आ रहे स्त्री-पुरुष भूमिकाओं के विभेदीकरण का प्रभाव पड़ता है। लड़के भी और लड़कियां भी कुछ खास तरह के खेलों को प्राथमिकता देते हैं और उनमें साथी अपने ही लिंग के

चुनते हैं। लड़के अपनी "विशिष्टता" पर विशेष रूप से ज़ोर देते हैं। यह धारणा उनके मन में वयस्कों द्वारा बिठायी जाती है ("तुम मर्द हो! मर्द क्या ऐसा करेगा?")। लड़कों जैसा व्यवहार करनेवाली लड़की को देखकर आज शायद ही किसी को हैरानी होती हो। किंतु ज़रूरत से ज़्यादा नाज़ुक, संकोची लड़के को देखकर बड़ों की भी और समवयस्कों की भी भौंहें उठ जाती हैं। अपनी समवयस्कों द्वारा ठुकरायी हुई लड़की लड़कों के बीच लोकप्रिय बनकर अपनी कमी की मानसिक पूर्ति कर लेती है। किंतु तरुण के लिए यह संभव नहीं: उसके पुरुषत्व को मान्यता केवल पुरुष समवयस्कों से मिल सकती है।

गहन संसर्ग और परस्पर समझ के बढ़ने में मानसिक अंतरों और सामान्य लैंगिक परिपाक की गति से भी कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं। किशोरावस्था में लड़कियां अपनी आयु के लड़कों से शारीरिक दृष्टि से ही नहीं, बौद्धिक रूप से भी कहीं तेज़ी से विकास करती हैं। तरुणावस्था में यह अंतर मिट जाता है, लेकिन, दूसरी ओर, विशिष्ट योग्यताओं तथा रुचियों के मामले में अधिक स्थायी लैंगिक भेद प्रकट हो जाते हैं। यदि लड़कों की रुचियां वस्तुजगत और तकनीकी विषयों से अधिक संबंध रखती हैं, तो लड़कियों को ज़्यादातर मनोजगत और मानव-संबंधों की समस्याएं उद्वेलित करती हैं। समवयस्कों के साथ संबंध में लड़कियों के लिए संवेगात्मक पक्ष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। एक ही लिंग के व्यक्तियों के समूह का अंग होने की आवश्यकता लड़के बड़ी तीव्रता से महसूस करते हैं, जबकि लड़कियों के मामले में पंद्रह वर्ष की आयु के बाद यह आवश्यकता घटती जाती है।

यौवनारंभ सभी तरुण भावनाओं, अनुभूतियों और रुचियों को अत्यधिक यौनपरकता प्रदान कर देता है, यद्यपि कभी-कभी इसका बोध नहीं भी होता है। प्रश्न "शारीरिक आवश्यकता" का नहीं है। प्रौढ़ यौन प्रेम ऐंद्रिक (यौन) आकर्षण और प्रिय व्यक्ति के साथ गहन वैयक्तिक संपर्क तथा विलयन की आकांक्षा की लयात्मक एकता का ही दूसरा नाम है। किंतु ये दोनों प्रवृत्तियां एक साथ परिपक्व नहीं होतीं। यद्यपि लड़कियों के मामले में यौवनारंभ पहले होता है, उनमें आरंभ में स्नेह, दुलार, संवेगात्मक आत्मीयता की चाह ही अधिक प्रबल होती है, न कि शारीरिक सामीप्य की चाह। इसके विपरीत

लड़कों में अधिकांशतः कामाकर्षण पहले प्रकट होता है। जहां तक आत्मिक अंतरंगता का प्रश्न है, वह तरुणों में लड़कियों के मुकाबले बाद में पैदा होती है और पहले अपने ही लिंग के समवयस्क की ओर, जिसके साथ वह भावनासाम्य महसूस करता है, लक्षित होती है। इसी से तरुण लड़के की चेतना में थोड़ी-बहुत द्वैधता प्रकट होती है। एक ओर, वह एक तरह की अस्पष्ट कामभावना से भरपूर होती है और यौन कल्पनाएं कभी-कभी किसी कल्पित अथवा यथार्थ बिंब (प्रायः सामूहिक, सारे समूह के लड़कों के लिए साझे) के रूप में साकार बनती हैं, जिसे मात्र काम-विषय के तौर पर, अन्य सभी मानवीय विशेषताओं से रहित विषय के तौर पर, ग्रहण किया जाता है। दूसरी ओर, तरुण लड़के का रवैया उस लड़की के प्रति अत्यंत संकोचपूर्ण और पवित्र होता है, जो उसमें कोमल भावनाएं जागृत करती है।

प्रायोगिक अध्ययन दिखाते हैं कि यद्यपि १५-१८ वर्ष की आयु के लड़के और लड़कियां एक दूसरे के संसर्ग में मानसिक कठिनाइयां, आशंकाएं और तनाव अनुभव करते हैं, यह तनाव लड़कों के मामले में कहीं ज़्यादा होता है। लड़कियां अपने को अधिक आत्मविश्वासपूर्ण अनुभव करती हैं। इसका कारण आंशिकतः यह हो सकता है कि उनका यौवनारंभ जल्दी होता है और आंशिकतः यह कि लड़के, जिन्हें हमारी सांस्कृतिक मान्यताओं के अनुसार प्रणय-निवेदन में पहल दिखानी और सक्रिय भूमिका अदा करनी चाहिए, यह न जानने की वजह से कि उन्हें कैसे पेश आना चाहिए, कठिनाइयां अनुभव करते हैं।

अधिक पहले यौवनारंभ का स्वाभाविकतया मतलब है कि स्कूली रोमांसों की संख्या और साथ-साथ गंभीरता भी बढ़ जायेगी और इस तरह अध्यापक के शिक्षण-कौशल तथा व्यवहार-पटुता से बढ़ी हुई अपेक्षाएं की जाने लगेंगी। अतः यौन विकास से संबंधित चिकित्सा-स्वच्छतावैज्ञानिक शिक्षा के अलावा सर्वांगीण नैतिक शिक्षा दिया जाना भी आवश्यक है। किंतु नैतिक शिक्षा का अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि यौन समस्याओं के बारे में पाखंडपूर्ण चुप्पी बरत ली जाये।

अ०स० मकारेंको ने लिखा था कि मनुष्य के "प्रेम के मूल में मामूली जानवरों जैसा यौन आकर्षण नहीं हो सकता। 'रोमांटिक' प्रेम की शक्तियों का स्रोत मनुष्य के अयौन अनुराग के अनुभव में ही

हो सकता है। जिस युवा व्यक्ति को कभी अपने मां-बाप, साथियों और मित्रों से प्रेम नही रहा है, वह अपनी प्रेयसी, पत्नी को भी कभी प्रेम नहीं करेगा। इस अयौन प्रेम का दायरा जितना व्यापक होगा, यौन प्रेम उतना ही उदात्त बनेगा।"

नवीनतम मनोवैज्ञानिक खोजें इस विचार की पुष्टि करती हैं। बहुत पहले से ज्ञात है कि मनुष्य के अपने प्रति रवैये और मित्रों के प्रति रवैये के बीच एक निश्चित अन्योन्य संबंध है। जिस व्यक्ति की आत्मचेतना ज़्यादा विकसित है और जिसमें प्रचुर आत्मसम्मान है, वह प्रगाढ़ और स्थायी मैत्री स्थापित करने में अधिक सफल होगा, बजाय उसके कि जो अपने आपको "ठुकराता" है। यह अन्योन्याश्रिता यौन संबंधों के क्षेत्र में भी देखी जाती है: जिस आदमी में आत्मसम्मान की भावना ज़्यादा है, उसके मुकाबले अल्प आत्मसम्मानवाला पुरुष नारी को मात्र संभोग वस्तु के रूप में कहीं अधिक देखता है। दूसरी ओर, बहुमुखी मानव संपर्क कायम करने और एक दूसरे को समझने की योग्यता सफल प्रेम और सफल पारिवारिक जीवन की एक महत्त्वपूर्ण पूर्वशर्त है। उदात्त भावनाओं का पालन समाज के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण कार्यभार है, जितना कि युवा व्यक्ति को श्रम जीवन के लिए तैयार करना।

§४. सामाजिक क्रियाशीलता और विश्व-दृष्टिकोण का निर्माण

रुचियां और आत्मिक आवश्यकताएं

आधुनिक सोवियत तरुण-तरुणियों की चौथे-पांचवें दशकों के उनके समवयस्कों से तुलना करने पर जो एक तथ्य तुरंत ध्यान आकृष्ट करता है, वह है आज के युवाओं के सामान्य सांस्कृतिक स्तर और बौद्धिक रुचियों के दायरे तथा विविधता का बढ़ जाना। रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा और सरल वैज्ञानिक प्रकाशनों की बदौलत उच्च कक्षाओं के छात्रों को विज्ञान और प्रविधि की नवीनतम उपलब्धियों से परिचित होने का अवसर मिलता है। मनोविज्ञानवेत्ताओं के अध्ययनों ने दिखाया

है कि पढ़ाई में अच्छे उच्च कक्षा के छात्रों का नवीनतम वैज्ञानिक, तकनीकी, सांस्कृतिक और क्रीड़ा उपलब्धियों के बारे में ज्ञान अपने अध्यापकों से किसी भी भांति कम नहीं होता और कुछ मामलों में तो बल्कि ज़्यादा ही होता है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि वैज्ञानिक-तकनीकी क्रांति के युग में हर नयी पीढ़ी को पूर्ववर्ती पीढ़ी से अधिक शिक्षित होना ही चाहिए। युवा लोगों का खाली समय बिताने का ढंग भी उनसे बड़ी आयु के लोगों के मुकाबले ज़्यादा बहुविध है। अधिकांश उच्च कक्षाओं के छात्र विज्ञान, राजनीतिक घटनाओं, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों, खेलकूद और कला में गहन रुचि लेते हैं। उनके शौक़ हैं किताबें पढ़ना, सिनेमा तथा टेलीविजन देखना, खेलकूद में हिस्सा लेना, पर्यटन, वगैरह। गणित, भौतिकी, रसायनविज्ञान, आदि से संबंधित प्रतियोगिताओं में अधिकाधिक बृहद पैमाने पर भाग लेना दिखाता है कि तरुण लोग विज्ञानों में सक्रिय और सृजनात्मक रुचि लेते हैं। तरुण लड़के-लड़कियों की दिलचस्पी समाजविज्ञान, दर्शन, आदि में भी बढ़ती जा रही है, जो वैज्ञानिक विश्व-दृष्टिकोण के निर्माण के लिए बहुत बड़ा महत्त्व रखते हैं।

किंतु वर्तमान वस्तुस्थिति को आदर्श समझना भी ठीक न होगा। ऐसी बहुत सी समस्याएं हैं, जो बड़ी पीढ़ी की गंभीर चिंता का कारण बनी हुई हैं। सबसे पहले तो यह कि शहरों और देहातों के लड़के-लड़कियों में, विभिन्न सामाजिक परिवेश में लड़के-लड़कियों के विकास के स्तर और रुचियों के दायरे में अंतर आज भी पाया जाता है। समाज इस असमानता को खत्म अथवा कम से कम करने के लिए भरसक प्रयत्न कर रहा है, किंतु यह कार्यभार इतनी जल्दी तो पूरा हो नहीं सकता। चिंता का कारण सांस्कृतिक व नैतिक शिक्षा के केंद्र के रूप में स्कूल की भूमिका का, विशेषतः नगरों में, घटते जाना भी है। स्वयं अध्यापक की स्थिति भी पहले से जटिल बन गयी है। पहले जब वह गांव में सबसे और कभी-कभी तो एकमात्र शिक्षित व्यक्ति था, तो स्वयं अध्यापक का **पद** भी उसे निर्विवाद प्रतिष्ठा प्रदान कर देता था। आज अन्य पेशों के लोगों की भांति उसे अपने **वैयक्तिक गुणों से** अपने लिए इतनी जरूरी प्रतिष्ठा अर्जित करनी और बनाये रखनी पड़ती है और यह कहीं अधिक कठिन कार्य है।

कभी-कभी आशंका व्यक्त की जाती है कि आज की तरुण पीढ़ी की रुचियों का दायरा कहीं ज़रूरत से ज़्यादा व्यापक तो नहीं है, कि कहीं उससे सतहीपन तो नहीं आ जाता, तैयार ज्ञान को निष्क्रिय रूप से आत्मसात् करने की आदत, अपने आप न खोजने की आदत तो नहीं पड़ जाती। किंतु यह मुख्यतया शिक्षण के स्वरूप और विधियों पर निर्भर करता है। उच्च कक्षाओं के तरुण सामान्यतया शिक्षण-प्रशिक्षण के अधिक सक्रिय, स्वतंत्र रूप ही पसंद करते हैं और स्कूल को उनकी इन आवश्यकता को अवश्य तुष्ट करना चाहिए।

तकनीकी विषयों के बारे में ही ज़्यादातर सोचने और मानविकी विषयों, साहित्य, कला, आदि के महत्त्व को कम करके आंकने की प्रवृत्ति भी गंभीर चिंता का कारण बनी हुई है। ऐसी प्रवृत्ति का विरोध किया जाना चाहिए। बड़ी कक्षाओं के तरुण कला की विविध विधाओं में बहुत ही असमान रुचि दिखाते हैं। ललित कलाओं में अपेक्षया कम रुचि ली जाती है। संगीत के क्षेत्र में हल्का-फुल्का संगीत और जाज़ प्रायः अन्य संगीत विधाओं में रुचि को दबा डालते हैं। बहुत से तरुणों की पुस्तकों और फ़िल्मों के मूल्यांकन की कसौटियां भी काफ़ी अधकचरी होती हैं।

किंतु ऐसी बात नहीं कि ये सब समस्याएं केवल तरुण आयु-वर्ग से ही संबंध रखती हों। ये समस्याएं आयुगत उतनी नहीं हैं, जितनी कि सामाजिक हैं। यहां आयुगत अंतरों से कहीं ज़्यादा महत्त्व शिक्षा-स्तरों और पारिवारिक परिस्थितियों में अंतर रखते हैं।

मूल्य-अभिविन्यास और सामाजिक क्रियाशीलता

आरंभिक तरुणावस्था में सामाजिक क्रियाशीलता में उल्लेखनीय वृद्धि होती है। सोवियत तरुण-तरुणियां राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं में रुचि ही नही लेते, वे उनका रुख कम्युनिज़्म निर्माण की दिशा में मोड़ने में सक्रिय योग देने को उत्सुक भी रहते हैं। किंतु तरुण लोग वयस्कों के श्रम जीवन में वास्तविक भाग एक निश्चित सीमा तक ही ले सकते हैं। १९०६ में जन्मी पीढ़ी के लगभग एक तिहाई लोग सोलह वर्ष की आयु तक पहुंचते-पहुंचते श्रम जीवन शुरू कर चुके थे और

तीसरे दशक में तो इस आयु के लगभग सभी तरुण देश के श्रम जीवन में सहभागी बन गये थे। आज उनके अधिकांश समवयस्क अभी पढ़ ही रहे हैं। यह वर्तमान तरुणों की बेहतर स्थिति का सूचक भी है और समाज के लिए एक वस्तुपरक आवश्यकता भी, जिसका शिक्षित लोगों के बिना काम नही चल सकता। साथ ही इसका मतलब है कि इन लोगों में सामाजिक वयस्कता अधिक देर से आयेगी।

वयस्कता की आत्मपरक कसौटियां बहुविध हैं, जैसे शिक्षा की समाप्ति, स्वतंत्र श्रम जीवन का आरंभ, आर्थिक और रहन-सहन संबंधी आत्मनिर्भरता, कानूनी वयस्कता, सेना में सेवा, विवाह और प्रथम संतान का जन्म। स्पष्ट है कि ये सब घटनाएं एक साथ नहीं होतीं और इसलिए आदमी अपने को वयस्क एकदम नहीं, अपितु शनैः-शनैः ही महसूस करने लगता है। फिर भी उपरोक्त कसौटियों में से सबसे मुख्य श्रम जीवन का आरंभ है।

पढ़ाई के सारे बोझ के बावजूद उच्च कक्षाओं के छात्र समाजोपयोगी श्रम की ओर आकृष्ट होते हैं। उसमें उन्हें व्यावहारिक लाभ ही नहीं, अपनी क्षमता-योग्यता के प्रदर्शन का महत्त्वपूर्ण साधन भी दिखायी देता है। गरमियों में फ़ार्मों में काम करना, अभियान दलों और निर्माण परियोजनाओं में भाग लेना, कबाड़ी धातु एकत्र करना, सार्वजनिक व्यवस्था बनाये रखने में मदद देना, अपाहिजों और छोटी कक्षाओं के बच्चों की मदद करना – ये श्रम जीवन में तरुण लड़के-लड़कियों के भाग लेने के कुछ ही तरीक़े हैं।

उच्च कक्षाओं के छात्रों की सामाजिक क्रियाशीलता की अपनी मानसिक विशेषताएं हैं। तरुणसुलभ रूमानियत तरुणों को बड़े काम हाथ में लेने को प्रेरित करती है; तरुण लोग छोटे में बड़े के अंकुर को और वह भी औरों की मदद के बिना नहीं देख पाते। किंतु बड़े सामाजिक कार्यों का फल प्रायः तुरंत नहीं, काफ़ी समय गुज़र जाने के बाद ही दिखायी देता है, जबकि तरुण अपने कार्य, अपने श्रम के फल तुरंत और स्वयं देखना चाहता है। यदि वे नहीं दिखायी देते, तो उत्साह जितनी आसानी से पैदा हुआ था, उतनी ही आसानी से मंद भी पड़ जाता है और तब उदासीनता, विरक्ति उसका स्थान ले लेती है। इसलिए मकारेंको ने निकट के और दूर के उद्देश्यों के समन्वय के

बारे में जो कहा था, उसे अवश्य ध्यान में रखा जाना चाहिए।

रूमानियत और आदर्श की ललक तरुण को शक्ति, पराक्रम और शौर्य की अपेक्षा करनेवाले किसी भी नये कार्य के प्रति विशेषतः उत्साहशील बना देते हैं। इससे उच्च नैतिक आदर्श, आत्मत्याग, साहसिकता और बुराई-विरोध सिखाने के लिए उत्कृष्ट परिस्थितियां पैदा होती हैं। किंतु असामान्य का, अनोखे का आकर्षण कभी-कभी सामाजिक दृष्टि से हानिकर दिशाओं (जैसे अपनी निर्भीकता और अनोखेपन के प्रदर्शन के साधन के रूप में गुंडागर्दी) में भी ले जाता है। इसके अलावा, तरुणों में पायी जानेवाली चरमपंथिता और बढ़े-चढ़े आत्ममूल्यांकन तथा महत्त्वाकांक्षाएं यथार्थ की सही, संयत समझ में प्रायः बाधक बनती हैं। तरुण कभी-कभी बहुत समय तक किशोरसुलभ एकांगिता, असहिष्णुता और दोटूकता से छुटकारा नहीं पा सकता। कुछ तरुणों में एक प्रकार की अत्यालोचना के लक्षण दिखायी देते हैं: वे दुनिया को मानो तटस्थ के तौर पर देखते हैं और भूल जाते हैं कि वे खुद भी उसी दुनिया की उपज हैं। ऐसे तरुण सबसे पहले अपनी आलोचना का निशाना उसे बनाते हैं, जो उन्हें पसंद नहीं और जो उनके आदर्श से मेल नहीं खाते। ऐसे में अध्यापकों और प्रतिपालकों का लक्ष्य यह होना चाहिए कि तरुण लोग न केवल कमियों को देखना, बल्कि उन्हें दूर करने के लिए लड़ना भी सीखें।

तरुण लड़के-लड़कियों में वयस्कता के विकास को कृत्रिम ढंग से रोकने से उनमें बचकानियत की जड़ें मज़बूत बनती हैं, उदासीनता और उत्तरदायित्वहीनता घर कर जाती हैं, जो कि बहुत ही बड़े अवगुण हैं। जो बच्चे संरक्षण के आदी बन जाते हैं, वे उत्तरदायित्व वहन करने में तब भी अयोग्य सिद्ध होते हैं, जब कि यह बहुत ज़रूरी होता है। कभी-कभी ऐसा संरक्षण अविवेकपूर्ण विरोध की प्रवृत्ति पैदा करता है, जिसकी एक अभिव्यक्ति गुंडागर्दी और अपराधोन्मुखता में पायी जाती है।

विश्व-दृष्टिकोण का निर्माण

आरंभिक तरुणावस्था व्यक्ति के विश्व-दृष्टिकोण के निर्माण का निर्णायक दौर है। बेशक विश्व-दृष्टिकोण की बुनियाद बहुत पहले,

बचपन में ही पड़ जाती है। शुरूआत निश्चित नैतिक मूल्य, आदतें, राग-द्वेष, आदि के व्यवहार में प्रदर्शन से होती है, जो बाद में चेतना का अंग बनकर व्यवहार के निश्चित मानकों और सिद्धांतों में ढल जाते हैं। किंतु विकास के अपेक्षया ऊंचे स्तर पर पहुंचकर ही व्यक्ति को इन सिद्धांतों को एक ऐसी मूल्य-प्रणाली में रूपायित करने की आवश्यकता अनुभव होती है, जो परिवेशी जगत को समझने ही नहीं, उसका मूल्यांकन करने और उसके प्रति अपना रुख निर्धारित करने की भी संभावना देती है। इस सारी प्रक्रिया के साथ मूल्यों में संशोधन-परिवर्तन चलता रहता है, चाहे उनका संबंध परिवेशी जगत के किन्हीं पहलुओं से हो या अपने ही व्यवहार से।

विश्व-दृष्टिकोण के निर्माण का पहला सूचक ब्रह्मांड के सर्वाधिक सामान्य उसूलों और प्रकृति तथा मानव अस्तित्व के सार्विक नियमों को जानने की रुचि का बढ़ना है। यद्यपि कभी-कभी यह फ़लसफ़ेबाज़ी के बचकाने रूप ले लेता है, फिर भी उसके मूल में ढेर सारी विविध जानकारी और तथ्यों का, जो अब तक तरुण एकत्र कर चुका होता है, सामान्यीकरण करने की बुनियादी आवश्यकता ही निहित होती है। समाजविज्ञान के पाठ, विशेष विषयों की कक्षाएं और दर्शनशास्त्र संबंधी व्याख्यान व परिचर्चाएं ज्ञान को सुव्यवस्थित बनाने में काफ़ी सहायक हो सकते हैं।

विश्व-दृष्टिकोण के निर्माण का अर्थ संज्ञानमूलक क्रियाशीलता नहीं है। इस सारी प्रक्रिया में मुख्य स्थान बुनियादी सामाजिक-नैतिक समस्याओं का समाधान रखता है जो अधिकांशतः **जीवन के प्रयोजन** के प्रश्न को लेकर पैदा होती हैं। यह प्रश्न सामान्यतः एक आम, सार्विक फ़ार्मूले की अपेक्षा के तौर पर निरूपित किया जाता है। किंतु वास्तव में तरुण केवल और उतना इस प्रश्न का हल नहीं ढूंढता कि जैव और सामाजिक विकास की सामान्य दिशाएं क्या हैं, जितना इस प्रश्न का कि अपने जीवन को सामाजिक दृष्टि से सार्थक, सारयुक्त कैसे बनाये। इसीलिए जीवन के प्रयोजन का प्रश्न इतना अंतरंग प्रश्न, संवेगात्मक महत्त्व का प्रश्न बन जाता है और उसका कोई तैयारशुदा उत्तर नहीं होता है।

विश्व-दृष्टिकोण संबंधी खोजें यथार्थ के धरातल पर उतरकर जीवन विषयक योजनाओं का रूप ग्रहण कर लेती हैं। किशोरों के मामले में ये योजनाएं अभी अस्पष्ट होती हैं और उन्हें स्वप्नों से अलग नहीं किया जा सकता। किशोर अपनी विभिन्न भूमिकाओं में कल्पना करता है, उनके आकर्षण को तौलता है, किंतु अंतिम रूप से किसी एक को चुनने की हिम्मत नहीं कर पाता और जो सोचा है, उसे साकार बनाने के लिए भी कुछ नहीं करता। तरुण जितना ही बड़ा होगा, चयन की आवश्यकता वह उतनी ही प्रबलता से अनुभव करेगा। अनेकानेक कल्पित, अजीबोगरीब अथवा अमूर्त संभावनाओं में से शनैःशनैः कुछ सर्वाधिक वास्तविक और स्वीकार्य विकल्प उभरते जाते हैं, जिनके बीच से उसे किसी एक को चुनना होता है।

जीवन-योजना एक व्यापक अवधारणा है। उसमें व्यक्तिगत आत्मनिर्धारण का सारा क्षेत्र – नैतिक चरित्र, जीवन शैली, आकांक्षाओं का स्तर, व्यवसाय का रूप, आदि सब आ जाते हैं। स्पष्ट है कि बहुत सी बातें अत्यंत स्थूल रूप में ही उभर पाती हैं। उच्च कक्षाओं के छात्र के लिए सब से महत्त्वपूर्ण, तात्कालिक और कठिन पेशे का चयन होता है। मानसिक रूप से भविष्य की ओर उन्मुख और कल्पना में अधूरे चरणों को भी लांघ जाने को तैयार तरुण (विशेषतः दसवीं कक्षा के छात्र) के लिए स्कूल भीतर से बोझ सा बन चुका होता है ; स्कूली जीवन उसे अस्थायी, अवास्तविक और एक दूसरे, अधिक संपन्न, आकर्षित भी और थोड़ा सा भयभीत भी करनेवाले वास्तविक जीवन की देहरी सा लगता है। वह भली भांति समझता है कि इस भावी जीवन की अंतर्वस्तु सबसे पहले इसपर निर्भर होगी कि वह पेशे का चयन सही कर पायेगा या नहीं। तरुण कितना भी लापरवाह और बेफ़िक्र क्यों न लगे, पेशे के चयन की चिंता उसे अवश्य होती है।

सोवियत स्कूली छात्र, जो जानता भी नहीं कि प्रतिस्पर्द्धा और बेरोज़गारी क्या होती है, पेशे को जीवन-निर्वाह का साधन उतना नहीं मानता, जितना कि अपने जीवन का **उद्देश्य** अथवा कार्य-क्षेत्र, जिसमें वह अपनी योग्यताओं का अधिकतम उपयोग कर सकता है।

किंतु कठिनाई यह है कि तरुण अभी अपने लिए आकर्षक पेशों की यथार्थ विशेषताओं को बहुत कम जानते हैं और इन पेशों में कामगर से जो अपेक्षाएं होती हैं, उन्हें तथा अपनी अंतर्निहित क्षमताओं को भी ठीक तरह नहीं जानते। यही कई तरह के सामाजिक व मानसिक अंतर्विरोधों को जन्म देता है। विभिन्न पेशों की आकर्षकता के कारणों के विषय में समाजशास्त्रियों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में तरुण लड़के और लड़कियां सर्वप्रथम स्थान श्रम के सृजनात्मक स्वरूप को देते हैं, दूसरा स्थान पेशे के सामाजिक महत्त्व को और तीसरा स्थान वेतन को। किंतु जो उन्हें पेशे का "सृजनात्मक स्वरूप" लगता है, वह वास्तव में लोगों के बीच उस पेशे की परंपरागत प्रतिष्ठा का प्रतिबिंब मात्र होता है। इसी प्रकार बहुत से लड़के-लड़कियां सेवा उद्योग से संबंधित पेशों के बारे में जो उपेक्षाभरा और नकारात्मक रवैया व्यक्त करते हैं, वह भी कुछ वयस्कों के रवैये का ही प्रतिबिंब है।

दूसरा अंतर्विरोध इससे संबंधित है कि तरुण-तरुणियों की भारी बहुसंख्या स्कूल समाप्त करने के बाद आगे, उच्च शिक्षा संस्था में पढ़ाई जारी रखना चाहती है और आम तौर पर "बौद्धिक" पेशों को ही अपना लक्ष्य बनाती है। किंतु देश को वैज्ञानिक और इंजीनियर ही नहीं, कुशल मज़दूर, ट्रैक्टर चालक, वगैरह भी चाहिए और वैज्ञानिकों, इंजीनियरों की अपेक्षा बहुत बड़ी संख्या में। पेशे की अनुपमता का उसकी व्यापकता से विलोम संबंध है और यह पेशे की प्रतिष्ठा में व्यक्त होता है।

अयथार्थपरक, अत्यधिक महत्त्वाकांक्षा का अपरिहार्य परिणाम निराशा के रूप में सामने आता है, जो कभी-कभी अत्यंत कष्टकर हो सकती है। इसके बजाय कि अपने सामर्थ्य के अनुसार कोई पेशा चुनें, कतिपय लड़के-लड़कियां सालों तक उच्च शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश पाने की कोशिश करते रहते हैं, जिससे उनमें असफलों-अयोग्यों की मानसिकता पैदा हो जाती है। यही बात तब भी होती है, जब स्कूल अपने छात्रों को यथार्थ जीवन की कठिनाइयों और रोज़मर्रा के ढर्रे के लिए तैयार नहीं करता। स्कूल का कार्य तरुणों में पाये जानेवाले लचीलेपन और जीवन-क्षमता को इस्तेमाल करना है, ताकि वे भविष्य में आनेवाली कठिनाइयों पर विजय पाने के लिए तैयार रहें।

तरुण लड़के और लड़कियां पालन की निष्क्रिय वस्तु नहीं, बल्कि

जीवित, सृजनक्षम, अपने जीवन का सक्रिय ढंग से निर्माण करनेवाले लोग हैं। जैसे-जैसे वे वयस्क जीवन में, उसके सुख-दुखों में शामिल होते जाते हैं, वैसे-वैसे उनमें वयस्कता आती जाती है। पीढ़ियों के सातत्य का अर्थ यही है कि पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी को समाज की यथार्थ समस्याओं से परिचित कराये, उनका सरलीकरण न करे और छिपाये भी नहीं। तरुणों को अपने से बड़ों की सहायता और मार्गदर्शन, उनसे ज्ञान और अनुभव सीखने की ज़रूरत होती है और सदा रहेगी। पालन उतना ही ज़्यादा कारगर होगा, जितना ज़्यादा उसमें तरुणावस्था की विशेषताओं को ध्यान में रखा जायेगा और जितना ज़्यादा वह तरुणों की आकांक्षाओं तथा क्रियाशीलता पर अवलंबित होगा।

अध्याय ७

अधिगम का सारतत्त्व और शिक्षण के मनोवैज्ञानिक आधार

§१. अधिगम का सारतत्त्व और रूप

अधिगम की सामान्य संकल्पना

आयुगत विकास की प्रक्रिया में बच्चे के व्यवहार तथा सक्रियता में सभी आधारभूत परिवर्तन **अधिगम** से संबंध रखते हैं।

अधिगम, यानी सीखने की प्रक्रियाओं का सारतत्त्व क्या है और वे किस पर आधारित होती हैं? कुछ सामान्य उदाहरण दें। छात्र नहीं जानता कि सागर में ज्वार क्यों उठते हैं। उसे समझाया जाता है। इसके बाद वह सामग्री को पुस्तक में पढ़कर दोहराता है और जान जाता है कि ज्वार क्यों उठते हैं। तब कहते हैं कि छात्र ने सामग्री को हृदयंगम कर लिया है। आदमी स्केटिंग नहीं जानता, किंतु अभ्यास करने लगता है और जान जाता है। उसने स्केटिंग सीख ली है। उच्च शिक्षा संस्था का विद्यार्थी पहले वर्ष में अवकल समीकरण के सवाल हल करना नहीं जानता, किंतु तीसरे वर्ष में जान जाता है, यानी उसने अवकल समीकरण के सवाल हल करने की रीतियां सीख ली हैं। अधिगम के लिए बाह्य (शारीरिक) और आभ्यंतरिक (मानसिक) सक्रियता अथवा व्यवहार में ऐसे परिवर्तन आवश्यक हैं, जिनकी बदौलत कोई निश्चित लक्ष्य पाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, **अधिगम का अर्थ है बाह्य और आभ्यंतरिक सक्रियता (अथवा व्यवहार) में लक्ष्यानुरूप परिवर्तन।**

किंतु सक्रियता अथवा व्यवहार का हर कोई परिवर्तन, चाहे वह कितना ही लक्ष्यानुरूप क्यों न हो, अधिगम नहीं होता। उदाहरण के लिए, आदमी जब किसी अंधेरे कमरे में घुसता है, तो कुछ नहीं देख पाता। शनैःशनैः अंधेरा मानो छंट जाता है और आदमी वस्तुओं की

आकृतियां पहचानने लगता है। यह आंखों की संवेदनशीलता में स्वत:वृद्धि के परिणामस्वरूप होता है और दृष्टि के अंधेरे का आदी बनने (दृष्टि अनुकूलन) से संबंध रखता है। आंख की सक्रियता के ऐसे परिवर्तन को अधिगम नहीं कहा जा सकता। मनुष्य दृष्टि अनुकूलन सीखता नहीं – वह उसके दृष्टि तंत्र का एक जन्मजात शरीरक्रियात्मक गुण है।

इसका अर्थ हुआ कि सक्रियता अथवा व्यवहार का कोई लक्ष्यानुरूप परिवर्तन अधिगम कहलाये, इसके लिए इस परिवर्तन को शरीर के किन्हीं जन्मजात गुणों का नहीं, अपितु एक निश्चित पूर्वगामी क्रिया-कलाप का परिणाम होना चाहिए। अधिगम में थकान, चोट, बाह्य यांत्रिक प्रभाव, भूख, प्यास, पीड़ा, प्रगाढ़ अनुभूति, रासायनिक पदार्थों का प्रभाव और इसी तरह शारीरिक विकास से प्रत्यक्षत: संबंधित व्यवहार परिवर्तन नहीं शामिल किये जाते। सक्रियता अथवा व्यवहार में अल्पकालिक परिवर्तन भी अधिगम की कोटि में नहीं आते।

इस प्रकार **अधिगम सक्रियता का वह स्थायी, लक्ष्यानुरूप परिवर्तन है, जो पूर्वगामी सक्रियता के कारण आता है और सीधे जन्मजात शरीरक्रियात्मक प्रतिक्रियाओं का फल नहीं होता।**

अधिगम से संबंधित अनेक आधुनिक बुर्जुआ सिद्धांतों (व्यवहार-वादी सिद्धांतों) के अनुसार मनुष्य के अधिगम का स्वरूप, नियम, परिस्थितियां और तरीके उच्चतर प्राणियों के अधिगम से सादृश्य रखते हैं। मानस की भूमिका से इनकार करते हुए ये यांत्रिक सिद्धांत मानसिक प्रक्रियाओं को शरीरक्रियात्मक प्रक्रियाओं का और मनुष्य की सचेतन सक्रियता को परावर्ती व्यवहार का समतुल्य बताते हैं। उनके मत में, मनुष्य का अधिगम, जैसा कि जानवरों के मामले में होता है, किन्हीं निश्चित स्थितियों में संबल, दंड और पुरस्कार की बदौलत, अर्थात आवश्यकताओं की तुष्टि अथवा अतुष्टि की बदौलत कुछ निश्चित उद्दीपनों को ग्रहण करने और कुछ निश्चित प्रतिक्रियाएं दिखाने को शरीरक्रियात्मक प्रक्रिया है।

ऐसे उपागम के ज़रिये जानवरों के साथ किये गये प्रयोगों के परि-णाम सीधे शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र में लागू किये जाते हैं। इस प्रकार के सिद्धांतों के प्रतिपादक मनुष्य और जानवरों में अंतर कुछ अंशव्यापी

विशेषताओं में ही देखते हैं। उदाहरण के लिए, इसमें कि मनुष्य में शुद्ध गतिप्रेरकीय प्रतिक्रियाओं के अलावा **शाब्दिक प्रतिक्रियाएं** भी होती हैं और उसे गौण – शाब्दिक और प्रतीकात्मक – प्रेरक भी प्रभावित कर सकते हैं, अथवा मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं के अलावा **गौण आवश्यकताएं** – महत्त्वाकांक्षा, स्वार्थ, आदि – भी हो सकती हैं।

बुर्जुआ मनोविज्ञानवेत्ताओं का एक अन्य वर्ग इस बात पर ज़ोर देते हुए कि मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाएं शरीरक्रियात्मक प्रक्रियाएं नहीं हैं, बिल्कुल दूसरे ही चरम पर चला जाता है। ये वैज्ञानिक मनुष्य के अधिगम के जैविक, शरीरक्रियात्मक आधार को ठुकराकर उसे मात्र सीखनेवाले के मन में घट रही प्रक्रियाओं तक सीमित कर देते हैं। फलस्वरूप यह समझने की संभावना लुप्त हो जाती है कि सीखनेवाले के मानस, सक्रियता और व्यवहार में कोई निश्चित परिवर्तन क्यों आते हैं। तब केवल यही कहा जा सकता है कि सीखनेवाले ने कोई बात समझी है अथवा नहीं, सीख ली है अथवा नहीं, और इसका स्पष्टीकरण देने के लिए भी "इलहाम", "बुद्धि", "विवेक", आदि का ही सहारा लिया जा सकता है। इस प्रकार के सिद्धांत प्रत्ययवादी सिद्धांत हैं, जो अधिगम की परिघटनाओं के वैज्ञानिक विवेचन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त ठहरते हैं।

मानव अधिगम की प्रक्रिया की विशेषताएं

वास्तव में मनुष्य और जानवरों की उच्चतर तंत्रिका सक्रियता की **शरीरक्रियात्मक प्रक्रियाओं** और अधिगम तंत्रों की **साम्यता** इस तथ्य के विरुद्ध नहीं जाती कि मनुष्य और जानवरों की मानसिक सक्रिय-ताओं और अधिगम के स्वरूपों में **गुणात्मक अंतर** है। कठिनाई इसलिए पैदा होती है कि कुछ बुर्जुआ मनोविज्ञानवेत्ता अधिगम के शरीरक्रियात्मक आधारों की परिभाषा गलत ढंग से करते हैं और उसमें उच्चतर तंत्रिका सक्रियता और मस्तिष्क की **प्रतिबिंबनात्मक** (परावर्ती) और **नियामक** भूमिकाओं को ध्यान में नहीं रखते।

सबसे पहले तो यही ठीक नहीं है कि शरीर खुद उद्दीपनों और

प्रतिक्रियाओं को ही आत्मसात् करता है। मिसाल के लिए, स्वयं डंडा (उद्दीपक) कुत्ते के शरीर द्वारा आत्मसात् नहीं हो सकता। इसी प्रकार शरीर पर बाह्य प्रभाव (वार, ध्वनिक अथवा विद्युत-चुंबकीय दोलन) भी स्वयं आत्मसात् नहीं हो सकते। डंडे का अस्तित्व कुत्ते के लिए तथ्य (उद्दीपन) बने, इसके लिए उसका उसे देखना अथवा उसके वार को महसूस करना ज़रूरी है। कुत्ते के दौड़ने की वजह प्रत्यक्ष रूप से स्वयं डंडा नहीं होता। दूसरे शब्दों में, डंडे के गुणधर्मों और कुत्ते पर उसके प्रभावों को शारीर (किन्हीं इंद्रियों अथवा मस्तिष्क) की किन्हीं तंत्रिका क्रियाओं में प्रतिबिंबित होना चाहिए। इसका मतलब यह हुआ कि आत्मसात्करण स्वयं उद्दीपक का नहीं, अपितु उसके **मानसिक प्रतिबिंब** का होता है।

अपनी बारी में कुत्ते की पेशियां और भीतरी अंग सीधे ही डंडे की शक्ल पर प्रतिक्रिया नहीं कर सकते। संकुचित होने, कार्य-प्रणाली बदलने, आदि के लिए उन्हें गतियों का कार्यक्रम संप्रेषित करनेवाले तदनुरूप "आदेश" मिलने चाहिए। डंडे की शक्ल सीधे पेशियों को सक्रिय नहीं बनाती, अपितु कुत्ते के मस्तिष्क में कहीं बननेवाले पेशियों के संकुचन के एक निश्चित कार्यक्रम को जन्म देती है।

इस प्रकार अधिगम के शरीरक्रियात्मक सारतत्त्व की सही परिभाषा यों निरूपित की जा सकती है: **अधिगम केंद्रीय तंत्रिका सक्रियता द्वारा कुछ उद्दीपकों के प्रतिबिंबों का और उद्दीपन की स्थितियों एवं उनसे संबंधित कुछ निश्चित प्रतिक्रियाओं के कार्यक्रम का निर्माण है।**

इस परिभाषा के दृष्टिगत जानवरों और मनुष्यों के तो क्या, विभिन्न जानवरों के भी अधिगम की प्रक्रियाओं में न केवल साम्य, अपितु गुणात्मक अंतर भी होते हैं। वास्तव में बाह्य जगत की वस्तुएं – उद्दीपक – एक ही हो सकती हैं, किंतु मनुष्य के मामले में और, मिसाल के लिए, कुत्ते के मामले में वे भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिबिंबित होंगी। मनुष्य के मामले में इस प्रक्रिया में सामान्यीकरण, अमूर्तन और कारण-मूलक, लक्ष्यमूलक, मूल्यपरक और अन्य संबंधों की पहचान भाग लेते हैं, यानी चिंतन भाग लेता है। कुत्ते के मामले में ऐसा नहीं होता। इसलिए नहीं कि कुत्ते में सोचने की शक्ति नहीं है, बल्कि सबसे पहले

इसलिए कि उसकी कोई सामाजिक श्रम सक्रियता नहीं होती, जिसके लिए बाह्य जगत से संबंधित जानकारियों के संश्लेषण-विश्लेषण के विशिष्ट तरीकों की ज़रूरत होती है और साथ ही जो ऐसी जानकारियां पैदा भी करती है। अतः जो प्रतिबिंबित होता है, **वह** भी सर्वथा भिन्न होता है। कुत्ते के मस्तिष्क में वस्तुओं के मात्र वे गुणधर्म प्रतिबिंबित होते हैं, जो इंद्रियों पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं और **क्षोभक** का काम करते हैं। मनुष्य के मानस में सबसे पहले वस्तुओं के यथार्थ भौतिक **गुणधर्म** प्रतिबिंबित होते हैं। इन गुणधर्मों को सामाजिक अनुभव के अनुसार गुण, परिमाण, आकार, प्रयोजन, आदि कोटियों में वर्गीकृत किया जाता है। कुत्ते के मामले में ऐसा फिर इसलिए नहीं हो सकता कि वह ऐसी कोई सक्रियता नहीं करता, जिसके लिए गुणधर्मों की ऐसी कोटियां महत्त्व रखती हों।

अंत में, मनुष्य और जानवरों के **व्यवहार कार्यक्रम** भी काफ़ी भिन्न होते हैं। जानवरों के मामले में वे निश्चित क्षोभों के संबंध में शरीर के सहज, शारीरिक आवश्यकताओं द्वारा नियंत्रित उत्तर होते हैं, जिन्हें **प्रतिवर्त** कहा जाता है। मनुष्य के मामले में वे **चेतनाधारित, सोद्देश्य, सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा नियंत्रित और सामाजिक व्यवहार द्वारा नियमित कार्य होते हैं।** इन सब अंतरों को व्यक्त करने के लिए, उद्दीपक नाम केवल क्षोभकों के लिए छोड़ा जा सकता है, जो शरीर पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालते हैं (जैसे रूप, रंग, गंध, ध्वनि, आदि)। **जानकारी** नाम वस्तुओं के गुणधर्मों के प्रतिबिंबों को दिया जाता है, जिन्हें वस्तुपरक सामाजिक अनुभव की कोटियों में वर्गीकृत किया गया है (जैसे गुण, प्रयोजन, संरचना, मूल्य, मूल, आदि)। इसी के अनुरूप, **प्रतिक्रिया** नाम से शरीर के सहज, प्रतिवर्ती उत्तरों को पुकारा जाता है। किंतु जो चेतनाधारित, सोद्देश्य कार्य होते हैं, उन्हें **क्रियाएं** और इसी प्रकार के व्यवहार के कार्यों को **आचरण** नाम दिया जाता है।

इस प्रकार मनुष्य के संबंध में अधिगम के सारतत्त्व को यों परिभाषित किया जा सकता है: **अधिगम मनुष्य द्वारा निश्चित जानकारियों और निश्चित परिस्थितियों में इन जानकारियों द्वारा आवश्यक बनायी गयी क्रियाओं व आचरण का आत्मसात्करण है।**

आसानी से देखा जा सकता है कि इस प्रकार से परिभाषित किये जाने पर अधिगम अपने स्वरूप, अंतर्वस्तु और परिणाम की दृष्टि से जानवरों के अधिगम से बहुत भिन्न है। मनुष्य के अधिगम और जानवर के अधिगम के बीच विद्यमान इस अंतर को व्यक्त करने के लिए विभिन्न संकल्पनाएं प्रयोग की जाती हैं। यदि अधिगम निश्चित उद्दीपकों तथा प्रतिक्रियाओं के आत्मसात्करण में प्रकट होता है, तो उसे **अधिगम का परावर्ती स्तर** कहते हैं। यदि वह निश्चित जानकारियों और क्रियाओं (तथा आचरण) के आत्मसात्करण में प्रकट होता है, तो तब उसे **संज्ञानात्मक स्तर** कहा जाता है।

संज्ञानात्मक स्तर पर **अधिगम की परिस्थितियों** में गुणात्मक परिवर्तन आ जाता है।

इन बुनियादी अंतरों में से पहले का उल्लेख रूसी शरीरक्रिया-विज्ञानी, उच्चतर तंत्रिका सक्रियता विषयक सिद्धांत के प्रणेता इ० प० पाव्लोव (१८४८-१९३६) ने ही कर दिया था। मनुष्य की उच्चतर तंत्रिका सक्रियता पर यथार्थ संकेतों – स्वयं वस्तुओं के प्रभावों – के अलावा एक अन्य प्रकार के संकेत भी प्रभाव डालते हैं। ये हैं **शब्द।** उदाहरण के लिए, यदि मनुष्य में बिजली के झटके से युक्त प्रकाश का अनुकूलित प्रतिवर्त (उंगली हटाना) विकसित हो जाये, तो स्वयं "प्रकाश" शब्द मनुष्य में वही प्रतिवर्त पैदा कर देगा, यानी उंगली अनजाने ही हट जायेगी। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य के मामले में संकेतों का, जो कि संबंध बना सकते हैं, प्रभाव-क्षेत्र कहीं व्यापक है। वस्तुओं और गुणधर्मों के बदले उनके द्योतक शब्द सोपाधिक संकेतों के तौर पर काम कर सकते हैं। अधिगम के दौरान न केवल "वस्तु – वस्तु" संबंध, बल्कि "शब्द – वस्तु", "वस्तु – शब्द" और "शब्द – शब्द" संबंध भी पैदा होते हैं, यानी शब्द बाह्य जगत के यथार्थ प्रभावों के समान ही मनुष्य के अधिगम और क्रियाओं का संचालन करने लग जाता है।

संबल की भूमिका भी काफ़ी बदल जाती है। जानवरों के मामले में उसका शरीरपरक स्वरूप होता है, यानी वह निश्चित शारीरिक आवश्यकताएं तुष्ट करता है। किंतु मनुष्य के मामले में अनगिनत

समाजजन्य आवश्यकताएं पैदा हो जाती हैं : टेलीविजन और अच्छी पोशाक की आवश्यकता से लेकर सामाजिक मान्यता की आवश्यकता अथवा अपने जीवन, भलाई, सौंदर्य, सत्य, आदि के बारे में सोचने की आवश्यकता तक। हर संकेत (शब्द, वस्तु, घटना), जो कि इन आवश्यकताओं की तुष्टि करनेवाली क्रियाओं अथवा आचरण से संबंधित है, संबल बन सकता है।

मनुष्य के मामले में क्रियाशीलता के, जिसकी मदद से क्रियाओं के नये कार्यक्रम खोजे जाते हैं और बनते है, स्वरूप में भी बुनियादी परिवर्तन आ जाता है। पहले तो मनुष्य की क्रियाशीलता का **उद्देश्य अभीप्सित भविष्य के बौद्धिक बिंब के रूप में** विद्यमान रहता है। दूसरे, क्रियाओं के कार्यक्रम का निर्माण सहज पूर्वाभासकारी प्रतिक्रियाओं और प्रयत्न-त्रुटि पद्धति के ज़रिये उनके संशोधन के रूप में नहीं, अपितु क्रियाओं के सचेतन आयोजन और उनके परिणामों की पूर्वकल्पना के रूप में प्रकट होता है। तीसरे, अधिगम में सहायक पुरस्कार का काम केवल किन्हीं आवश्यकताओं (चाहे वे गौण ही क्यों न हों) की तुष्टि नही, बल्कि स्वयं इस बात की चेतना भी कर सकती है कि उद्देश्य पा लिया गया है।

अधिगम का बौद्धिक स्तर

अंततः, मनुष्य के मामले में यथार्थ जगत के **संबंधों का दायरा,** जिसे अधिगम के परिणामस्वरूप आत्मसात् किया जाता है, इन संबंधों के **प्रतिबिंबन के रूप,** अधिगम के **उद्देश्य, आत्मसात्कृत क्रियाओं के प्रकार** और उनकी सहायता से निष्पादित **कृत्यकों का स्वरूप** भी आमूल बदल जाता है।

जैसा कि बहुसंख्य प्रयोग दिखाते हैं, जानवर दिक् और काल में वस्तुओं के कुछेक **भौतिक** संबंधों को और **ऐंद्रिक संबंधों,** यानी वस्तुओं द्वारा उत्पन्न अनुभूतियों की साम्यता और भेद को ही जान और आत्मसात् कर पाते हैं। किंतु मनुष्य **तार्किक** संबंधों (विशिष्ट और सामान्य के, मूर्त और अमूर्त के, रूप और जाति के, आधारिका और निष्कर्ष के संबंधों) को और **कार्यात्मक** संबंधों (उद्देश्य – साधन, कारण –

परिणाम, परिमाण – गुण, क्रिया – फल) को भी जान और आत्मसात् कर लेता है।

संज्ञानात्मक अधिगम के ऐसे स्तर को, जिसमें वस्तु और क्रियाओं के कतिपय ऐंद्रिक मूर्त संबंध नहीं, अपितु सामान्य वस्तुपरक संबंध, संरचनाएं और यथार्थ अथवा सक्रियता के संबंध प्रतिबिंबित होते हैं, **बौद्धिक अधिगम** कहा जाता है। इस प्रकार के संबंध ऐंद्रिक नहीं होते। वे अनुभूतियों में सीधे प्रतिबिंबित नहीं होते। उनके प्रतिबिंबन के लिए मनुष्य ने वास्तविकता के प्रतिबिंबन का एक नया, विशेष रूप खोजा है, जिसे जानवर नहीं जानते। यह है **संकल्पनाएं।** जैसा कि ल० स० विगोत्स्की ने दिखाया था, संकल्पनाएं वस्तुओं के इंद्रियगोचर लक्षणों का उनके बाह्य सामीप्य अथवा साम्य के आधार पर सामान्यीकरण नहीं है। ऐसे सामान्यीकरणो को अधकचरी संकल्पनाएं ही कहा जा सकता है, जिनसे बच्चों का चिंतन आरंभ होता है और जिन तक रोज़मर्रे का प्रकट तथा मूर्त चिंतन सीमित रहता है। असली वैज्ञानिक संकल्पनाएं वस्तुओं और परिघटनाओं के महत्त्वपूर्ण वस्तुपरक संबंधों, संरचनाओं को प्रतिबिंबित करती हैं। वे मानो वस्तुओं के स्थूल दिक् तथा काल संबंधी और ऐंद्रिक संबंधों से भी गहरे पैठकर इन स्थूल बाह्य संबंधों के सार को व्यक्त करती हैं।

इस प्रकार रोज़मर्रे की अधकचरी संकल्पना "प्रकाश" किसी दीप्तिमान, अंधकार की विलोम चीज़ की, उस सामान्य की, जो प्रकाश से संबंधित प्रत्यक्षों को संयुक्त बनाता है, सामान्यीकृत धारणा होती है। किंतु ४०० से ८०० मिलिमाइक्रोन दैर्घ्यवाली विद्युत-चुंबकीय तरंगों जैसे प्रकाश की असली वैज्ञानिक संकल्पना में कुछ भी स्थूल तत्त्व नहीं होता। वह उन यथार्थ प्रक्रियाओं की संरचनाओं को प्रतिबिंबित करती है, जो इस कल्पना में संयुक्त हैं।

मनुष्य ने इन परिघटनाओं एवं वस्तुओं के ऐसे यथार्थ संबंधों, संरचनाओं और गुणधर्मों को द्योतित करने के लिए एक विशेष **संकेत प्रणाली** बनायी है। यह **भाषा** है, यानी शब्द और वाक्यों में उन्हें परस्पर संबद्ध करने की रीतियां। इस प्रकार शब्दों, भाषा के रूप में लोगों को एक ऐसा साधन, उपकरण मिला है, जो संज्ञान और अधिगम को ऐंद्रिक अनुभव और मूर्त रूप से प्रत्यक्षित अलग-अलग वस्तुओं से

चिपके रहने से छुटकारा मिलता है और मानस को वस्तुओं के अपने आपमें सामान्य संबंधों तथा संरचनाओं को प्रतिबिंबित व अंकित करने की संभावना प्रदान करता है। किंतु शब्द किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं, अपितु सारे समाज द्वारा (बेशक कुछ लोगों की रचनाओं में) बनाये जाते हैं। वे सारे समाज द्वारा संचित ज्ञान और अनुभव को प्रतिबिंबित करते हैं। इसलिए मनुष्य द्वारा शब्दों से द्योतित संकल्पनाओं का आत्मसात्करण साथ ही मानवता द्वारा अपनी सक्रियता के दौरान संचित ज्ञान का आत्मसात्करण भी है। शब्दों में समाज का वस्तुजगत के प्रति रवैया भी व्यक्त होता है।

इस प्रकार ज्ञान अपने उच्चतर स्तर पर शब्दों और शब्दसमूहों मे अंकित **संकल्पनाओं और संकल्पना-संबंधों** का रूप लेता है। ज्ञान का अधिगम इस स्तर पर **वैज्ञानिक संकल्पनाओं के अधिगम** के रूप में सामने आता है।

मनुष्य को उन वस्तुपरक संबंधों का ज्ञान कैसे होता है, जिन्हें प्रत्यक्षतः अनुभव नहीं किया जा सकता? इसका उत्तर संज्ञान का द्वंद्वात्मक भौतिकवादी लेनिनीय सिद्धांत देता है: मनुष्य को इन संबंधों का ज्ञान **व्यवहार से, अपनी सक्रियता के ज़रिये** होता है। वस्तुओं पर काम करते हुए वह उन्हें अपने प्रच्छन्न महत्त्वपूर्ण संबंध उद्घाटित करने के लिए बाध्य करता है। खास बात यह है कि मनुष्य निश्चित क्रियाएं वस्तुओं पर ही नहीं कर सकता, अपितु अपने मानस की अंतर्वस्तु – धारणाओं और संकल्पनाओं – पर भी कर सकता है। ऐसी प्रात्ययिक क्रियाएं, जो स्वयं वस्तुओं पर व्यावहारिक क्रियाओं से भिन्न हैं, **बौद्धिक अथवा मानसिक क्रियाएं** कहलाती हैं। क्रियाओं को प्रत्यय के धरातल पर लाने और उसमें धारणाओं तथा संकल्पनाओं से काम लेने की प्रक्रिया **चिंतन** के ज़रिए संपादित की जाती है। चिंतन सदा किसी निश्चित प्रश्न के समाधान की ओर लक्षित होता है।

इस प्रकार छात्र संकल्पनाएं बना सके और उनसे सफलतापूर्वक काम ले सके, इसके लिए अधिगम का एक और रूप आवश्यक है – **वैज्ञानिक चिंतन।**

मनुष्य की समस्त बौद्धिक सक्रियता का अंतिम लक्ष्य उत्पादक श्रम तथा सामाजिक व्यवहार द्वारा उसके सामने पेश की गयी विभिन्न

जटिल समस्याओं को सफलतापूर्वक हल करना होता है। प्रकृति और समाज में मनुष्य की लक्ष्यानुरूप सक्रियता तथा व्यवहार को केवल ऐसी हालत में ही नियमित किया जा सकता है। इस लक्ष्य को पाने के लिए ज्ञान और संकल्पनाओं के उपयोग के ज़रिये प्राप्त प्रात्ययिक समाधानों को ठोस वस्तुओं, स्थितियों और कार्यभारों के अनुरूप व्यावहारिक क्रियाओं में साकार बनाना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में जो कार्य किया जा रहा है, उसमें ज्ञान को लागू करना, ठोस कृत्यकों के निष्पादन के लिए ज्ञान से लाभ उठाना, यानी **योग्यता-अर्जन** भी आवश्यक है।

इस प्रकार बौद्धिक अधिगम अपने सर्वोच्च रूप में पूर्ण तभी कहा जा सकता है, जब उसमें योग्यता-अर्जन भी शामिल हो।

अधिगम का बहुस्तरीय स्वरूप

उल्लेखनीय है कि मनुष्य में अधिगम के उच्चतर प्ररूपों (संज्ञानात्मक प्ररूपों) के साथ-साथ परावर्ती प्ररूप के तंत्र भी सक्रिय रहते हैं। परावर्ती अधिगम एक स्वतः और अजाने संपन्न होनेवाली प्रक्रिया है। उसके तंत्र बाल्यकाल में विशेषतः बड़ा महत्त्व रखते हैं, जब बुनियादी संवेदी विभेदन (रंगों, आकृतियों, ध्वनियों, आदि को पहचानने की क्षमता), गतिप्रेरक क्रियाएं (चलना, बोलना, लिखना) और संवेदी-गतिप्रेरक समन्वय (वस्तुओं तक पहुंचना और अन्यत्र रखना, चलते हुए बाधाएं लांघना, बोलकर पढ़ना, आदि) विकसित होते हैं। किंतु वे मनुष्य के शेष जीवन में भी कार्य करते रहते हैं। उदाहरण के लिए, हमें इसका सचेत बोध विरले ही होता है कि वस्तुओं को हम किन लक्षणों से पहचानते हैं अथवा किसी कार्य को करते हुए हम किन पेशियों से और कैसे काम लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि संवेदी और प्रेरक विभेदन, सामान्यीकरण और वर्गीकरण की परावर्ती प्रक्रियाएं प्रत्यक्षों, धारणाओं और विभिन्न प्रेरक कार्यक्रमों के निर्माण में भाग लेते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य का अधिगम एक जटिल बहुस्तरीय प्रक्रिया है, जो **परावर्ती** स्तर पर ही संपन्न होती है और **संज्ञानात्मक** स्तर पर भी।

परावर्ती स्तर पर यह प्रक्रिया काफ़ी हद तक अजाने, स्वतः

चलनेवाली प्रक्रिया है। उसके दौरान खोजें की जाती हैं, प्रयत्न होते हैं, त्रुटियां होती हैं। संबल और पुरस्कार के ज़रिये गतियों तथा क्रियाओं के ऐंद्रिक संकेतों का सामान्यीकरण, विभेदीकरण और वर्गीकरण उसके आधार का काम करते हैं। आवश्यकताएं और संवेग इन संकेतों का नियंत्रण करते हैं। परावर्ती स्तर में दो प्रकार के अधिगम शामिल हैं: **संवेदी** अधिगम, जिसके दौरान विभिन्न ऐंद्रिक संकेतों और प्रत्यक्षों के बीच विभेद बनता है और प्रेक्षण, मालूम करने और पहचानने की प्रक्रियाएं विकसित होती हैं; **गतिप्रेरक** अधिगम, जिसके दौरान गति-निष्पादन की रीतियों का चयन तथा संघटन, लक्ष्यानुरूप गतिप्रेरक कार्यक्रमों का आत्मसात्करण, उनका विभेदीकरण, सामान्यीकरण और वर्गीकरण किया जाता है। इन दोनों का संश्लिष्ट रूप **संवेदी-गतिप्रेरक अधिगम है**, जिसके दौरान प्रत्यक्षों और धारणाओं के नियंत्रण में लक्ष्यानुरूप क्रियाओं के निष्पादन की स्वतःक्रिय रीतियां सीखी जाती हैं। अधिगम के इन तीनों तरीकों के परिणाम **संवेदी, गतिप्रेरक और संवेदीगतिप्रेरक दक्षताओं** के रूप में प्रकट होते हैं।

अधिगम के संज्ञानात्मक स्तर की विशेषता है वास्तविकता के महत्त्वपूर्ण गुणधर्मों तथा संबंधों तथा लक्ष्यानुरूप क्रिया-रीतियों की सचेतन रूप से खोज, विश्लेषण, चयन, सामान्यीकरण तथा स्थिरीकरण और इन गुणधर्मों तथा संबंधों का इस्तेमाल।

प्रयोग और प्रेक्षण, अवबोध और मनन, अभ्यास और आत्मनि-यंत्रण – ये अधिगम की क्रमिक सीढ़ियां हैं। इनका नियमन सचेतन ढंग से अपने सामने रखे गये उद्देश्य और कार्यभार करते हैं। संज्ञानात्मक स्तर में अधिगम के दो उपस्तर भी पाये जाते हैं। उनमें पहला है ऐंद्रिक अनुभव के आधार पर **व्यावहारिक अधिगम**। उसमें उन **वास्तविक जानकारियों का अर्जन और व्यावहारिक संक्रियाओं एवं क्रियाओं का सीखना** शामिल हैं, जो कुछ वर्गों के कृत्यकों के निष्पादन के लिए आवश्यक होती हैं। इस उपस्तर पर **धारणाओं और व्यावहारिक योग्य-ताओं** का निर्माण होता है। संज्ञानात्मक अधिगम का दूसरा, अधिक ऊंचा उपस्तर है **बौद्धिक अधिगम**, यानी जब मनुष्य वस्तुजगत के यथार्थ गुणधर्मों से संबंधित सामान्यीकृत **सैद्धांतिक ज्ञान** को और उन **प्रात्ययिक संक्रियाओं** (एवं क्रियाओं) को हृदयंगम करता है, जो कुछ खास

प्रकार के कृत्यकों का निष्पादन करते हुए वस्तुजगत के इन गुणधर्मों को पहचानने एवं उपयोग में लाने के लिए आवश्यक हैं। इसके अनुरूप इस उपस्तर में संकल्पनाओं का अधिगम, चिंतन का अधिगम और सैद्धांतिक योग्यताओं का अधिगम शामिल किये जाते हैं।

कहना न होगा कि अधिगम के उपरोक्त स्तरों और रूपों का विभाजन कुछ हद तक कृत्रिम है। व्यावहारिकतः अधिगम के दौरान वे सभी घनिष्ठ रूप से अंतर्गुंफित और परस्पर संबद्ध रहते हैं। फिर भी उनमें से प्रत्येक की कुछ पृथक् विशेषताएं होती हैं। इसके अलावा ये स्तर अधिगम की विकासात्मक सीढ़ियों के रूप में भी काम करते हैं। बच्चा जितना ही अल्प आयु का होगा, अधिगम के निम्नतर स्तर और रूप उतनी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायेंगे। इसी तरह बच्चा जितना ही बड़ा होगा, अधिगम के उच्चतर स्तर और रूप उतना ही ज़्यादा महत्त्व ग्रहण करते जायेंगे।

किंतु पूर्ववर्ती स्तर लुप्त नहीं हो जाते, अपना महत्त्व नहीं खो देते। वे केवल अधिक ऊंचे प्रकार के अधिगम के मातहत हो जाते हैं और उसकी संरचना में शामिल होना शुरू कर देते हैं। उदाहरणार्थ, संज्ञानात्मक अधिगम के सर्वोच्च स्तरों में (जैसे उच्च गणित पढ़ते हुए) उसमें वास्तविक तथ्यों का आत्मसात्करण भी शामिल होता है और कुछ खास नयी व्यावहारिक क्रियाओं को हृदयंगम करना भी। यहां तक कि उसमें नये प्रत्यक्षों (आकृतियों, रेखा-चित्रों, चिह्नों) और गतिप्रेरक विभेदनों (फ़ार्मूले लिखना, वक्र खींचना) का विकास भी सम्मिलित रहता है।

§२. शिक्षा सक्रियता का मनोविज्ञान

अधिगम स्वतःस्फूर्त हो सकता है, अन्य लोगों और परिवेशी विश्व के साथ मनुष्य के संसर्ग और अन्योन्यक्रिया का परिणाम हो सकता है। आदमी संयोगवशात् – पुस्तकों, पत्रिकाओं, रेडियो व टेलीविजन कार्यक्रमों, अन्य लोगों की बातों, स्वयं अपने प्रेक्षणों, आदि से – निश्चित सूचनाएं और जानकारियां प्राप्त कर सकता है। विभिन्न प्रकार के क्रियाकलाप में भाग लेकर और विभिन्न वस्तुओं, उपकरणों, यंत्रों के

साथ क्रियाएं करने का अनुभव संचित करके मनुष्य अनियोजित ढंग से कोई दक्षताएं और योग्यताएं अर्जित कर सकता है। उदाहरण के लिए, प्रयत्न, अनुकरण, परामर्श, निर्देशों के पठन, आदि के आधार पर मनुष्य फ़ोटोग्राफ़ी, टेप-रिकार्डिंग, स्कीइंग, फ़र्नीचर तथा बिजली उपकरणों की मरम्मत सीख सकता है, उनमें दक्ष बन सकता है। ठीक इसी तरह काफ़ी हद तक स्वतःस्फूर्त ढंग से बच्चा भी अपने अंगों की गतियों को समन्वित करना सीखता है और व्यवहार संबंधी दक्षताएं हासिल करता है।

इस प्रकार की अन्योन्यक्रिया के फलस्वरूप होनेवाले अधिगम को **सांयोगिक अधिगम** कहा जा सकता है। किंतु अधिगम की स्थितियां विशेष रूप से भी बनायी व संगठित की जा सकती हैं। इस हालत में अधिगम **लक्ष्यानुरूप, संगठित और दिशापरक** होगा। अधिगम के इस प्रकार लक्ष्योन्मुख संगठन को **शिक्षण** कहते हैं। ऐसे संगठन की एक आम मिसाल स्कूल है। किंतु शिक्षण स्कूल में ही नहीं दिया जाता। वह किंडरगार्टन में भी दिया जाता है, जब बच्चों को, मिसाल के लिए, कपड़ों को ठीक से रखना, तसवीरें बनाना, वग़ैरह सिखाते हैं, अथवा परिवार में, जब बच्चे को दांत साफ़ करना सिखाते हैं अथवा समूह में, जब बच्चे मिल-जुलकर खेलने के नियम सीखते हैं।

शिक्षण की संकल्पना

शिक्षण क्या है? आम तौर पर इसका उत्तर कुछ यों दिया जाता है : शिक्षण छात्र को कुछ निश्चित जानकारियां देने, योग्यताएं और दक्षताएं सिखाने को कहते हैं। पहली नज़र में यह परिभाषा सही ही है। वास्तव में, शिक्षण से पहले मनुष्य में किसी क्षेत्र अथवा विषय से संबंधित ज्ञान, योग्यताओं और दक्षताओं का अभाव होता है। शिक्षण के बाद वे प्रकट हो जाते हैं। वे कहां से आते हैं? अध्यापक से, जो ये जानकारियां, योग्यताएं और दक्षताएं जानता है और उन्हें छात्र को अंतरित करता है। अंतरण की यह प्रक्रिया ही शिक्षण है। किंतु प्रत्यक्षों, धारणाओं, संकल्पनाओं और चिंतन की भांति ज्ञान, योग्यताएं और दक्षताएं भी कोई भौतिक वस्तु तो हैं नहीं कि उन्हें

एक आदमी से दूसरे आदमी को अंतरित अथवा एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क में "उंडेला" जा सके। ज्ञान, योग्यताएं और दक्षताएं मनुष्य के मानस में प्रतिबिंबनात्मक (परावर्ती) और नियामक प्रक्रियाओं के रूप और परिणाम होते हैं। इसका अर्थ है कि वे मनुष्य के मस्तिष्क में केवल उसकी अपनी सक्रियता के फलस्वरूप पैदा हो सकते हैं। उन्हें पाया नहीं जा सकता। उन्हें स्वयं छात्र की मानसिक सक्रियता की उपज और इस सक्रियता के निश्चित रूप होना चाहिए। यदि छात्र में ऐसी सक्रियता नहीं है, तो उसमें कोई भी ज्ञान, योग्यताएं और दक्षताएं प्रकट नहीं होंगी। इस तथ्य को हर अध्यापक अपने निजी अनुभव से भली भांति जानता है, यद्यपि उसे इसका हमेशा सही अहसास नहीं होता, खास तौर से जब वह "मानसिक सक्रियता के अभाव" के स्थान पर "असावधानी", "आलस्य", "अक्षमता" जैसे मूल्यांकनपरक शब्द इस्तेमाल करने लगता है।

फलस्वरूप शिक्षण में "अध्यापक – छात्र" संबंध "प्रेषित्र – अभिग्राही" संबंध नहीं हो सकता। उसमें दोनों ही पक्षों की सक्रियता आवश्यक है। इस प्रकार के संबंध को **अन्योन्यक्रिया** कहते हैं। तो शिक्षण की अधिक सटीक परिभाषा यों होगी: **शिक्षण सिखानेवाले और सीखनेवाले की अन्योन्यक्रिया की प्रक्रिया है, जिसके फलस्वरूप सीखनेवाले में निश्चित ज्ञान, योग्यताओं और दक्षताओं का विकास होता है।** यह विकास तभी संभव होगा, जब अध्यापक की क्रियाएं (प्रभाव) छात्र में एक निश्चित शारीरिक और मानसिक सक्रियता उत्पन्न करेंगी।

जिन बाह्य प्रभावों के कारण शरीर की एक निश्चित जवाबी सक्रियता उत्पन्न होती है, उन्हें **उद्दीपन** कहते हैं। जिन बाह्य प्रभावों के परिणामस्वरूप कोई निश्चित, पूर्वनिर्धारित उद्देश्य पाया जाता है, उन्हें **संचालन** कहते हैं। अतः शिक्षण को यों परिभाषित किया जा सकता है: **वह छात्र की बाह्य व आभ्यंतरिक क्रियाशीलता के उद्दीपन व संचालन की प्रक्रिया है, जिसके फलस्वरूप उसमें निश्चित ज्ञान, योग्यताओं और दक्षताओं का विकास होता है।**

शिक्षण ऐसी क्रियाशीलता के लिए आवश्यक परिस्थितियां बना सकता है, जैसे छात्र की सक्रियता को संगठित करना, उसका निदेशन व नियंत्रण करना, उसके लिए आवश्यक साधन व सूचनाएं मुहैया

करना। किंतु मनुष्य के ज्ञान, योग्यताओं, दक्षताओं, संकल्पनाओं, चिंतन, क्रियाओं और व्यवहार का जन्म व विकास उसकी अपनी सक्रियता के परिणामस्वरूप ही हो सकता है।

ज्ञान, योग्यताओं और दक्षताओं के विकास के लिए छात्र में कौन सी क्रियाशीलता पैदा करनी चाहिए और उसे कैसे निदेशित करना चाहिए? इन विकासशील साधनों का प्रयोग किन सिद्धांतों पर आधारित होना चाहिए? अधिकतम प्रभावी बनाने के लिए शिक्षण को कैसे संगठित किया जाना चाहिए और शिक्षण का सार क्या होना चाहिए? इन सब प्रश्नों का उत्तर इस पर निर्भर है कि पहले इस मुख्य समस्या को कैसे हल किया जायेगा: छात्र की कौन सी बाह्य और आभ्यंतरिक सक्रियता उसके ज्ञान, योग्यताओं और दक्षताओं में प्रतिबिंबित होती है और उन्हें जन्म देती है?

आनुषंगिक अधिगम और सप्रयोजन प्रशिक्षण

तो छात्र की कौन सी सक्रियता अधिगम का स्रोत है? अध्ययन दिखाते हैं कि सामान्यतः यह भूमिका कोई भी सक्रियता अदा कर सकती है। शिशु की अभिविन्यासात्मक और अन्वेषणात्मक सक्रियता, वस्तुओं को पकड़ना व उलटना-पलटना, रेंगना और चलना उसे अंगों की गतियों को समन्वित करना, परिवेशी जगत में अभिविन्यस्त होना सिखाते हैं, वस्तुओं के गुणधर्मों से अवगत कराते हैं और प्रत्यक्षों का निर्माण करते हैं। क्रियात्मक और संप्रेषणात्मक व्यवहार, वस्तुओं के प्रयोग और बोली से बच्चा वस्तुओं के प्रयोजन, कार्य और उपयोग-रीतियों का ज्ञान पाता है। वे वस्तुओं और क्रियाओं के सामाजिक प्रयोजन के बारे में उसकी धारणाएं बनाते हैं और उसे उनका वर्गीकरण करना तथा शब्दों द्वारा इंगित करना सिखाते हैं। दूसरे शब्दों में, वे उसे सोचना सिखाते हैं। खेल बच्चे को ये प्रयोजन अपनी क्रियाओं में साकार बनाना और अपना व्यवहार उनके मातहत बनाना, यानी विचारों तथा इच्छा-शक्ति का नियमन करना सिखाते हैं। अंत में, श्रम और परिवेश से संसर्ग, पढ़ना और जन-सूचना माध्यम (रेडियो, टेलीविजन, आदि) निरंतर, जीवनभर आदमी को नयी-नयी जानकारियों,

योग्यताओं, दक्षताओं, आदतों, सोचने के तरीकों, व्यवहार के रूपों, व्यावहारिक और वाक्-संबंधी क्रियाओं की प्रणालियों से समृद्ध बनाते हैं।

सक्रियताओं और व्यवहार के इन सभी रूपों की विशेषता यह है कि इनमें अंत-परिणाम – सामाजिक अनुभव का आत्मसात्करण – सक्रियता और व्यवहार के ही प्रत्यक्ष उद्देश्य से मेल नहीं खाता। बच्चा वस्तुओं को उलटता-पलटता अथवा उनसे खेलता इसलिए नहीं कि कुछ सीखा जाये। जब वह पहले डग भरता है अथवा पहले शब्द बोलता है, उसका उद्देश्य चलना या बोलना सीखना नहीं होता। उसकी क्रियाएं टोह लेने, सक्रिय बनने, वस्तुएं हासिल करने, परिवेश को प्रभावित करने की अपनी कुछ निश्चित आवश्यकताओं की तुष्टि की ओर लक्षित होती हैं। दूसरे शब्दों में वे लक्ष्य या उद्देश्य न होकर आवश्यकताओं की तुष्टि का साधन होती हैं। इसी प्रकार किसी मशीन को चलानेवाले मज़दूर का उद्देश्य एक निश्चित क्वालिटी के एक निश्चित उत्पाद को बनाना होता है। किंतु इसके दौरान होनेवाले दक्षताओं तथा नियामक प्रक्रियाओं के परिष्कार को उद्देश्य नहीं, समानांतर परिणाम कहा जायेगा।

इतर उद्देश्यवाली सक्रियता के दौरान होनेवाला अधिगम **सांयोगिक अथवा आनुषंगिक** अधिगम कहलाता है। उसके अस्तित्व की पुष्टि जीवन से भी होती है और मनोविज्ञानवेत्ताओं के प्रयोगों से भी। एक प्रयोग में स्कूली बच्चों को वस्तुओं के चित्रोंवाले कार्डों को अलग-अलग समूहों में विभाजित करना था। हर कार्ड पर एक संख्या भी लिखी थी। प्रयोग के एक विकल्प में कार्डों को बनी वस्तुओं के साम्य के अनुसार रखना था और दूसरे विकल्प में ऐसे कि उनपर बनी संख्याएं बढ़ते क्रम में हों। कोई चीज़ याद करने को नहीं कहा गया था। किंतु कृत्यक की समाप्ति के अंत में बच्चों से एकाएक कहा गया कि अपनी स्मृति के आधार पर उन सभी वस्तुओं के नाम और सभी संख्याएं बतायें, जो कार्डों पर अंकित थीं। परिणाम ये रहे: पहले मामले में वस्तुएं तो ठीक से याद रहीं, लेकिन संख्याएं लगभग नहीं, जबकि दूसरे मामले में संख्याएं याद रहीं और वस्तुएं नहीं। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ता ऐसे प्रयोगों से इन निष्कर्षों पर पहुंचे हैं: १) शिक्षण (दत्त

प्रयोग में याद रखना) तब भी होता है, जब सीखना (याद रखना) विशेष उद्देश्य नहीं होता ; २) **वह चीज़** बेहतर सीखी जाती (याद रहती) है, **जो मनुष्य की प्रत्यक्ष सक्रियता से संबद्ध है,** इस सक्रियता के लिए आवश्यक है, इस सक्रियता का लक्ष्य है और जिसकी सहायता से यह सक्रियता साकार बनती है।

इससे शिक्षण के सिद्धांत और व्यवहार के लिए महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं। उदाहरणार्थ, बच्चों को वनस्पतियों के लक्षणों को याद रखने के लिए बाध्य करके और फिर अलग-अलग जातियों की वनस्पतियों में इन लक्षणों को दिखाकर वनस्पति-वर्गीकरण सिखाया जा सकता है। यह कठिन रास्ता है। दूसरा विकल्प यह है कि उन्हें आवश्यक तथ्य बता दिये जायें और वनस्पतियां दे दी जायें और कहा जाये कि तथ्यों का सहारा लेकर मालूम करें कि कौन वनस्पति किस जाति अथवा वर्ग की है। इस मामले में बच्चे विशेषतः सीखे अथवा कंठस्थ किये बिना अपनी सक्रियता की प्रक्रिया में ही आवश्यक ज्ञान हासिल कर लेंगे।

इन निष्कर्षों तथा प्रेक्षणों के आधार पर कतिपय मनोविज्ञानवेत्ताओं और शिक्षाविज्ञानियों ने यह मत प्रतिपादित किया कि आनुषंगिक, **असंकल्पित** अधिगम शिक्षण का सर्वोत्तम रूप है। वे इसकी "सहजता" पर भी ज़ोर देते हैं। उनके अनुसार, इस अधिगम विधि में मनुष्य का साबिका कृत्रिम रूप से तैयार और नियत मात्राओं में दी जानेवाली सूचनाओं से नहीं, अपितु यथार्थ जीवन, यथार्थ समस्याओं और वस्तुओं से पड़ता है। अधिगम को अभिप्रेरणा और प्रोत्साहन अंदर से मिलते हैं, न कि बाहर से। छात्र का मानस बिना किसी विशेष प्रयास के और अध्यापक द्वारा बाध्य किये बिना आवश्यक तथ्यों और क्रियाओं को स्वयं ही चुन और आत्मसात् कर लेता है। इसीलिए छात्र ऐसे अधिगम के प्रति खास उत्साह दिखाते हैं, उनकी शैक्षिक क्रियाशीलता का स्तर काफ़ी ऊंचा होता है और परिणाम भी लगातार उत्कृष्ट निकलते हैं।

बहुत कुछ इसी प्रकार का दृष्टिकोण "स्वतंत्र शिक्षा व पालन" से संबंधित सिद्धांतों के अनुयायियों ने भी व्यक्त किया था। किंतु इन विविध शिक्षा प्रणालियों की एक साझी विशेषता यह है कि वे प्रशिक्षण

को एक स्वतंत्र, विशिष्ट सक्रियता का दर्जा न देकर उसके स्थान पर अन्य सक्रियताओं के आनुषंगिक उत्पाद के रूप में अधिगम को बिठा देते हैं। ऐसे उपागम की चरम अभिव्यक्ति संयुक्त राज्य अमरीका में व्यापक रूप से प्रचलित "समायोजन सिद्धांत" में पायी जाती है, जो अपेक्षा करता है कि छात्र सीखने के लिए सामग्री और शैक्षिक सक्रियता का रूप स्वयं ही चुने, किंतु क्या इस रीति से सब कुछ सीखा जा सकता है और वह भी उतने समय में, जितना कि समाज आदमी को जीवन और श्रम के लिए तैयार होने के वास्ते देता है? इस प्रश्न के उत्तर की खोज में मनोविज्ञानवेत्ताओं ने बहुसंख्य प्रयोग तथा अध्ययन किये और निम्न निष्कर्षों पर पहुंचे:

१. सांयोगिक और आनुषंगिक, असंकल्पित अधिगम अधिकांश मामलों में संकल्पित और सुनियोजित अधिगम से कम प्रभावी सिद्ध होता है।

२. जब असंकल्पित अधिगम केवल छात्र की स्वतंत्र सक्रियता की परिस्थितियों में होता है, उसमें काफ़ी समय लगता है।

३. इस प्रकार के अधिगम में छात्र मुख्यतया **वही** चुनता और आत्मसात् करता है, **जो उसकी आवश्यकताओं, रुचियों और सामयिक लक्ष्यों से संबंध रखता है।** शेष सब उपेक्षित रह जाता है।

अंतिम निष्कर्ष सबसे महत्त्वपूर्ण है। छात्र स्वाभाविकतः जो सीखता है, वह उसके व्यक्तित्व, रुचियों और आवश्यकताओं द्वारा निर्धारित होता है। इसलिए ऐसे अधिगम के **परिणाम सांयोगिक और क्रमहीन ही हो सकते हैं।** वे परस्पर असंबद्ध तथ्यों, योग्यताओं और दक्षताओं का अव्यवस्थित ढेर होते हैं, जिसे अनुभव का नाम दिया जाता है। इससे स्पष्ट है कि वैज्ञानिक संकल्पनाओं की प्रणाली और मानसिक सक्रियता की तदनुरूप संरचनाओं का आत्मसात्करण और छात्र का सर्वांगीण तथा सम विकास भी केवल आनुषंगिक शिक्षण के ज़रिये, जो "सहज" जीवन सक्रियता पर आधारित होता है, असंभव है। इसके लिए एक ऐसी विशेष सक्रियता की आवश्यकता होती है, जिसका मुख्य उद्देश्य अधिगम ही हो। मनुष्य की ऐसी विशिष्ट सक्रियता, जिसका **प्रत्यक्ष उद्देश्य अधिगम** ही है, **प्रशिक्षण** कहलाती है।

इस प्रकार **प्रशिक्षण वहां होता है, जहां मनुष्य की क्रियाएं निश्चित ज्ञान, योग्यताओं, दक्षताओं, व्यवहार रूपों और सक्रियता भेदों को आत्मसात् करने के सचेतन उद्देश्य द्वारा निदेशित व संचालित होती हैं।** प्रशिक्षण एक विशिष्ट मानव सक्रियता है और केवल उस चरण में संभव है, जब मनुष्य में उद्देश्य के बोध द्वारा अपनी क्रियाओं को नियमित करने की क्षमता आ जाती है। संभवतः यह क्षमता ४-५ वर्ष की आयु में जाकर ही पर्याप्त विकसित हो पाती है और व्यवहार तथा सक्रियता के पूर्ववर्ती रूपों – खेल, बोली, क्रियात्मक व्यवहार – के आधार पर बनती है।

प्रशिक्षण सक्रियता क्या है? पहला संभावित उत्तर बड़ा सरल है। कोई भी सक्रियता किन्हीं खास शारीरिक क्रियाओं – क्रियात्मक अथवा वाणीमूलक – की समष्टि होती है। अतः प्रशिक्षण भी मनुष्य द्वारा विभिन्न क्रियाएं – गतियां, लिखाई, बोलना, आदि – किये जाने के ज़रिये संभव होता है। उदाहरण के लिए, मनुष्य तैरना पानी में तैरते हुए सीखता है, सोचना तर्क-वितर्क और सवाल हल करते हुए सीखता है, लिखना लिखने का अभ्यास करते हुए सीखता है। ऐसा "करने के ज़रिये सीखना" सिद्धांत की मान्यता है, जिसका आज के सारे बुर्जुआ शिक्षाविज्ञान पर बहुत प्रभाव पड़ा है। इस सिद्धांत के अनुसार प्रशिक्षण पुरस्कार और प्रोत्साहन की मदद से उद्दीपक और प्रतिक्रिया के संबंध का स्थिरीकरण है। किंतु पुरस्कार उसी के लिए दिया जा सकता है, जो किया जा चुका है। इसलिए ज़ोर करने पर नहीं, निष्पादन पर दिया जाता है। इसमें मुख्य **विधि** है छात्र द्वारा प्रयत्न, त्रुटि, अनुकरण, अभ्यास और सामान्य नियमों अथवा "विवेक" के प्रयोग के ज़रिये विभिन्न कृत्यकों अथवा समस्याओं की सक्रिय पूर्ति। किंतु शिक्षा का सारा अनुभव बताता है कि लोग व्यावहारिक सक्रियता के बिना भी सीख सकते हैं और कभी-कभी तो बहुत अच्छी तरह। इसकी पुष्टि विशेष अध्ययनों से भी होती है। उदाहरण के लिए, एक प्रयोग में एक ही तरह की सामग्री की तीन विभिन्न विधियों – व्याख्यान, अध्यापक के साथ संयुक्त विमर्श और स्वतंत्र अध्ययन – से

पढ़ाई के परिणामों की तुलना की गयी। पाया गया कि जब पढ़ाई एक ही पाठ्य-पुस्तक के अनुसार और जांच एक ही तरह की कसौटियों के आधार पर की जाती है, तो तीनों में से कोई भी विधि अन्यों के मुकाबले खास आकर्षक नही सिद्ध होती।

इस प्रकार बाह्य सक्रियता, अथवा शारीरिक क्रियाशीलता अधिगम की अनिवार्य शर्त नही है। कुछ मामलों में, मिसाल के लिए, गतिप्रेरक दक्षताओं (लिखना, बोली, तैरना, चित्रकारी, ड्राइविंग) के आत्मसात्करण में वह महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है और कुछ मामलों में उसका कोई खास महत्त्व नहीं भी हो सकता, जैसे शब्दों या पाठ को याद करने में, गणित के सवाल हल करने में, निबंध लिखने में, वस्तुओं को पहचानने और भेद करने में।

यदि प्रशिक्षण एक सक्रियता है, तो प्रकट रूपों के बिना वह कैसे संपन्न हो सकती है? सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं के अध्ययनों ने दिखाया है कि व्यावहारिक सक्रियता के अलावा मनुष्य की एक अन्य विशिष्ट, **प्रज्ञानमूलक** सक्रियता भी होती है, जिसका उद्देश्य है संज्ञान, अर्थात वस्तुजगत के गुणधर्मों से संबधित तथ्यों का संचय, विश्लेषण और संश्लेषण।

व्यावहारिक सक्रियता की भांति प्रज्ञानमूलक सक्रियता भी बाह्य सक्रियता हो सकती है। उसमें **वस्तुमूलक सक्रियता** के विभिन्न रूप शामिल हैं, जैसे वस्तुओं का प्रहस्तन, उनका यांत्रिक विधायन, जोड़ना-तोड़ना, तौलना, मापना, स्थान-परिवर्तन, आदि। प्रज्ञानमूलक सक्रियता **प्रत्यक्षमूलक सक्रियता** का रूप ले सकती है, जैसे जांच करना, सुनना, प्रेक्षण करना, वगैरह। प्रज्ञानमूलक सक्रियता **प्रतीकमूलक सक्रियता** भी हो सकती है, जैसे चित्रांकन, नाम देना, शाब्दिक वर्णन, कथन, शब्दों तथा कथनों की पुनरावृत्ति, आदि।

व्यावहारिक सक्रियता के विपरीत प्रज्ञानमूलक सक्रियता **आभ्यंतरिक**, अथवा, कम से कम **अप्रेक्षणीय** सक्रियता भी हो सकती है। उदाहरणार्थ, सोवियत वैज्ञानिकों के अनुसंधानों ने दिखाया है कि **प्रत्यक्षण**, विशेषतः प्रेक्षण, विशेष **प्रत्यक्षमूलक क्रियाओं** (वस्तु पर दृष्टि घुमाना, अभिविन्यासकों का चयन, बिंब निर्माण) की मदद से किया जाता है। अन्य अध्ययनों से यह बात प्रकाश में आयी है कि स्मरण

कुछ विशिष्ट **स्मृतिक क्रियाओं** का परिणाम होता है, जैसे सामग्री को क्रमबद्ध व सुव्यवस्थित बनाना, उसमें अर्थ संबंधी संकेतों तथा संबंधों को मालूम करना, नये और पुराने अनुभव अथवा ज्ञान के बीच संबंध कायम करना, रूपरेखा बनाना व दोहराना, आदि। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ता स०ल० रुबिनश्तेइन (१८८९-१९६०), अ०न० लेओन्त्येव (जन्म १९०३), स्विस मनोविज्ञानवेत्ता पियाजे, आदि ने पाया है कि चिंतन **मानसिक क्रियाओं** अथवा **बौद्धिक संक्रियाओं** का रूप लेता है, जैसे विश्लेषण और संश्लेषण, सादृश्यीकरण और विभेदीकरण, अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण, अभिविन्यास और चयन, वर्गीकरण और क्रमबंधन, सूत्रीकरण और व्याख्या।

प्रशिक्षण की प्रक्रिया में सक्रियता के ये सभी भेद आपस में घनिष्ठ रूप से जुड़े होते हैं। उदाहरणार्थ, वनस्पतियों के वर्गीकरण का अध्ययन करते हुए छात्र उन्हें गौर से देखता है (प्रत्यक्षमूलक सक्रियता), विभिन्न हिस्सों को अलग करता है (वस्तुमूलक सक्रियता), जो देखता है, उसका वर्णन करता है (बोली सक्रियता), उनका चित्रांकन करता है (वस्तुमूलक और प्रत्यक्षमूलक सक्रियता), उनका नाम बताता है (बोली सक्रियता), आदि। विभिन्न संदर्भों के इन सक्रियताओं का अनुपात भिन्न होता है। उदाहरण के लिए, श्रम संबंधी संकल्पनाएं वस्तुमूलक और प्रत्यक्षमूलक सक्रियताओं के दौरान आत्मसात् की जाती हैं, जबकि इतिहास से संबंधित संकल्पनाएं मुख्यतया बोली और प्रत्यक्षमूलक सक्रियताओं के दौरान बनती हैं। किंतु सभी मामलों में **प्रशिक्षण प्रज्ञानमूलक सक्रियता में व्यक्त और उसपर आधारित होता है।** प्रायः यह सक्रियता आभ्यंतरिक हो सकती है।

प्राथमिक और गौण प्रशिक्षण

स्वाभाविकतः प्रश्न उठता है कि आभ्यंतरिक सक्रियता क्या होती है, कैसे उत्पन्न होती है और उसका सारतत्त्व क्या है। विगोत्स्की, लेओन्त्येव और पियाजे के अध्ययनों के आधार पर कहा जा सकता है कि यह आभ्यंतरिक सक्रियता बाह्य सक्रियता के **आभ्यंतरीकरण** का परिणाम है। वस्तुमूलक क्रियाएं मानसिक प्रक्रियाओं में प्रतिबिंबित

होती हैं। इसके बाद ये प्रक्रियाएं वस्तुओं से अपना प्रत्यक्ष संबंध खत्म कर देती हैं और **मानसिक संक्रियाओं** का रूप धारण कर लेती हैं। उदाहरण के लिए, ज्यों-ज्यों अनुभव बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वस्तुओं के विभाजन, वियोजन और पृथक्करण की वस्तुमूलक क्रिया का स्थान उसका मानसिक बिंब ले लेता है, यानी यह क्रिया चिंतन के स्तर पर वस्तु के बिंब अथवा संकल्पना के साथ की जाने लगती है। वस्तुमूलक क्रिया विश्लेषण की मानसिक सक्रियता बन जाती है। **प्रात्ययिक स्तर पर होनेवाली ऐसी संक्रियाएं ही आभ्यंतरिक, मानसिक सक्रियता हैं।** आभ्यंतरीकरण का मुख्य साधन शब्द होता है। वह बिंब और संक्रिया को वस्तु और क्रिया से विसंबधित करने, उनके स्थान पर व्यक्ति की अपनी वाक्-गतियां प्रयोग करने की संभावना देता है।

उपरोक्त के आधार पर हम प्रशिक्षण में बाह्य (वस्तुमूलक) और आभ्यंतरिक (मानसिक) सक्रियता की भूमिका के बारे में एक महत्त्वपूर्ण प्राक्कल्पना प्रस्तुत कर सकते हैं। **बाह्य प्रज्ञानमूलक सक्रियता** संभवत: तब प्रशिक्षण के लिए **अनिवार्य** है, जब मानस में तदनुरूप बिंब, संकल्पनाएं और संक्रियाएं अभी विकसित नहीं हुई होती हैं। यदि छात्र नये ज्ञान अथवा योग्यताओं के अर्जन के लिए आवश्यक बिंबों और संक्रियाओं से परिचित है, तो अधिगम के लिए एक तदनुरूप आभ्यंतरिक प्रज्ञानमूलक सक्रियता ही पर्याप्त होगी। कतिपय मनोविज्ञानवेत्ता इस भेद को दर्शाने के लिए पहले प्रसंग में आदि अथवा प्राथमिक प्रशिक्षण शब्द प्रयोग करते हैं और दूसरे प्रसंग में उत्तर अथवा द्वितीयक प्रशिक्षण शब्द। प्राथमिक प्रशिक्षण का अनुकूलित परावर्ती, गतिप्रेरक स्वरूप होता है। वह वस्तुमूलक (बाह्य) सक्रियता की मदद से संपन्न होता है। अन्य शब्दों में कहें, तो यह करने के ज़रिये, प्रयत्न और त्रुटि के ज़रिये प्रशिक्षण है। द्वितीयक प्रशिक्षण का स्वरूप शुद्ध बौद्धिक और मननात्मक है। वह अकेली मानसिक (आभ्यंतरिक) सक्रियता की सहायता से संपन्न होता है। यह प्रेक्षण और अवबोधन के ज़रिये होनेवाला प्रशिक्षण है।

शिक्षा सक्रियता के स्वरूप के प्रश्न को हल करते हुए सबसे पहले इसका विश्लेषण आवश्यक है कि नयी सामग्री के आत्मसात्करण के लिए कैसे ज्ञान और योग्यता की आवश्यकता है। यदि छात्र अभी कुछ

निश्चित बिंबों, संकल्पनाओं और संक्रियाओं से परिचित नहीं, तो बाह्य प्रज्ञानमूलक सक्रियता से आरंभ करना ज़रूरी है। छात्र का वस्तुओं और परिघटनाओं से स्वयं साक्षात्कार होना चाहिए। उसे अपने हाथों से आवश्यक क्रियाएं और संक्रियाएं करनी चाहिए। इसके बाद शब्दों की मदद से उनके बिंब स्थिर करके वह उन्हें शनैःशनैः प्रात्ययिक (मानसिक) स्तर पर करने लग जायेगा। किंतु यदि वह आवश्यक बुनियादी संकल्पनाओं और संक्रियाओं से परिचित है, तो सीधे ही आभ्यंतरिक प्रज्ञानमूलक सक्रियता से शुरू किया जा सकता है। इस मामले में उसे केवल आवश्यक शब्द बताने पड़ेंगे, क्योंकि वह उनके अर्थ और उनके लिए आवश्यक संक्रियाओं को पहले से ही जानता है। **सूचना और निदर्शन** की परंपरागत शिक्षण पद्धति इसी पर आधारित है। श्रवण, पठन और प्रेक्षण की "निष्क्रिय" अधिगम रीतियां भी इसी से संबंध रखती हैं।

शैक्षिक स्थितियों के भेद

प्रत्येक अध्यापक भली भांति जानता है कि हमेशा और हर कोई वह नहीं सीखता, जिसकी ज़रूरत है। ज्ञात है कि हर सक्रियता व्यक्ति द्वारा दिया गया किसी निश्चित स्थिति का उत्तर होती है। सक्रियता निश्चित अभिप्रेरकों की उपज होती है और निश्चित परिस्थितियों में साकार बनती है। अतः **प्रशिक्षण उत्पन्न हो, इसके लिए शैक्षिक स्थिति में व्यक्ति को प्रज्ञानमूलक उद्देश्यों – किसी निश्चित ज्ञान और योग्यताओं के अर्जन – की ओर प्रवृत्त करनेवाले अभिप्रेरक होने आवश्यक हैं।**

अध्ययन दिखाते हैं कि ऐसे अभिप्रेरक दो प्रकार के हो सकते हैं: **बाह्य और आभ्यंतरिक।** बाह्य अभिप्रेरकों में ऐसे सभी उद्दीपक आ जाते हैं, जो **बाहर से उद्देश्य की ओर अग्रसारित** करते हैं, जैसे दंड और पुरस्कार, धमकी और मांग, प्रतियोगिता और समूह का दबाव, प्रशंसा और महत्त्वाकांक्षा का जागरण, भावी सुविधाओं तथा सुलाभों की आशा, आदि। ये सभी उद्दीपक प्रशिक्षण के प्रत्यक्ष उद्देश्य के संबंध में बाह्यस्थ होते हैं। इन मामलों में ज्ञान और योग्यताएं मात्र अन्य बुनियादी उद्देश्यों (किसी अप्रीतिकर चीज़ से बचना, सामाजिक या व्यक्तिगत सफलताओं की प्राप्ति, महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति, आदि) की प्राप्ति के साधन का कार्य करते हैं।

इस प्रकार की संरचनावाली शैक्षिक स्थितियों को **सोद्देश्य बाध्यता-युक्त स्थितियां** कहा जा सकता है। ऐसी स्थितियों में स्वयं उद्देश्य – अधिगम – उपेक्षणीय अथवा विरक्तिकारी हो सकता है। वह सक्रियता का केवल निर्धारक होता है, न कि प्रेरक। इसलिए स्वयं सक्रियता – प्रशिक्षण – कुछ हद तक बाध्यतामूलक होती है और एक ऐसी बाधा सी बनती है, जिसे बुनियादी उद्देश्य पाने के लिए लांघना ज़रूरी है। सहज ही देखा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में परस्पर विरोधी शक्तियां सक्रिय रहती हैं। चूंकि वह **द्वंद्वपूर्ण** होती है, इसलिए कभी-कभी काफ़ी अधिक मानसिक तनाव पैदा करती है और व्यक्ति से आंतरिक प्रयास की और कई बार तो अपने से जूझने की भी अपेक्षा करती है। द्वंद्व बहुत अधिक बढ़ जाने पर "स्थिति से निकलने" की प्रवृत्ति (त्यागने, अथवा कठिनाइयों से कतराने की प्रवृत्ति अथवा मनस्ताप) पैदा हो सकती है। तब छात्र पढ़ाई छोड़ देता है, अथवा नकल पर भरोसा करने लगता है अथवा टूट जाता है – नियमों का उल्लंघन करने लगता है और कभी-कभी पूर्ण विरक्ति का शिकार बन जाता है। शैक्षिक स्थिति की ऐसा संरचना स्कूली व्यवहार में प्रायः देखने को मिलती है।

आभ्यंतरिक अभिप्रेरक वे होते हैं, जो **उद्देश्य की ओर बढ़ने** को प्रोत्साहित करते हैं, जैसे ज्ञानपिपासा, जिज्ञासा, सांस्कृतिक स्तर ऊंचा उठाने की आकांक्षा, योग्यता-वृद्धि की चाह, शैक्षिक कृत्यकों की पूर्ति की प्रक्रिया में रुचि, आदि। इन सभी अभिप्रेरकों का मूल स्वयं प्रशिक्षण में, उसके भीतर होता है।

ऐसी संरचनावाली शैक्षिक स्थिति को **सोद्देश्य आकर्षणयुक्त स्थिति** कहा जा सकता है। उसमें आंतरिक द्वंद्व नहीं होता। कठिनाइयां उसमें भी सामने आती हैं, जिन्हें लांघा जाना ज़रूरी है, इसलिए वह भी दृढ़ संकल्प के प्रदर्शन की अपेक्षा करती है। किंतु यह संकल्प बाह्य बाधाओं को लांघने की ओर लक्षित होता है, अपने से जूझने की ओर नहीं। इसलिए ऐसी स्थिति में आंतरिक, मानसिक तनाव और मनस्ता-पीय संघर्ष उत्पन्न नहीं होते। अतः वह शैक्षिक दृष्टि से सर्वोत्तम स्थिति है। ऐसी स्थिति बनाना अध्यापक का एक महत्त्वपूर्ण कार्यभार है, जिसकी पूर्ति के लिए छात्र के व्यवहार का मात्र नियमन ही नहीं करना चाहिए, बल्कि उसे अपने उद्देश्य, रुचियां और आदर्श निर्धारित करने में मदद भी करनी चाहिए।

कोई भी वस्तु, घटना, स्थिति अथवा क्रिया जब मनुष्य की **किसी क्रियाशीलता के स्रोतों** से जुड़ती है, तो वह सक्रियता की अभिप्रेरक बन जाती है। प्रेक्षणों और अध्ययनों से पता चला है कि सक्रियता के सभी ज्ञात स्रोत तीन मुख्य कोटियों में बांटे जा सकते हैं:

१. **आंतरिक स्रोत** – ये मनुष्य की **आवश्यकताओं** के ढांचे पर निर्भर होते हैं और बहुविध हो सकते हैं – **जन्मजात** स्रोतों से लेकर, जो शरीर की जैव आवश्यकताओं को व्यक्त करते हैं और आनुवंशिक कार्यक्रम की उपज होते हैं, **अर्जित** स्रोतों तक, जो सामाजिक आवश्यकताओं को व्यक्त करते हैं और समाज की उपज होते हैं।

जन्मजात आवश्यकताओं में से **क्रियाशीलता की आवश्यकता और सूचना की आवश्यकता** का शिक्षा सक्रियता के उत्प्रेरण के लिए विशेष महत्त्व होता है।

इनके जैव आवश्यकताएं होने का प्रमाण अधिकांश उच्चविकसित प्राणियों में तत्संबंधित झुकावों की विद्यमानता से मिलता है। पशु जब भूखा-प्यासा नहीं भी होता और हिलना-डुलना तक नहीं चाहता, तब भी यदि उसकी क्रियाशीलता पर कोई रोक लगा दी जाये, तो वह एकाएक विरोध कर बैठेगा। इसी तरह बच्चा भी जन्म के क्षण से ही और जब वह सोया नहीं होता, निरंतर क्रियाशील अवस्था में रहता है – मुस्कराता है, हलचल करता है, हाथ-पैर चलाता है, दौड़ता है, खेलता है, बातचीत करता है, सवाल पर सवाल पूछता रहता है। यह सारी सक्रियता संभवतः उसे संतोष और आनंद प्रदान करती है।

मनुष्य की सूचना की आवश्यकता (कभी-कभी इसे उद्दीपन की आवश्यकता भी कहते हैं) तथाकथित वंचन के प्रयोगों में स्पष्टतः प्रकट होती है, जब प्रयोगाधीन को कुछ समय के लिए बाह्य विश्व के प्रभावों से पूर्णतः पृथक् कर दिया जाता है (किसी अंधेरे, ध्वनिरुद्ध कक्ष में, कभी-कभी गुनगुने पानी से भरे टब में भी रख दिया जाता है)। परिणामस्वरूप गंभीर बौद्धिक, संवेगात्मक और ऐच्छिक दोष पैदा हो जाते हैं, जैसे असंतुलन, विषण्णता, क्रोध, विरक्तता, ऐच्छिक क्रियाओं को करने की क्षमता का विनाश, कभी-कभी व्यवस्थित चिंतन

का ह्रास और विभ्रम भी। सामान्य परिस्थितियों में क्रियाशीलता तथा सूचना का अभाव (कभी-कभी अतिरेक भी) मनुष्य में नकारात्मक भावनाएं पैदा करता है, जिन्हें **थकान** और **ऊब** कहते हैं। दूसरी ओर, क्रियाशीलता और सूचना की आवश्यकता को **स्फूर्ति** और **जिज्ञासा** कहा जाता है।

समाजजनित आवश्यकताओं में शिक्षा सक्रियता के उद्दीपन के लिए **प्रज्ञानमूलक** आवश्यकताओं और **सकारात्मक सामाजिक आवश्यकताओं** का विशेष महत्त्व है। इनमें ज्ञानपिपासा, समाज का हित करने की आकांक्षा, समाज जिन सफलताओं व उपलब्धियों का मूल्य करता है, उन्हें पाने की ललक, आदि शामिल हैं।

२. **बाह्य स्रोत** – ये मनुष्य की जीवन सक्रियता की सामाजिक परिस्थितियों की संरचना पर निर्भर होते हैं। क्रियाशीलता के इन स्रोतों को **विवशताएं** कहा जाता है। **मांगें, प्रत्याशाएं और अवसर** सक्रियता की ऐसी विवशताओं की कोटि में आते हैं।

मांगें – ये वे सामाजिक प्रभाव हैं, जो व्यक्ति को किन्हीं खास प्रकार की सक्रियताएं और व्यवहार रूप अपनाने को विवश करते हैं। उदाहरण के लिए, मां-बाप का आग्रह होता है कि बच्चा चम्मच से खाये, मेज़ पर बैठे, "धन्यवाद" कहे, वगैरह। स्कूल का आग्रह होता है कि छात्र समय पर स्कूल पहुंचे, कक्षा में अध्यापक को ध्यान से सुने, उसके दिये हुए काम पूरा करे। समाज की मांग होती है कि व्यक्ति अपने व्यवहार में किन्हीं खास नैतिक मानकों व नियमों का पालन और अपने दायित्व की पूर्ति करे।

प्रत्याशाएं – ये व्यक्ति से समाज के वे संबंध हैं, जो इससे ताल्लुक रखते हैं कि समाज उस व्यक्ति के लिए किस प्रकार के व्यवहार और सक्रियताएं आवश्यक और सामान्य समझता है। उदाहरणार्थ, यह सामान्य माना जाता है कि एक वर्ष का बच्चा चलने लगेगा। उससे इसकी आशा की जाती है और तदनुरूप व्यवहार भी किया जाता है। मांग के विपरीत प्रत्याशा एक सामान्य वातावरण बनाती है, व्यक्ति के व्यवहार पर सामान्य दबाव डालती है और यह प्रायः आदेश से अधिक कारगर प्रेरक सिद्ध होता है।

अवसर – ये किसी सक्रियता की वे वस्तुपरक परिस्थितियां हैं,

जो व्यक्ति के परिवेश में मौजूद हैं। उदाहरण के लिए, अच्छा घरेलू पुस्तकालय व्यक्ति को पढ़ने के लिए प्रेरित करता है, क्योंकि इसके लिए अवसर (पुस्तकों की उपलभ्यता) मौजूद है। समस्यामूलक शिक्षण में बच्चा अधिक सोचता है, क्योंकि उसे इसके लिए अधिक अवसर मिलते हैं।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दिखाता है कि आदमी का व्यवहार यथार्थ अवसरों पर काफ़ी कुछ निर्भर होता है (खास तौर से अगर अभी उसका व्यक्तित्व और मुख्य जीवन उद्देश्य नहीं बन पाये हैं)। उदाहरण के लिए, बच्चे को संयोगवश मिली ज्यामिति की पुस्तक उसकी ज्यामिति में ऐसी रुचि पैदा कर दे कि वह आगे चलकर गणितज्ञ ही बन जाये। कसबे में आयी हुई नाटक-मंडली किसी नन्ही बालिका पर ऐसी अमिट छाप डाल सकती है कि आगे चलकर वह महान अभिनेत्री बन जाये।

३. **वैयक्तिक स्रोत** – इनका निर्धारण आदमी के व्यक्तित्व की संरचना – उसकी रुचियों, आकांक्षाओं, मान्यताओं, विश्वासों, विश्व-दृष्टिकोण, आत्मविषयक धारणाओं, समाज के प्रति रुख, आदि – से होता है। क्रियाशीलता के वैयक्तिक स्रोतों को **मूल्य** कहा जाता है और इनमें सफलता अथवा आत्मसुधार, स्वाग्रह अथवा आत्माभिव्यक्ति, निष्क्रियता अथवा गतिशीलता, किन्हीं निश्चित आवश्यकताओं की तुष्टि अथवा उनका दमन, आदर्श और प्रतिमान, भलाई, सत्य, सौंदर्य, उपयोगिता, शक्तिमत्ता अथवा मौजमस्ती, आदि शामिल किये जाते हैं।

शिक्षा सक्रियता के उद्दीपन के लिए **यथार्थ के अवगाहन** की प्रगाढ़ आकांक्ष का और वस्तुओं तथा घटनाओं का महत्त्व मानव ज्ञान, सक्रिय-ता अथवा मूल्यों की दृष्टि से दिखाने के प्रयासों का बहुत बड़ा महत्त्व है।

सक्रियता के उपरोक्त स्रोत विभिन्न सम्मिश्रणों और रूपों में हर मनुष्य में पाये जाते हैं। किंतु उनसे उत्पन्न सक्रियता सभी के मामले में प्रशिक्षण का रूप धारण नहीं करती। इसके लिए ज़रूरी है कि व्यक्ति की आवश्यकताएं और आकांक्षाएं, मांगें, प्रत्याशाएं और अवसर उसके वैयक्तिक मूल्य और मान्यताएं, यानी उसके व्यवहार के आभ्यंतरिक, बाह्य और वैयक्तिक उद्दीपक प्रशिक्षण के किसी एक पहलू (परिणाम,

उद्देश्य, प्रक्रिया) अथवा सभी पहलुओं से जुड़ें। तभी ये पहलू अभिप्रेरक बनेंगे और आवश्यक सक्रियता की ओर प्रवृत्त करेंगे। इस प्रक्रिया को **अभिप्रेरण** कहते हैं। वह कैसे हासिल होगा, यह इस पर निर्भर करता है कि प्रशिक्षण के किस पहलू को अभिप्रेरक बनाया जाता और सक्रियता के किस स्रोत के साथ जोड़ा जाता है। उदाहरणार्थ, यदि प्रशिक्षण के परिणामों को अभिप्रेरक बनाया जाता है और प्रोत्साहन के लिए सक्रियता के आंतरिक स्रोतों का सहारा लिया जाता है, तो अभिप्रेरण शैक्षिक सफलताओं को पुरस्कार, सामाजिक प्रशंसा, भावी काम के लिए उपयोगिता, आदि के साथ संबंधित करके हासिल किया जा सकता है।

बाह्य उद्दीपकों का प्रयोग बाध्यता (मांगें) तथा विश्वास (प्रत्याशाएं) में और समुचित परिस्थितियां व सूचना साधन (अवसर) उपलब्ध करवाने में व्यक्त होता है। शिक्षण के परिणामों के वैयक्तिक अभिप्रेरण का एक उदाहरण इन परिणामों का व्यक्ति के आत्ममूल्यांकन से जुड़ना (प्रशंसा) हो सकता है।

अभिप्रेरण की युक्तियां और सम्मिश्र उतने ही बहुविध, बहुरूपी और व्यापक होते हैं, जितना कि स्वयं जीवन अथवा उसमें पाये जानेवाले वे उद्दीपक, जो मनुष्य को सक्रियता के लिए उकसाते हैं और उसका रूप निर्धारित करते हैं।

शिक्षा सक्रियता की संरचनाएं

व्यक्ति की वह विशिष्ट सक्रियता, जिसे प्रशिक्षण कहते हैं, कुछ खास **संक्रियाओं** से बनती है। सक्रियाएं शैक्षिक शक्तियों तथा प्रभावों के क्षेत्र में छात्र की हैसियत पर निर्भर होती हैं, यानी इसपर कि शैक्षिक स्थिति में उसका प्रकार्य क्या है: १) बाहर से प्राप्त सूचना का निष्क्रिय ग्रहण तथा आत्मसात्करण; २) सूचना की सक्रिय स्वतःखोज तथा उपयोग; अथवा ३) सूचना की बाहर से नियोजित व प्रेरित खोज तथा उपयोग।

पहले प्रसंग में छात्र अध्यापक के विकासकारी प्रभावों की **लक्ष्य-वस्तु** होता है। यहां अधिगम के मूल में छात्र को तैयार सूचना का **संप्रेषण**

करना और कुछ निश्चित शैक्षिक क्रियाएं करने के लिए बाध्य बनाना निहित होते हैं। दूसरे प्रसंग में छात्र को स्वयं **कर्त्ता** के रूप में लिया जाता है, जो अपने ही वर्द्धमान रुझानों और उद्देश्यों के प्रभाव से विकास करता है। यहां अधिगम के मूल में छात्र का **आत्मप्रेरण** और अपनी आवश्यकताओं तथा मूल्यों के अनुरूप सूचनाओं तथा क्रियाओं का चयन व खोज निहित होते हैं। तीसरे प्रसंग में छात्र शैक्षिक प्रभावों की **लक्ष्य-वस्तु** के रूप में भी और संज्ञानमूलक सक्रियता के **कर्त्ता** के रूप में भी काम करता है। अध्यापक व्यवहार के बाह्य स्रोतों (मांगें, प्रत्याशाएं और अवसर) को यों संगठित करता है कि वे छात्र में आवश्यक रुझान और मूल्य पैदा कर देते हैं, जिनपर छात्र द्वारा आवश्यक सूचना का चयन और उपयोग निर्भर होते हैं। इस प्रसंग में अधिगम व्यक्ति की सक्रियता के स्रोतों को अभीप्सित सूचना तथा क्रियाओं के चयन, संसाधन व उपयोग की **दिशा में मोड़ने** पर आधारित होता है।

शैक्षिक और शिक्षणकारी क्रियाओं के भेद

उपरोक्त तीन प्रकार्यों के अनुरूप बुनियादी शैक्षिक क्रियाएं भी तीन प्रकार की होती हैं। शिक्षण के पहले रूप – संप्रेषण में चूंकि प्रमुखता तैयार सूचना के अंतरण को प्राप्त होती है, इसलिए प्रशिक्षण ऐसी क्रियाओं पर आधारित होता है, जैसे अनुकरण, शब्दशः अथवा अर्थानुसार ग्रहण व पुनरावृत्ति और तैयार प्रतिमानों व नियमों के अनुसार अभ्यास। शिक्षण के दूसरे रूप – आत्मप्रेरण में प्रमुखता सहज स्वयं-शिक्षण को प्राप्त होती है। इसमें प्रशिक्षण का आधार ऐसी क्रियाएं बनती हैं, जैसे प्रश्नों और कृत्यकों का चयन, सूचना और सामान्य सिद्धांतों की खोज, स्वनिर्णय व अर्थावबोधन और सृजनात्मक सक्रियता। अंत में, शिक्षण के तीसरे रूप – निदेशन में चूंकि **निदेशित संज्ञानमूलक सक्रियता ज़रूरी होती है**, इसलिए उसमें प्रशिक्षण ऐसी क्रियाओं पर आधारित किया जाता है, जैसे कृत्यकों, कार्यभारों की पूर्ति तथा परिणामों का मूल्यांकन, प्रयत्न और त्रुटियां, प्रयोग करना, सामान्य सिद्धांतों व संकल्पनाओं का चयन व उपयोग, आदि।

ऊपर जितनी भी शिक्षणकारी क्रियाओं का उल्लेख किया गया है,

उनमें से प्रत्येक में छात्र की सक्रियता के नियंत्रण की अपनी रीतियां, अपनी **संकल्पनाएं** और अपनी **शिक्षण-विधियां** होती हैं। उदाहरण के लिए, तैयार सूचना का अंतरण शिक्षण की उस संकल्पना में व्यक्त होता है, जिसे **अध्ययन** कहते हैं। इसकी विशिष्ट विधियां हैं: बताना, समझाना, निदर्शन और कृत्यक देना। सहज स्वयंशिक्षण **उद्दीपन** की संकल्पना को जन्म देता है। इसमें रुचि जागृत करना, आश्चर्यचकित करना, जिज्ञासा जगाना जैसी विधियां इस्तेमाल की जाती हैं। अंत में शिक्षणकारी क्रियाओं का वह रूप आता है, जिसे निदेशित संज्ञान-मूलक सक्रियता कहते हैं और जो शिक्षण की संकल्पना को **निदेशन** के रूप में व्यक्त करता है। इसकी विशिष्ट विधियां हैं: समस्याएं और कृत्यक पेश करना, संयुक्त विचार-विमर्श व बहस, संयुक्त रूप से योजना बनाना, परामर्श, आदि।

§३. शिक्षण की प्रक्रिया पर प्रभाव डालनेवाले कारक

शैक्षिक स्थितियां, शिक्षण की संकल्पनाएं, शैक्षिक व शिक्षण-कारी क्रियाएं और शिक्षा सक्रियता के अभिप्रेरक व स्रोत कितने भी बहुविध क्यों न हों, उनमें कुछ समान तत्त्व भी हैं। उन सबका अंतिम उद्देश्य है छात्र की मेहनत को शिक्षणोन्मुख बनाना। शैक्षिक लक्ष्य की ओर निर्दिष्ट मेहनत के अभाव में प्रशिक्षण असंभव है। किसी भी सोद्देश्य प्रशिक्षण के इस सार्विक घटक को हृदयगमन कहते हैं।

हृदयंगमन के आभ्यंतरिक कारक। ध्यान और संदर्भ-बिंदु

हृदयंगमन की पहली शर्त यह है कि जिसे जाना और आत्मसात् किया जाना है, वह मानस में **प्रतिबिंबित हुआ** होना चाहिए और उसे बाह्य जगत तथा मनोजगत के अन्य सभी प्रत्यक्षीकृत पक्षों से **पृथक्** किया जाना चाहिए। जिस सूचना का अस्तित्व नहीं है, उसका आत्म-सात्करण और विश्लेषण-संश्लेषण नहीं किया जा सकता। हृदयंगमन तभी संभव है, जब हृदयंगम करने के लिए कुछ हो।

अध्यापक के कक्षा में बोलना, दिखाना, निर्देश और अपेक्षाएं – ये उन संकेतों का एक ही हिस्सा हैं, जो छात्र तक पहुंचते हैं। इसके साथ "बाहर से" तरह-तरह के "शोर-शराबे" की ज़बर्दस्त बाढ़ आती रहती है, जैसे अन्य छात्रों का व्यवहार, अध्यापक का बाह्य रूप, खिड़की के बाहर टहनी पर बैठी चिड़िया, गलियारे में आहटें और अनगिनत अन्य छोटी-मोटी घटनाएं, जो कक्षा के कमरे के सूक्ष्म विश्व में निरंतर घटती रहती हैं। दूसरी ओर "अंदर से" भी यादें, प्रत्याशाएं, आशंकाएं और सोच-विचार आड़े आते रहते हैं। इसके अलावा अध्यापक जो दिखा या बता रहा होता है, उसमें भी कभी-कभी बहुत सी गौण, दत्त क्षण के लिए अनावश्यक सूचनाएं होती हैं। किंतु मनोवैज्ञानिक प्रयोग दिखाते हैं कि आदमी एक समय में काफ़ी कम वस्तुएं (५ से ६ तक) ही ग्रहण कर पाता है। शेष सब या तो धुंधली पृष्ठभूमि बनकर रह जाती हैं या मनुष्य को उनका बिल्कुल भी भान नहीं हो पाता।

कुछ वस्तुएं, घटनाएं अथवा गुणधर्म मानस को सक्रिय बना सकते हैं, जो ध्यान के रूप में प्रकट होता है। इसका कारण यह है कि ये वस्तुएं, घटनाएं और गुणधर्म मानस की सक्रियता के आभ्यंतरिक स्रोतों – सूचना की भूख, व्यक्ति की अन्य आवश्यकताओं, उसके सामाजिक रुझानों और उद्देश्यों – से संबंधित होते हैं। मनोविज्ञानवेत्ता सूचना के चयन, संसाधन और उपयोग में मनुष्य के व्यक्तित्व की अभिव्यक्तियों को **अभिविन्यासक** नाम देते हैं। अनेकानेक प्रयोग और प्रेक्षण दिखाते हैं कि शिक्षा सक्रियता में व्यक्ति के संदर्भ-बिंदुओं का बहुत बड़ा और कभी-कभी तो निर्णायक महत्त्व होता है। उदाहरण के लिए, एक प्रयोग में छात्रों के दो समूहों को कोई सामग्री याद करने के लिए दी गयी – याद करने का तरीका और जितनी बार सामग्री को दोहराया जा सकता था, वह दोनों ही समूहों के लिए समान था। एक समूह को बता दिया गया कि जांच से ऐन पहले उन्हें सामग्री फिर दोहराने का अवसर नहीं दिया जायेगा। दूसरे समूह से कहा गया कि उसे ऐसा अवसर मिल सकेगा। इसके बाद एकाएक दोनों समूहों की जांच की गयी। पता चला कि जिन छात्रों को जांच से पहले दोहराने का एक और अवसर पाने की उम्मीद थी, उन्होंने काफ़ी खराब परिणाम दिखाया, क्योंकि उन्होंने जांच-पूर्व अवसर पर भरोसा किया हुआ था, यानी उसे अभिविन्या-

सक बनाया हुआ था। अध्ययन बताते हैं कि अभिविन्यासक याद करने की अवधि, दृढ़ता और स्वरूप को निर्धारित करता है। जब छात्र "केवल परीक्षा के लिए" पढ़ता है, तो उसका ज्ञान परीक्षा-कक्ष से बाहर आने तक ही बना रहता है। जब पढ़ाई का अभिविन्यासक मोटे तौर पर हृदयंगम करना हो, तो ज्ञान भी स्थूल ही होगा। इतना ही नही, जब कोई अभिविन्यासक नहीं होता, तो प्रायः पाया गया है कि सामग्री का हृदयं-गमन भी कतई नहीं हो पाता।

इस प्रकार **पढ़ाई में ध्यान और अभिविन्यासक की समस्या अभि-प्रेरण की समस्या है।** ध्यान और अभिविन्यासक, दोनों ही छात्र की मान-सिक और व्यावहारिक सक्रियता की **निश्चित अभिमुखता** – परिणाम, उद्देश्य और प्रशिक्षण प्रक्रिया की ओर अभिमुखता – की बाह्य अभिव्य-क्तियां हैं। ऐसी अभिमुखता **प्रशिक्षण के इन मुख्य पहलुओं को व्यक्ति की सक्रियता के आभ्यंतरिक, बाह्य और वैयक्तिक निर्धारकों से जोड़कर** हासिल की जाती है।

हृदयंगमन के बाह्य कारक। शिक्षा सामग्री की अंतर्वस्तु और रूप

किसी भी अन्य सक्रियता की भांति प्रशिक्षण में भी परिणाम केवल आत्मपरक कारकों (विषय के प्रति छात्र का रुख) पर नहीं, अपितु वस्तुपरक कारकों (हृदयंगम की जा रही सामग्री के गुणधर्म) पर भी निर्भर होते हैं। मनोविज्ञानवेत्ताओं और शिक्षाशास्त्रियों ने प्रशिक्षण के इस पहलू के संबंध में अनेकानेक अध्ययन करके बहुत सारी तथ्यात्मक और प्रयोगात्मक सामग्री एकत्र की है। इस सामग्री का विश्लेषण शिक्षा सामग्री के उन लक्षणों के निरूपण में सहायक होता है, जो उसके हृदयं-गमन को प्रभावित करती हैं।

शिक्षा सामग्री का ऐसा पहला लक्षण है उसकी **अंतर्वस्तु।** हृदयंगम किये जाने का विषय यथार्थ तथ्य भी हो सकते हैं और सामान्यीकृत ज्ञान, संकल्पनाएं, सिद्धांत, क्रियाएं, संक्रियाएं, योग्यताएं और दक्षताएं भी। सामग्री का इनमें से कौन सा रूप हृदयंगम किये जाने का विषय बनता है इसी पर अधिगम की संरचना, प्रशिक्षण की विधियां और शिक्षण की रीतियां लगभग पूरी तरह निर्भर होती हैं। जैसा कि बहुत से

सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं के अनुसंधानों ने दिखाया है, प्रशिक्षण की संरचना और स्वरूप इसपर भी निर्भर होते हैं कि संबंधित तथ्यों, संकल्पनाओं, दक्षताओं और योग्यताओं का संबंध ज्ञान और सक्रियता के किस क्षेत्र से है। अंकगणित के नियमों का हृदयंगमन व्याकरण के हृदयंगमन से भिन्न प्रेक्षण और बौद्धिक व व्यावहारिक सक्रियता के तरीकों से संबंध रखता है। इसी तरह साहित्य, भौतिकी और अन्य शिक्षा विषयों के (यहां तक कि एक ही विषय के अलग-अलग भागों के भी) हृदयंगमन के तरीकों में भी भेद है।

शिक्षा-सामग्री का **दूसरा लक्षण** है उसका **रूप**। वह **यथार्थपरक** भी हो सकता है, यानी जब शिक्षण यथार्थ वस्तुओं अथवा सक्रियताओं के आधार पर संपन्न होता है, और **प्रबोधात्मक** भी, यानी जब शिक्षण विशेषतः तैयार किये गये और व्यवस्थित शिक्षा-वस्तुओं और कृत्यकों के आधार पर संपन्न होता है। शिक्षा सामग्री का रूप **वस्तुमूलक, वाक्-मूलक, बिंबात्मक और प्रतीकात्मक** भी हो सकता है। शिक्षा-सामग्री को प्रस्तुत करने का इनमें प्रत्येक रूप एक प्रकार की **भाषा** होता है, जो सूचना – संकेतमूलक, अर्थमूलक, मूल्यसंबंधी अथवा आदेशपरक – के संप्रेषण के साधन का काम करती है। सोवियत व विदेशी मनो-विज्ञानवेत्ताओं के अध्ययनों ने दिखाया है कि जो भाषा चुनी गयी है, उसकी प्रभाविता दो कारकों पर निर्भर है: एक तो इसपर कि वह भाषा हृदयंगम की जा रही सामग्री के स्वरूप के अनुरूप है या नहीं और दूसरे इसपर कि छात्र सूचना के सूत्रीकरण की दत्त विधि में कितना पारंगत है और यह भाषा छात्र के चिंतन के ढांचे के कितनी अनुरूप है।

मिसाल के लिए, प्रयोग दिखाते हैं कि उच्च शिक्षा संस्थाओं के छात्र, किशोर और यहां तक कि ७-८ वर्ष के बच्चे भी समुच्चय सिद्धांत की मूलभूत संकल्पनाओं को आत्मसात् करने में समर्थ होते हैं। किंतु इसके लिए बच्चों के सामने उक्त संकल्पनाएं वस्तु-क्रियामूलक रूप में (वस्तुओं और क्रियाओं की भाषा में) और किशोरों के सामने गणि-तीय वस्तुओं के साथ ठोस संक्रियाओं के रूप में (बिंबों और संक्रियाओं की भाषा में) प्रस्तुत की जानी चाहिए, जबकि उच्च शिक्षा संस्थाओं के छात्रों के लिए संबंधित सूचना संप्रेषण के वाक्मूलक और प्रतीका-त्मक रूप ही काफ़ी होंगे। (बेशक इसका यह अर्थ नहीं कि समुच्चय

सिद्धांत की संकल्पनाओं के सूत्रीकरण का प्रतीकात्मक रूप बच्चों की पहुंच के कतई बाहर है। किंतु जब तक वे इस भाषा में पारंगत नहीं होते, तब तक उन्हें उपरोक्त संकल्पनाओं का परिचय वस्तुओं और क्रियाओं की भाषा में ही देना पड़ता है।)

शिक्षा-सामग्री का **तीसरा लक्षण** है उसकी **कठिनाई**, जो हृदयंगमन की कारगरता, गति और सटीकता को प्रभावित करती है। सामग्री के कठिन या सरल होने से सामान्यतः तात्पर्य यह होता है कि एक सामग्री छात्रों द्वारा अपेक्षया जल्दी और कम रिक्तियों और त्रुटियों के साथ सीख ली जाती है और दूसरी धीरे-धीरे और कहीं ज़्यादा रिक्तियों तथा त्रुटियों के साथ। अध्ययनों ने दिखाया है कि शब्दों और वाक्यों को अच्छी तरह सीख व याद करने की कठिनाई का सवाल स्वयं शब्दों और वाक्यों के अर्थ से उतना नहीं जुड़ा होता है, जितना कि उनके संदर्भ से। उदाहरण के लिए, "उसने खिड़की के पास जाकर बाहर सड़क की ओर झांका। वहां लोगों और मोटरगाड़ियों का तांता लगा हुआ था। शाम हो गयी थी" – इसे याद रखना कहीं आसान है बजाय इसके कि "उसने खान के पास पहुचकर अपने को देखा। बाहर लोग आ-जा रहे थे और मशीनें रेंग रही थीं। वातावरण गुंजायमान था"। इसका कारण यह है कि पहले प्रसंग में परवर्ती शब्दों और वाक्यों का काफ़ी हद तक पहले से अनुमान लगाया जा सकता है, जबकि दूसरे प्रसंग में यह काफ़ी अधिक कठिन है। इसी कारण अर्थहीन पाठ को याद करना भी कठिन होता है, चाहे उसमें सभी शब्द जाने-पहचाने ही क्यों न हों, जैसे "पास, लोगों, शाम, खिड़की, तांता, जाकर..." वगैरह। तब तो कुछ समझना, याद रखना बिल्कुल ही असंभव होता है, जब शब्दों को अर्थहीन हिज्जों में तोड़ दिया जाता है, जैसे "पा, गों, शा, खि, ता, र..." वगैरह। हर परवर्ती घटक की अननुमेयता और ऐसे अननुमेय सिलसिलों की संख्या बढ़ते जाने के साथ हृदयंगम करने की कठिनाई भी स्पष्टतः बढ़ती जाती है। अथवा, उदाहरण के लिए इस संख्या श्रेणी को लें: १३, १९, २५, ३१, ३७, ४३, ४९, ५५, ६१, ६७। इसे रट लेने के लिए कुछ ही बार दोहराना काफ़ी होगा। लेकिन अगर पता है कि हर परवर्ती और पूर्ववर्ती घटक के बीच छह का फ़र्क है और श्रेणी १३ से शुरू होकर दस घटकों के बाद खत्म हो

जाती है, तो इतनी सूचना इसके लिए पर्याप्त होगी कि हर अगली संख्या का सही अनुमान लगाया जा सके।

परवर्ती घटक की आंशिक अथवा पूर्ण अनुमेयता इसपर निर्भर होती है कि सीखी-याद की जा रही सामग्री में कोई न्यूनाधिक स्पष्ट नियमानुवर्तिताएं हैं कि नहीं। ये नियमानुवर्तिताएं अनुभव में (कारण-क्रम), तथ्यों में (ज्ञात क्रम), संकल्पनाओं, सिद्धांतों (नियम), आदि में प्रतिलक्षित हो सकती हैं। वे सभावित विकल्पों के आकारिक प्रतिबंधों से भी संबंधित हो सकती हैं, जैसे लय, पंक्ति की लंबाई, तुक, आदि के साथ। संभवतः यही कारण है कि कविताएं इतनी आसानी से याद हो जाती हैं।

सूचना सिद्धांत की एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थापना है: **सामग्री में क्रमबद्धता यानी नियमानुवर्तिता जितनी ही ज़्यादा होगी, उसका हर घटक अपने में, औसतन, उतनी ही कम सूचना लिये हुए होगा।** इससे निष्कर्ष निकलता है कि शिक्षा सामग्री का कोई हर घटक अपने में जितनी ही ज़्यादा सूचना लिये होगा, उसे याद करना उतना ही **कठिन** होगा। किसी सामग्री में कितनी सूचना निहित है, इस विषय में अलग-अलग लोगों के अलग-अलग मापदंड हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, "वोल्गा कैस्पियन सागर में गिरती है" – इसमें वयस्कों के लिए कोई नयी बात, नयी सूचना नहीं है। किंतु जिस बच्चे ने यह तथ्य पहली बार पढ़ा है, उसके लिए उसमें नयी सूचना है। अतः कोई शिक्षा सामग्री अपने में जो सूचना लिये होती है, उसका कम या ज़्यादा होना बहुत हद तक छात्र के पूर्व ज्ञान, अनुभव और योग्यताओं पर निर्भर करता है। इसलिए स्पष्ट है कि **किसी शिक्षा सामग्री का कठिन होना, अन्य परिस्थितियां समान होने पर, उसके साथ छात्र के पूर्व अनुभव, ज्ञान और योग्यताओं के संबंध से निर्धारित होता है।** सामग्री छात्र के लिए जितनी ही ज़्यादा परिचित होगी, उसे हृदयंगम करना उतना ही आसान होगा, अथवा विपरीत क्रम में।

चौथा लक्षण, जो शिक्षा सामग्री के हृदयंगमन को प्रभावित करता है, वह है सामग्री का **महत्त्व।** महत्त्व का तात्पर्य है दत्त सामग्री में निहित सूचना की छात्र के लिए आवश्यकता। कुछ तथ्य अथवा क्रियाएं अपने आप में अथवा अगली सामग्री के आत्मसात्करण की दृष्टि से आवश्यक

हो सकते हैं। वे किसी ऐसे कृत्यक की पूर्ति के लिए आवश्यक हो सकते हैं, जिससे छात्र का आगे चलकर साबिका पड़ेगा। वे छात्र के व्यवहार अथवा व्यक्तित्व के निश्चित गुणों के विकास की दृष्टि से भी आवश्यक हो सकते हैं। इस प्रकार "महत्त्व" की संकल्पना में ज्ञान के प्रवर्ग का भी समावेश होता है, उपयोगिता के प्रवर्ग का भी और मूल्य के प्रवर्ग का भी। महत्त्व प्रज्ञानमूलक, व्यावहारिक, नैतिक, सौंदर्यपरक, सामाजिक और शिक्षापरक, कुछ भी हो सकता है।

उल्लेखनीय है कि शिक्षा सामग्री के सामान्यतः महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ उसका स्वयं छात्र के लिए भी **महत्त्व** रखना ज़रूरी है, अर्थात् उसमें छात्र की आवश्यकताएं प्रतिबिंबित होनी चाहिए। तभी वह उसे सफलतापूर्वक हृदयंगम कर सकेगा। सामग्री को छात्र के लिए महत्त्वपूर्ण बनाने के वास्ते क्या विधियां इस्तेमाल की जाती हैं, यह अधिगम के सारतत्त्व के बारे में दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। कुछ मनोविज्ञानवेत्ता संबल को मुख्य साधन मानते हैं, दूसरे पुरस्कार को, तीसरे रुचि को, चौथे व्यावहारिक अथवा संज्ञानमूलक सक्रियता को, पांचवें आत्माभिव्यक्ति को, आदि। किंतु इन सभी संस्तुतियों का सार एक ही है– ऐसा रास्ता खोजना, जिससे कि बतायी जा रही सूचना छात्र के लिए अर्थवान, महत्त्वपूर्ण बन सके।

इसी से घनिष्ठ रूप में जुड़ा हुआ **पांचवां लक्षण** है– **बोधगम्यता।** प्रेक्षण और प्रयोग बताते हैं कि बोधगम्य सामग्री बेहतर (आसानी से, जल्दी और बहुत कम त्रुटियों के साथ) हृदयंगम की जाती है। ऐसी सामग्री दिमाग में ज़्यादा देर तक और पूर्णतर रूप में भी याद रहती है। बोधगम्य का क्या तात्पर्य है? क्या छात्र, मिसाल के लिए, गणित की पुस्तक में दी गयी इस परिभाषा को समझता है: "यदि किसी वृत्त का अर्धवृत्त **अ** उसका दायां आदर्श भी होता है और बायां आदर्श भी, तो इस अर्धवृत्त को वृत्त का **द्विपक्षी आदर्श** कहते हैं"? संभवतः यह छात्र के ज्ञान पर निर्भर करेगा। यदि वह समूह सिद्धांत जानता है अथवा कम से कम समझता है कि "वृत्त", "अर्धवृत्त", दायां और बायां "आदर्श" क्या होते हैं, तो उपरोक्त परिभाषा उसके लिए बोधगम्य होगी। अन्यथा वह उसके लिए काला अक्षर भैंस बराबर रहेगी।

इस प्रकार शिक्षा सामग्री की बोधगम्यता उसका आत्मसात्करण के कर्त्ता से निरपेक्ष, असंपृक्त लक्षण नहीं है। बोधगम्यता इसपर निर्भर करती है कि छात्र उन संकल्पनाओं, तथ्यों और क्रियाओं से परिचित है कि नहीं, जो सामग्री के विभिन्न घटकों को समझने और उनके बीच संबंध निरूपित करने के लिए आवश्यक हैं। इसके अलावा, बोधगम्यता की विभिन्न मात्राएं भी हो सकती हैं: "कोई ऐसी चीज़ ऐसी कहलाती है" जैसी अस्पष्ट समझ से लेकर संपूर्ण उपलब्ध सूचना को स्पष्ट ढंग से पुनर्व्यवस्थित करने की क्षमता तक। स्वयं बोधगम्यता और उसकी मात्रा **एक ओर नयी सामग्री और दूसरी ओर छात्र के अनुभव, ज्ञान, योग्यताओं तथा उसे ज्ञात क्रियाओं व संक्रियाओं के बीच मौजूद संबंधों पर निर्भर होती हैं।**

शिक्षा सामग्री का अगला **छठा लक्षण** है उसकी **संरचना।** यह कारक पूर्ववर्ती कारक से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। बोधगम्यता नये, अज्ञात के ज्ञात से संबंधों पर निर्भर होती है। सामग्री की संरचना जिस ढंग से **उसमें ये संबंध कायम किये जाते हैं**, उसे कहते हैं। उदाहरण के लिए, गुणन की क्रिया की समझ योग की क्रिया की समझ और उसे करने की योग्यता पर अवलंबित होती है। गुणन की क्रिया को यों समझा जाता है कि जैसे वह समान संख्याओं का कई बार योग करना है (३×४=३+३+३+३)। नयी क्रिया (गुणन) का ज्ञात क्रिया (योग) से संबंध कई प्रकार से दर्शाया जा सकता है। कई बार जोड़ने की मिसालों से शुरू करके गुणन की संकल्पना तक पहुंचा जा सकता है। अथवा गुणन की परिभाषा से शुरू करके दर्शाया जा सकता है कि कैसे वह कई बार जोड़ने की क्रिया के ही बराबर है। पहला तरीका सामग्री की **आगमनात्मक** संरचना देगा और दूसरा **निगमनात्मक** संरचना। यह **सामग्री की आकारपरक**, अर्थात **तार्किक संरचना है।**

संबंध संकल्पनाओं के बीच ही नहीं, वस्तुओं, बिंबों, परिघटनाओं के बीच भी स्थापित किये जा सकते हैं, जैसे, उदाहरण के लिए, समानता और अंतर, निकटता और दूरी, पहले और बाद, कारण और परिणाम। ये भौतिक, मानसिक अथवा अन्य प्रकार के संबंध होंगे। यह **सामग्री की अंतर्वस्तुमूलक** अथवा **अर्थमूलक संरचना है।**

अंततः, संबंध किसी भाषा के नियमों, उसके निश्चित, ज्ञात

सहसंबंधों तथा संयोगों के आधार पर भी स्थापित किये जा सकते हैं। मिसाल के लिए, गुणन तालिका यों ही हृदयंगम की जाती है। यह **सामग्री की विन्यासात्मक संरचना** होगी।

किसी भी संरचना को अन्य संरचनाओं से बेहतर नहीं पाया गया है। किंतु प्रयोगों से पता चला है कि किसी भी सामग्री का हृदयंगमन उसकी **संरचनात्मकता** बढ़ने, अर्थात उसके विभिन्न हिस्सों के तार्किक, अर्थमूलक और विन्यासात्मक संबंध बढ़ने के साथ आसान बन जाता है। सामग्री के नये और पुराने के बीच ऐसे संबंध जितने ज़्यादा होंगे, उतने ही घनिष्ठ रूप से बाद का हिस्सा पहले के हिस्से से जुड़ा होगा और सीखना-याद करना उतना ही आसान बनेगा। यही कारण है कि क्रमबद्धता शिक्षण का एक बुनियादी सिद्धांत है। प्रयोगों से पता चला है कि निरूपित एकांगी संबंध जटिल, बहुस्तरीय, बहुत कड़ियोंवाले संबंधों के मुकाबले अधिक सरलता से हृदयंगम कर लिये जाते हैं। शायद यही कारण है कि बहुत से गणितीय प्रमेयों, प्रमाणों और विधियों को सीखने-याद करने में छात्र कठिनाई अनुभव करते हैं। कठिनाई तब भी पैदा होती है, जब संबंध स्पष्टतः निर्दिष्ट न होकर तथ्यात्मक और वर्णनात्मक सामग्री की आड़ में छिपे होते हैं। ऐसा इतिहास और भूगोल की सामग्री को याद करते वक्त प्रायः होता है। हृदयंगमन में थोड़ी-बहुत भूमिका सामग्री के विभिन्न भागों के विन्यास की भी होती है। मिसाल के लिए, शुरू और अंतवाले हिस्से जल्दी याद हो जाते हैं और बीचवाले हिस्से बाद में। सहवर्ती घटकों में संबंध ज़्यादा मज़बूती से क़ायम हो जाता है, बजाय दूरवर्ती घटकों के।

शिक्षा-सामग्री के हृदयंगमन पर प्रभाव डालनेवाला **सातवां** कारक है इस सामग्री का **परिमाण**, यानी उसमें सीखी-याद की जानेवाली चीज़ों की **संख्या**। अर्थहीन सामग्री में सीखे-याद किये जानेवाले घटकों की संख्या का पता करना कठिन नहीं होता। यदि अर्थहीन अक्षर याद किये जाते हैं, तो यह ऐसे अक्षरों की ही संख्या होगी (बेशक शर्त यह है कि उन सब में एक ही जितने वर्ण अथवा ध्वनियां हों)। राशियां याद करने में यह राशि में सम्मिलित अंकों की संख्या अथवा राशियों की संख्या होगी (यदि उन सब में एक जितने अंक हैं)। कठिनाई उस सामग्री का परिमाण तय करने में होती है, जिसमें अर्थ को ध्यान

में रखा जाता है, क्योंकि अर्थपरक हृदयंगमन में हमेशा सामग्री को चिंतन के स्तर पर पुनर्व्यवस्थित किया जाता है। वह छात्र के अनुभव और ज्ञान के अनुरूप क्रमबद्ध और गठित की जाती है। ऐसी सामग्री में गौण अंशों को छोड़ दिया जाता है और अर्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थलों पर ध्यान केंद्रित किया जाता है, पूरे के पूरे अंशों के साथ उनका सारांश लिया जाता है और सूचना का जटिल संसाधन होता है। इसलिए शिक्षा सामग्री के अलग-अलग घटकों को गिनना काफ़ी नहीं है, क्योंकि छात्र जो किताब में लिखा है, उसे नहीं, बल्कि उसे याद करता है, जो उसके बौद्धिक संश्लेषण-विश्लेषण का फल होता है और अपने अनुभव के आधार पर जिसे वह महत्त्वपूर्ण मानता है। बेशक यह सब हर किसी के मामले में अलग-अलग ढंग से होता है। सीखी-याद की जानेवाली सामग्री का परिमाण केवल अप्रत्यक्ष रूप से, **नयी संकल्पनाओं अथवा संक्रियाओं की संख्या** की दृष्टि से ही मापा जा सकता है। उसे उसमें स्थापित किये जानेवाले **संबंधों की संख्या** अथवा उसमें निहित तर्कों व **निष्कर्षों की संख्या** के अनुसार भी मापा जा सकता है।

शिक्षा सामग्री के अर्थपरक परिमाण के बढ़ने से उसके मानसिक संसाधन और हृदयंगमन की कठिनाई भी बढ़ जाती है।

अंत में एक और कारक का उल्लेख आवश्यक है। यह है शिक्षा सामग्री का **संवेगात्मक पक्ष।** इसमें अन्य बातों के अलावा सामग्री की रोचकता और छात्र में खास तरह की भावनाएं एवं अनुभूतियां जगाने की उसकी क्षमता शामिल की जाती हैं। अध्ययनों से पता चला है कि प्रबल सकारात्मक भाव जगानेवाली सामग्री आवेगहीन और उबाऊ सामग्री के बजाय आसानी से हृदयंगम होती है। नकारात्मक संवेगों (घृणा, जुगुप्सा, भय, क्रोध) से संबंधित सामग्री को हृदयंगम करना आवेग-हीन सामग्री की तुलना में कभी आसान होता है, तो कभी कठिन। संभवतः इसमें सब कुछ इसपर निर्भर होता है कि भावनाएं सामग्री ने पैदा की हैं या वे सामग्री को देखकर पैदा हुई हैं। उदाहरण के लिए, भय का भाव यदि किसी उपन्यास के दृश्य ने पैदा किया है, तो वह दृश्य निर्विकार वर्णन से बेहतर याद रह जायेगा, लेकिन अगर भय का भाव जटिल फ़ार्मूलों को देखकर पैदा हुआ है, तो उन फ़ार्मूलों को याद करने में काफ़ी कठिनाई हो सकती है।

यदि शिक्षा सामग्री हृदयंगमन की आधारभूत पूर्वापेक्षा है और आंतरिक अभिविन्यासक शर्त है, तो **पुनरावृत्ति** और **अभ्यास** उसके मुख्य **साधन** होंगे। वे आत्मसात् की जा रही सामग्री और क्रियाओं के स्मृति और व्यवहार में स्थिरांकन के लिए आवश्यक हैं। किंतु बहुत से प्रयोगों और अध्ययनों से पता चला है कि बार-बार दोहराने से वांछित परिणाम नहीं भी निकल सकता है। विशेषतः यह पाया गया है कि यदि छात्र को क्रियाओं के परिणामों के बारे में बताया नहीं जाता, उनके गलत या सही होने पर उसका ध्यान नहीं दिलाया जाता, तो वह उन क्रियाओं को कितनी ही बार दोहरा ले, इससे कोई लाभ नहीं होगा, कोई सुधार नहीं आयेगा। फलस्वरूप, पुनरावृत्ति सूचना को मस्तिष्क में अंकित करने के लिए ही नहीं, बल्कि ज्ञान और क्रियाओं को **अधिक सटीक व परिष्कृत करने के लिए भी की जानी** चाहिए। पुनरावृत्ति प्राप्त परिणामों की जांच व सुधार का साधन है। इसके अलावा वह **शिक्षा सामग्री के विभिन्न घटकों के आपसी और छात्र के अनुभव के साथ नये-नये संबंधों को जानने का साधन भी है।** पहले के फलस्वरूप सामग्री में निहित सूचनाओं की संख्या में कमी आती है और दूसरे की बदौलत यह सूचना अधिक सारगर्भित बनती है।

इस प्रकार पुनरावृत्ति दोहरी भूमिका अदा करती है। एक तो वह **सूचना में कटौती, कमी करती है और उसे छात्र के अनुभव में समाविष्ट कर देती है** और, दूसरे, वह स्वयं **हृदयंगमन के परिणामों के बारे में सूचना** पाने की संभावना प्रदान करती है। इसलिए सीखने-याद करने में सहायक सक्रिय पुनरावृत्ति एक ही चीज़ को कई बार एक ही तरह से समझना, पढ़ना या करना नहीं है। सक्रिय पुनरावृत्ति में छात्र का मानसिक रूप से हर बार कुछ भिन्न, नयी सामग्री से साक्षात्कार होता है – नयी इसलिए कि बौद्धिक संसाधन उसे समृद्धतर बना देता है और उसमें वे संबंध भी उजागर हो जाते हैं, जो पहले ज्ञात नहीं थे।

शिक्षण में प्रतिपुष्टि

अधिगम की गति प्रतिपुष्टि के आधार पर नियमित होती है, यानी परिणामों की नियमित अथवा नियतकालिक जांच होती रहती है। शिक्षण में ऐसी जांच का मुख्य साधन छात्रों के उत्तर व क्रियाएं, उनके सही होने की मात्रा और गलतियों की संख्या होती हैं। शैक्षिक सक्रियता की कारगरता का नियमन काफ़ी हद तक १) छात्रों द्वारा सही उत्तर व क्रियाओं की खोज, २) त्रुटियों के संकेतन, ३) इन त्रुटियों के सुधार और ४) गलतियों पर अध्यापक की प्रतिक्रिया के तरीक़ों और रूपों पर निर्भर होता है।

जैसा कि शिक्षण के सिद्धांत और व्यवहार का विश्लेषण दिखाता है, छात्र द्वारा उत्तर की खोज स्वतःनिर्माण (छात्र द्वारा उत्तर का स्वयं निरूपण) अथवा विकल्प के चयन (कई प्रस्तावित तैयार उत्तरों में से किसी एक सही उत्तर का चयन) का रूप ले सकती है।

त्रुटियों को बताने के तरीक़े हैं: **प्रत्यक्ष संकेतन** (त्रुटियां सीधे-सीधे बताना) और **अप्रत्यक्ष संकेतन** (छात्र द्वारा अपने उत्तर की सही उत्तर के साथ तुलना करके त्रुटियां मालूम करना)।

त्रुटि-सुधार **तत्काल संशोधन** (सही उत्तर तुरंत बताना), **अंत में संशोधन** (सभी प्रश्नों का उत्तर पा लेने के बाद ही सही उत्तर बताना), सहायता (अतिरिक्त सूचनाएं और तथ्य बताना, जो त्रुटियों को समझने व सुधारने में सहायक हो सकें) अथवा **खोज** (त्रुटि का संकेत मिलते ही स्वयं सही उत्तर की खोज) द्वारा किया जा सकता है।

अधिगम के नियमन की किसी भी विधि को सार्विक या सर्वोत्तम नहीं कहा जा सकता। कुछ प्रबोधात्मक कृत्यकों के निष्पादन में अधिक कारगर सिद्ध होती हैं, तो कुछ अन्य कृत्यकों के निष्पादन में। इससे शिक्षण की प्रक्रिया का कार्यक्रम बनाने और नियमन करने में इन विधियों के इष्टतम सम्मिश्रण की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

अध्याय ८*

शिक्षण के मुख्य भेदों का मनोविज्ञान

§१. दक्षता का शिक्षण

शिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण भेद है वस्तुओं या यथार्थ परिस्थितियों के संकेतमूलक गुणधर्मों तथा व्यक्ति की प्रत्युत्तरात्मक क्रियाओं के बीच अनुकूलित परावर्त्ती संबंधों की स्थापना। इन संबंधों की विशिष्टता यह है कि वे व्यावहारिक अनुभव से उत्पन्न होते हैं तथा बाह्य अथवा आंतरिक परिस्थितियों के प्रभाव में स्वतः "क्रियाशील" हो जाते हैं। अनुकूलित परावर्ती संबंधों की ऐसी प्रणालियां ही दक्षताओं के मूल में निहित होती हैं और ये दक्षताएं अधिकांशतः अचेतन रूप से, स्वतः ही क्रियाओं में प्रकट होती हैं। ये दक्षताएं क्रियाओं के निश्चित पक्षों–गतिप्रेरक पूर्ति, संवेदी नियंत्रण तथा केंद्रीय (मानसिक) कड़ी–का नियमन करती हैं।

कार्यकलापों में दक्षताओं की भूमिका

उपरोक्त प्रकार्यों में से प्रत्येक की सिद्धि मनुष्य सचेतन या अचेतन रूप से करता है। उदाहरणतः, शब्द का उच्चारण करने के लिए कंठ की गतियों की प्रणाली की मनुष्य को चेतना नहीं होती। नियमतः किसी भी गति के लिए मांसपेशियों में जो संकुचन, आदि होता है, उस सबकी मनुष्य को कोई चेतना नहीं होती। परंतु मनुष्य जिस शब्द का

---

* इस अध्याय का अनुवाद श्री योगेन्द्र नागपाल ने किया है। – सं०

उच्चारण करने जा रहा होता है, उसकी ध्वनि का पूर्वाभास उसकी चेतना में होता है। नियमतः **क्रियाओं के अंतिम लक्ष्यों** तथा **उनके सामान्य स्वरूप** की चेतना होती है। जैसे कि मनुष्य अचेतन अवस्था में कार नहीं चला सकता। कुल जमा यह बात उसके मस्तिष्क में होनी चाहिए कि वह कहां, किस रास्ते से, किस रफ़्तार से जा रहा है। यही बात किन्हीं भी श्रममूलक, क्रीड़ामूलक तथा अन्य क्रियाओं पर लागू होती है।

सो, एक ओर तो **मनुष्य की कोई भी क्रिया पूर्णतः स्वचालित नहीं होती**, क्योंकि कार्यकलाप के एक घटक के नाते अंततः यह सचेतन उद्देश्य से ही प्रेरित और नियंत्रित होती है। दूसरी ओर, वस्तुतः मनुष्य की प्रत्येक क्रिया दक्षताओं की बदौलत अंशतः स्वचालित होती है, क्योंकि मनुष्य को कभी भी क्रिया के नियमन, पूर्ति और नियंत्रण के सभी तत्त्वों (जैसे कि मांसपेशियों के आवश्यक संकुचनों) की चेतना नहीं होती। आंशिक स्वचालीकरण बहुत महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि इससे किसी भी कार्यकलाप की **पूर्ण पूर्ति सरल** होती है। उदाहरणतः, साइकिल को संतुलित रखने की गतियां स्वचालित होने के फलस्वरूप साइकिल-सवार सड़क पर यातायात, सड़क के उतार-चढ़ाव, घुमाव, आदि की ओर अधिक ध्यान दे सकता है और इस तरह अपनी क्रियाओं का अधिक सचेतन नियमन कर सकता है। पियानोवादक की गतियों के स्वचालित होने से वह अपना वादन-कौशल बढ़ा सकता है। क्रिया के कतिपय पक्षों के स्वचालीकरण से उसकी संरचना परिवर्तित, परिष्कृत होती है।

दक्षताओं का संबंध सदा क्रियाओं की पूर्ति की **युक्तियों** से होता है, उसके उद्देश्य और परिस्थितियों से नहीं। स्वचालीकरण के फलस्वरूप चेतना गतिप्रेरक, संवेदी और बौद्धिक संक्रियाओं की पूर्ति पर नियंत्रण से मुक्त हो जाती है, जिनसे मिलकर ही क्रिया बनती है। इस दृष्टि से क्रिया की **पूर्ति** स्वचालित होती है। परन्तु वे **उद्देश्य**, जिनके लिए क्रिया होती है, वे **परिस्थितियां**, जिनमें क्रिया होती है, और उसके **परिणाम** भी चेतना के क्षेत्र में बने रहते हैं और अग्रभूमि में आ जाते हैं। इस दृष्टि से क्रिया की पूर्ति **अधिक सचेतन** बनती है।

क्रिया के जो पहलू आंशिक रूप से स्वचालित होते हैं, उनके अनु-

सार ही दक्षताओं के विभिन्न भेद माने जाते हैं। दक्षताएं **संवेदी** हो सकती हैं। इनके उदाहरण हैं: पढ़ते समय अक्षरों के रूपों में भेद, सुनते समय स्वनिमों में भेद, इंजन-चालक द्वारा सुनते हुए इंजन के कार्य पर नियंत्रण रखना, ड्राइवरों, पायलटों द्वारा देखते हुए दूरी और रफ़्तार का अनुमान लगाना, चमार द्वारा छूकर चमड़े की गुणवत्ता निर्धारित करना, आस्वादक द्वारा चखकर खाद्य पदार्थ की किस्म निर्धारित करना।

जब मांसपेशियों का कार्य स्वचालित होता है, तो इसे **गतिप्रेरक** दक्षता कहा जाता है। इसके उदाहरण हैं: टाइपिस्ट द्वारा की-बोर्ड की ओर देखे बिना ही टाइप करना; पियानोवादक द्वारा पियानो की स्वरकुंजिकाओं की ओर देखे बिना ही वादन करना; साइकिल, मोटरसाइकिल चलाना, आदि। यदि दोनों तरह के कार्यों का मेल हो, अर्थात जब गतिप्रेरक कार्य दृष्टि अथवा श्रवण-शक्ति के नियंत्रण में स्वचालित रूप से होता है, तो इसे **संवेदी-गतिक** दक्षता कहते हैं। इसके उदाहरण हैं: लिखना, चित्रकारी करना, कार चलाना, वायुयान अवतरित करना, लकड़ी पर रंदा चलाना, आदि। बौद्धिक कार्य से संबंधित दक्षता **बौद्धिक** कहलाती है (गिनना, उपकरणों की रीडिंग लेना)। अधिक व्यापक अर्थ में निश्चित किस्म के सवाल हल करने की, तार्किक चिंतन की दक्षता का उल्लेख किया जा सकता है।

दक्षताओं के विकास की परिस्थितियां और स्रोत

प्रत्यक्षत:, दक्षताओं के बनने के मूल में परीक्षणात्मक प्रयास और चयन ही निहित होते हैं। मनुष्य, निश्चित संकेतों को ध्यान में रखते हुए कोई क्रिया करने की कोशिश करता है, उसका परिणाम नियंत्रित करता है। सफल गतियां, उपयुक्त निकले संकेत और नियमन की रीतियां शनै:शनै: चुनी जाती हैं और चेतना में बैठ जाती हैं; असफल और अनुपयुक्त का दमन होता है। इस तरह बारंबार किये जानेवाले व्यावहारिक प्रयासों के बिना किसी भी दक्षता का विकास असंभव है।

इस तथ्य के आधार पर कुछ बुर्जुआ मनोविज्ञानवेत्ता, विशेषत: व्यवहारवादी मनुष्य और पशुओं की अधिगम प्रक्रियाओं को, और सर्वप्रथम दक्षता के विकास की प्रक्रियाओं को सिद्धांतत: एक जैसी ही

मानते हैं। किंतु शरीरक्रियात्मक तंत्र की समानता के पीछे इन प्रक्रियाओं में सिद्धांततः जो भेद है, उसे नज़रंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए। मनुष्य द्वारा क्रिया की पूर्ति सदा किसी न किसी तरह चेतना द्वारा नियमित होती है। यही कारण है कि पशुओं में भी पाई जानेवाली प्रक्रियाओं का, मनुष्य के मामले में सिद्धांततः भिन्न स्वरूप होता है। उसके व्यावहारिक प्रयास निश्चित गतियों को दोहराने की सचेत कोशिशों के रूप में होते हैं। परिणामों का नियंत्रण, परिस्थितियों का मूल्यांकन, क्रियाओं का संशोधन – यह सब भी निश्चित हद तक सचेतन होता है। इससे **अनुसंधानात्मक प्रयत्नों के स्रोत** भी बदलते हैं। अनुकरण सीखी जा रही क्रियाओं के प्रतिमान के सचेतन सोद्देश्य **प्रेक्षण** पर आधारित होने लगता है। और सबसे बड़ी बात युक्तियों का चयन और नियमन इन क्रियाओं की अंतर्वस्तु की **धारणा** और इनके उद्देश्य की **समझ** पर निर्भर करने लगते हैं।

सोवियत मनोविज्ञानवेत्ता और शिक्षाशास्त्री शिक्षण की ऐसी सक्रिय रीतियों का सघन अध्ययन कर रहे हैं। इन रीतियों में आते हैं: **विभेदित प्रदर्शन और विस्तृत अनुदेश, विशेष अनुदेशन कार्ड, प्रशिक्षण उपकरण, यांत्रिक सांचे तथा गति निदेशक**, आदि। प्रयोगों से पता चलता है कि यदि **छात्र को** पहले से **आवश्यक गतियों के रूप**, क्रिया के **नियंत्रण के ऐंद्रिक संकेतों** तथा **क्रिया के नियोजन की युक्तियों से परिचित करा दिया जाये**, तो वह ये क्रियाएं जल्दी सीख जाता है और तत्संबंधी दक्षता का विकास भी अधिक शीघ्रता से होता है। और यदि **क्रिया की पूर्ति प्रत्येक कदम पर** अनुदेश के ऐसे बाह्य साधनों द्वारा नियमित होती है, तो परिणाम और भी अधिक अच्छे होते हैं। अंततः, संवेदी और बौद्धिक क्रियाओं के आंतरिक नियमन और नियंत्रण की युक्तियों को आत्मसात् करने के लिए तत्संबंधी सूचना का **छात्र की अपनी वाणी में** रूपांतरण भी प्रत्यक्षतः बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। यहां निम्न रीतियां सर्वाधिक महत्त्व की हैं: छात्र नियत कार्य, उसकी पूर्ति की युक्तियों और योजनाओं को बोलकर बताये; क्रिया की पूर्ति के दौरान मौखिक रूप से अपने आप को अनुदेश दे; गलतियों का, उनके कारणों और गलतियां सुधारने के तरीकों का बोलकर विश्लेषण करे; जो क्रियाएं वह कर रहा है, जो संकेत और हल उसने चुने

हैं, उन्हें बताता जाये ; क्रिया की रीतियां चुनने का कारण **मौखिक** और लिखित रूप से बताये, इत्यादि। इन उद्देश्यों के लिए **वागेतर भाषाओं** का भी प्रयोग किया जा सकता है, जैसे कि क्रिया की संरचना के खाके, संकेतों के मानचित्र, आवश्यक तर्क-वितर्क के सूत्र और खाके, गतियों के पथ तथा संक्रियाओं की क्रमिकता के ग्राफ़, क्रिया की युक्तियों अथवा उसके परिणामों का नियंत्रण करने के लिए आवश्यक मानकों की तालिकाएं।

दक्षताओं के विकास की प्रक्रिया

मनुष्य में दक्षता का विकास **सचेतन रूप से स्वचालित की जा रही क्रिया** के रूप में होता है। दक्षता के फलस्वरूप चेतना क्रिया की पूर्ति की **युक्तियों** पर नियंत्रण से मुक्त हो जाती है तथा क्रिया के उद्देश्यों और परिस्थितियों पर ही केंद्रित होती है।

छात्र द्वारा नयी संक्रिया को दोहराने के अभ्यास में उसके मानसिक और व्यावहारिक कार्य की संरचना अपरिवर्तित नहीं रहती। पहले प्रयासों में छात्र का वास्ता नयी क्रिया से होता है। अभी उसने केवल यह देखा और समझा है कि यह क्रिया कैसे की जाती है। आवश्यक संक्रियाएं स्वयं करने के लिए यह ज़रूरी है कि छात्र अध्यापक के निर्देशों तथा अवबोधित बिंबों को गतियों का रूप दे। ऐसे प्रयास करते हुए और परिणामों को नियंत्रित करते हुए, गलतियों को देखते और सुधारते हुए छात्र पहली बार कृत्यक के गतिप्रेरक सार और उसके संकेतों को सही तौर पर समझने लगता है, उसकी पूर्ति की रीतियों को "मांसपेशियों से अनुभव करने" लगता है, नियंत्रण की कारगर रीतियां पाता है। "क्रिया के दृश्य" में गतियों के नियमन के लिए आवश्यक मांसपेशीय अनुभूतियां और संवेदी संकेत समाविष्ट हो जाते हैं। यहीं पर सबसे बड़ी कठिनाई पर विजय पाई जाती है: क्रिया कैसे की जानी चाहिए, इसकी बिंबात्मक-तार्किक धारणा क्रिया की व्यावहारिक पूर्ति से जुड़ती है। इस आधार पर संक्रिया का गतिमूलक-ऐंद्रिक बिंब बनता है और उसकी वस्तु-मूलक-बौद्धिक समझ, अर्थात क्रिया का वह मानसिक "मॉडल", जो उसकी पूर्ति का नियमन करता है। अगले प्रयास करते समय छात्र के मन में

तत्संबंधी कृत्यक की पूर्ति के लिए आवश्यक क्रियाएं करने और उनका नियमन करने के बारे में ऐंद्रिक-गतिमूलक धारणा होती है। अब तत्सं-बंधी संक्रियाएं कहीं अधिक तेज़ी से और बेहतर ढंग से होती हैं। इसके आगे के प्रयासों में हर नये अभ्यास के साथ क्रिया की अभिपूर्ति की युक्तियों में कोई विशेष आंतर नहीं आता। अनावश्यक गतियां छंट जाती हैं, गलत गतियां सुधारी जाती हैं, परस्पर संबंधित गतियां एक गति में मिल जाती हैं। क्रिया के संवेदी नियमन और केंद्रीय नियमन की युक्तियां भी परिष्कृत हो जाती हैं और वे संवेदी संश्लेषणों, अंतः-प्रज्ञा, आदि का रूप धारण कर लेती हैं। युक्तियों का अधिकाधिक मानकीकरण होता है, उनकी पूर्ति अधिकाधिक हद तक स्वचालित होती जाती है, वह चेतना के नियंत्रण से मुक्त हो जाती है और अनुकूलित परावर्ती प्रतिक्रियाओं की भांति घटित होती है। क्रिया की पूर्ति, नियंत्रण और नियमन की प्रमुख युक्तियों के स्वचालीकरण के फलस्वरूप चेतना मुक्त हो जाती है। अब इच्छानुसार क्रियाओं की गति बदलना, उन्हें परिवर्तनशील कृत्यकों के अनुरूप बनाना, नई परिस्थितियों और वस्तुओं पर लागू करना संभव हो जाता है।

दक्षताओं के शिक्षण के तरीके

अनुकूलित परावर्ती संबंधों का विकास **संवेदी विभेदीकरण** (सा-मान्य अनुकूलित प्रतिवर्त) या **गतिप्रेरक विभेदीकरण** (उपकरणीय अनुकूलित प्रतिवर्त) के ज़रिये हो सकता है। दक्षता का विकास इन प्रक्रियाओं में से किस पर आधारित है उसी के अनुसार **दक्षता के शिक्षण** के दो मुख्य तरीके हैं। यदि संवेदी विभेदीकरण को आधार माना जाता है, तो मुख्य बात है **क्रिया के संकेत** सिखाना और उनके अवबोधन का स्वचालीकरण करना। उदाहरणतः, पढ़ना सिखाते समय उन तत्त्वों पर ध्यान दिलाना चाहिए, जो प्रत्येक अक्षर दूसरे अक्षरों से अलग करते हैं ('व' और 'ब'–एक में गोला खाली है, दूसरे में कटा हुआ; 'व' और 'क'–'क' के पूंछ है, इत्यादि)। यहां मुख्य **अभ्यास भेद करने के** अभ्यास होने चाहिए। उदाहरणतः, विभिन्न मिलते-जुलते अक्षरों का नाम लेना, ऐसे अक्षरोंवाले पाठ पढ़ना। यदि

गतिप्रेरक विभेदीकरण को आधार माना जाता है, तो मुख्य बात है निश्चित वस्तु (अथवा कृत्यक) से संबंधित क्रिया के सभी घटकों पर बारीकी से गौर करना; यहां **क्रिया सिखाई जाती है** और उसे स्वचालित बनाने की कोशिश की जाती है। इस मामले में वही पाठन दूसरी तरह आयोजित होना चाहिए: एक साथ ही कई अक्षर (शब्द, सूत्र, सवाल, संख्याएं) बताना और उनकी तुलना करना आवश्यक नहीं, एक बार में केवल एक ही अक्षर बताया जाता है, उसे अच्छी तरह सही प्रतिक्रिया से जोड़ा जाता है (अनेक बार एक ही अक्षर बोलना) तथा उसे पूरी तरह सीख लेने पर ही अगला अक्षर बताया जाता है।

शिक्षण के आयोजन से अपेक्षाएं भी इस तरह भिन्न-भिन्न होंगी। यदि संबंध का विकास संबल पर आधारित है, तो **हल किये जा रहे कृत्यकों के प्रति रुचि जगाना, उनका महत्त्व और उपयोगिता समझाना, दक्षता पाने का सचेतन लक्ष्य सामने रखना आवश्यक है।** यदि प्रमुख शर्त पुरस्कार को ही माना जाता है, तो **प्राप्त परिणामों के बारे में निरंतर सूचित करना और सही क्रियाओं के लिए प्रोत्साहन देना** आवश्यक है।

अभ्यासों की रचना भी इस बात पर निर्भर होती है कि इनके मूल में परावर्ती शिक्षण का कौन सा भेद निहित है। यदि विभेदीकरण और संबल प्रमुख हैं, तो अभ्यास **अर्थपूर्ण, बोधगम्य कृत्यकों पर आधारित और सर्वविध स्वरूप** के होने चाहिए। इस तरह, पढ़ना शब्दों से और फिर अर्थपूर्ण पाठों से और लिखना वर्णों से और फिर पाठों से सिखाया जाता है तथा श्रम के पाठों में उपयोगी वस्तुएं बनायी जाती हैं। यदि गतिप्रेरक विभेदीकरण और पुरस्कार मुख्य हैं, तो **रूपप्रधान वस्तुओं पर आधारित विश्लेषणात्मक स्वरूप** के अभ्यास लाभदायक होते हैं। तब पढ़ना अर्थहीन अक्षरों और अक्षरसमूहों से सिखाया जाता है और फिर शब्दों पर आते हैं। लिखना सिखाने के लिए पहले सीधी, गोल रेखाएं, आदि बनानी सिखायी जाती हैं। श्रम का शिक्षण विभिन्न "शुद्ध" युक्तियों से शुरू होता है (रेती पकड़ना, रेती चलाना, रेती से सतह रगड़ना)।

अंततः आत्मसात् की जा रही दक्षताओं की **मात्रा, कठिनाई और परिमाण** भी शिक्षण की मूल अवधारणा पर, विशेषतः दोहराने

की भूमिका के प्रश्न के हल पर निर्भर होता है। यदि दोहराने का सार छाप बिठाना समझा जाता है, तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि छात्र द्वारा की जानेवाली गलतियां उसकी चेतना में "बैठ" जाती हैं। अतः गलती होने की संभावना रोकनी चाहिए। इस स्थिति में ऐसे कृत्यक ही दिये जाते हैं, जिन्हें हल करने में छात्र प्रत्यक्षतः सक्षम होते हैं, जटिल सामग्री का अधिकतम विखंडन किया जाता है, अत्यंत सावधानी से और शनैःशनै ही नयी सामग्री की ओर बढ़ा जाता है। इस अवधारणा का नारा है: "गलतियों से प्रशिक्षण कठिन होता है – गलतियां मत होने दीजिये!" यदि दोहराने का सार विभिन्न क्रियाओं को परखना माना जाता है, तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गलतियों से सही क्रियाएं ढूंढने में मदद मिलती है। इस धारा का नारा है: "गलतियों से ही सीखा जाता है – गलतियों से डरें नहीं!" इस तरीके की अपेक्षा यह है कि शिक्षण के लिए छात्र को दिये जानेवाले कार्य उसकी पहुंच के भीतर, परंतु कठिन हों।

सो, दक्षता के कारगर शिक्षण के बारे में दो अवधारणाएं हैं। एक अवधारणा ऐंद्रिक संकेतों पर अवलंबन की अपेक्षा करती है। इसके अनुसार अभ्यास बार-बार बदलनेवाले सर्वांगीण अर्थपूर्ण कृत्यकों पर आधारित होने चाहिए। इन कृत्यकों की पूर्ति की प्रेरणा उद्देश्य के ज्ञान और उसकी प्राप्ति की इच्छा से मिलनी चाहिए। और इसका तरीका है सही क्रियाओं को खोजना और परखना, गलतियों का विश्लेषण करना और उन्हें दूर करना। इस विधि को **संश्लेषणात्मक** कहा जा सकता है। दूसरी अवधारणा गतिमूलक क्रियाओं पर अवलंबन की अपेक्षा करती है। इसके अनुसार अभ्यास मानकीय बुनियादी रूपप्रधान कृत्यकों पर आधारित होने चाहिए। इनकी पूर्ति की प्रेरणा परिणाम के ज्ञान से तथा इस परिणाम की प्राप्ति पर मिलनेवाले पुरस्कार से मिलनी चाहिए। और इसका रास्ता है सही क्रिया के तत्त्वों की चेतना में संपुष्टि तथा क्रमशः संपूर्ण क्रिया में उनका संगठन। इस विधि को **विश्लेषणात्मक** कहा जा सकता है।

ये दोनों अवधारणाएं शिक्षा सिद्धांत तथा स्कूलों के व्यवहार में व्यापक रूप से प्रतिबिंबित हुई हैं। पहली अवधारणा स्कूलों में **संश्लेषणात्मक अर्थप्रधान विधि** के रूप में प्रस्तुत है (शब्दों से पढ़ना सिखाने

की विधि, विदेशी भाषा के शिक्षण में संदर्भ विधि)। उत्पादनमूलक शिक्षण में यह विधि वस्तुप्रधान प्रणाली के रूप में प्रस्तुत है। दूसरी अवधारणा **घटकमूलक रूपप्रधान विश्लेषणात्मक विधि** में पाई जाती है (पढ़ना सिखाने में अक्षर जोड़ने की विधि, विदेशी भाषाओं के शिक्षण में शब्दकोशीय विधि, इत्यादि)। उत्पादनमूलक शिक्षण में इस अवधारणा की अभिव्यक्ति संक्रियात्मक प्रणाली में होती है।

मनोविज्ञानवेत्ताओं और शिक्षाशास्त्रियों ने उपरोक्त अवधारणाओं के सभी कारकों का विस्तृत अध्ययन किया है। उन्होंने क्रिया के संकेतों को आत्मसात् करने तथा घटक-घटक करके गतियां सीखने की भूमिका परखी। उद्देश्यों के ज्ञान और परिणाम के ज्ञान के प्रभाव का पता लगाया। लक्ष्य और पुरस्कार का महत्त्व आंका। सरल और कठिन कृत्यकों की, आंशिक और संपूर्ण, रूपप्रधान और अर्थप्रधान अभ्यासों की कारगरता की तुलना की। गलतियों को होने न देने और गलतियों के विश्लेषण के आधार पर शिक्षण कार्य किया।

पता चला कि इन कारकों में से प्रत्येक दक्षता के निर्माण में सहायक होता है। इस प्रश्न का उत्तर देना कहीं अधिक कठिन था कि इन पथों में से कौन सा "अधिक अच्छा" है। विश्लेषणात्मक विधि में पहले तो काम अधिक जल्दी से और आसानी से होता है, दक्षताएं सुस्पष्ट, सही और सुदृढ़ होती हैं। परंतु फिर भिन्न तत्त्वों को संपूर्ण क्रिया में संगठित करते समय कठिनाइयां पैदा होती हैं, शिक्षण की गति धीमी पड़ जाती है और निर्मित दक्षताओं में "लोच" नहीं पायी जाती। इसके विपरीत संश्लेषणात्मक विधि में पहले तो काम सामान्यतः धीरे तथा कठिनाई से होता है, छात्र बहुत सी गलतियां करते हैं, क्रियाओं में "सफ़ाई" नहीं होती। परंतु फिर शिक्षण की गति तीव्र होने लगती है, और छात्रों की जो दक्षताएं बनती हैं, उनमें लचक होती है, वे सहज ही विभिन्न परिस्थितियों में इनसे काम ले पाते हैं।

बहुसंख्यक अनुसंधानों के अंतिम परिणामों के आधार पर इन विधियों में से किसी को भी दूसरी से श्रेष्ठ कहना कठिन है। क्रिया की अंतर्वस्तु, छात्रों की व्यक्तिगत विशिष्टताएं, अध्यापक का व्यक्तित्व, आदि अन्य कारकों का प्रभाव इन विधियों के भेद से कहीं अधिक प्रबल पाया जाता है।

§२. शिक्षण की प्रक्रिया में ज्ञान और संकल्पनाओं का बनना

अन्तरण की समस्या शिक्षा मनोविज्ञान की एक केंद्रीय समस्या है। सीखी गयी क्रियाओं को नये कृत्यकों पर लागू करने, अंतरित करने का अर्थ है कम से कम गलतियों के साथ और शीघ्र ही नये कार्यकलाप सीखना। सीखी हुई क्रियाओं को व्यक्ति जितनी अधिक नयी वस्तुओं पर प्रयुक्त कर सकता है, उतने ही अधिक कृत्यकों का निष्पादन वह अपनी उपलब्ध दक्षताओं से कर सकता है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति द्वारा सीखी गई क्रियाओं का अंतरण जितना अधिक व्यापक और सही होता है, उसके शिक्षण के परिणाम उतने ही फलप्रद होते हैं, अपनी सक्रियता में उसे उनसे उतनी ही अधिक कारगर सहायता मिलती है।

ज्ञान और संकल्पनाओं के बनने में शिक्षण के मूल तत्त्व

नयी वस्तुओं, परिस्थितियों और कृत्यकों पर क्रियाओं के सही और सफल अन्तरण का आधार ज्ञान ही है। ज्ञान उस अनुभव को प्रतिबिंबित करता है, जो यथार्थ जगत के शब्द रूप में व्यक्त तथा मानवजाति की व्यावहारिक एवं संज्ञानात्मक सक्रियता के लिए महत्त्वपूर्ण सामान्य गुणधर्मों को प्रणालीबद्ध करता है। इसीलिए नयी वस्तुओं, परिस्थितियों, कृत्यकों से सामना होने पर तत्संबंधी ज्ञान और संकल्पनाओं का बनना तथा आत्मसात् होना ही मनुष्य के लक्ष्यबद्ध और कारगर कार्यों का पूर्वाधार होता है। यथार्थ के तत्त्वों के गुणधर्मों और संबंधों का पता लगाने के लिए किये जानेवाले कार्य के आधार पर और उसके दौरान ही संकल्पनाएं बनती तथा ज्ञान आत्मसात् होता है। ज्ञान के बनने में **विभिन्न रूपों की सक्रियता की भूमिका** भिन्न-भिन्न होती है। उदाहरणतः, वस्तुमूलक सक्रियता (वस्तुओं से काम लेना, उन्हें स्थानांतरित करना) की आवश्यकता इसलिए होती है कि वस्तुएं और परिघटनाएं अपने गुणधर्म "प्रदर्शित" करें; प्रत्यक्षमूलक सक्रियता (अवबोधन और प्रेक्षण) की इसलिए कि ये गुणधर्म मनुष्य की अनुभूतियों और धारणाओं में प्रतिबिंबित हो जायें; बौद्धिक सक्रियता (विश्लेषण और

संश्लेषण) की इसलिए कि इन गुणधर्मों की तुलना की जाये और उनसे सामान्य गुणधर्म निकाले जायें ; वाक् सक्रियता (शब्दांकन और नामकरण) की इसलिए कि इन सामान्य गुणों को वस्तुओं से अमूर्त करके तथा वस्तु वर्गों के लक्षणों के नाते उन्हें सामान्यीकृत करके शब्द रूप दे दिया जाये। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान के शिक्षण में निम्न घटकों का समावेश होता है :

१. छात्रों को निश्चित वर्ग की वस्तुएं या परिघटनाएं **प्रदर्शित करना** (या उनके द्वारा स्वयं देखा जाना)। ऐसा करते हुए वस्तुएं इस तरह चुनी जाती हैं कि उनके मूलभूत लक्षणों को छोड़कर शेष सभी लक्षण भिन्न हों (विघटनात्मक विधि) या फिर मूलभूत लक्षणों को छोड़कर शेष सभी लक्षण समान हों (प्रत्यस्थापनात्मक विधि)। उदाहरणत: , पहली विधि के अनुसार कुत्ता, ह्वेल, चमगादड़ जैसे बाह्य रूप से भिन्न जीवों का उदाहरण देकर या दूसरी विधि के अनुसार ह्वेल और मछलियों जैसे बाह्य रूप से समान जीवों का उदाहरण देकर "स्तनपायी जीव" की संकल्पना से छात्रों को परिचित कराया जा सकता है।

२. छात्रों द्वारा इन वस्तुओं या परिघटनाओं का **प्रेक्षण करना** और उनके विविध पक्षों और गुणधर्मों, संरचनाओं, संबंधों, क्रियाओं का पता लगाना। उदाहरणत: , उपरोक्त जीवों के मामले में उनकी संरचना, जीवन पद्धति, प्रजनन, आदि।

३. पता लगाये गये गुणधर्मों की **तुलना, प्रत्यस्थापना** (विश्लेषण)। ऐसे गुणधर्मों का पता लगाना और उन्हें संयोजित करना (संश्लेषण करना) जो सभी विचाराधीन वस्तुओं के लिए समान हैं या इसके विपरीत एक वर्ग की वस्तुओ को दूसरे वर्ग की सभी वस्तुओं से अलग करते हैं। उपरोक्त उदाहरण में विघटनात्मक विधि के अंतर्गत ये गुणधर्म होंगे : सभी स्तनपायी जीव जरायुज और नियततापी होते हैं, फेफड़ों से सांस लेते हैं, उनके दुग्ध-ग्रंथियां, अस्थि-पंजर और मस्तिष्क होता है। प्रत्यस्थापनात्मक विधि से जरायुजों की तुलना अंडजों से, नियततापी प्राणियों की अनियततापी प्राणियों से की जाती है।

४. पता लगाये गये गुणों का पारिभाषिक शब्द ("स्तनपायी जीव") द्वारा नामकरण करके **अमूर्तीकरण करना।**

५. अंततः, निर्दिष्ट लक्षणोंवाली वस्तुओं के लिए पारिभाषिक

शब्द **प्रयुक्त करके** संकल्पना का **सामान्यीकरण करना**, उदाहरणतः, अध्ययनाधीन या प्रेक्षणाधीन विभिन्न प्राणियों में स्तनपायी जीवों को पहचानने के अभ्यास।

ज्ञान के निर्माण का उपरोक्त मार्ग का निष्क्रिय होना अनिवार्य नहीं है। कुछ मामलों में अध्यापक ही सभी प्रेक्षणाधीन वस्तुएं दिखा सकता है। दूसरे मामलों में स्वयं छात्र साहित्य का अध्ययन करते हुए, प्रयोग करते हुए, अभियानों-सैरों के समय स्वयं उनका पता लगा सकते हैं या बना सकते हैं। ठीक इसी तरह प्रेक्षण, विश्लेषण, संश्लेषण, तुलना, अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण स्वयं अध्यापक कर सकता है, अध्यापक के निदेशन में छात्र कर सकते हैं या फिर वे समस्यामूलक परिस्थितियों में छात्रों की संज्ञानात्मक सक्रियता का फल हो सकते हैं।

यह नहीं सोचना चाहिए कि आरंभिक वस्तुएं कोई निश्चित वस्तुएं ही हों। उपरोक्त उदाहरणों में छात्र वस्तुतः किसी एक ह्वेल और एक कुत्ते की नहीं, बल्कि सामान्यतः ह्वेलों और कुत्तों की तुलना कर रहे थे – यहां उनका वास्ता संकल्पनाओं में प्रतिबिंबित वस्तुओं के वर्गों से था। आरंभिक वस्तु-विषय कोई पदार्थ ही हो यह भी आवश्यक नहीं, वह कोई अमूर्त संकल्पना भी हो सकती है। उदाहरणतः, भांति-भांति के रूपिमों की तुलना करते हुए छात्र इससे भी अधिक अमूर्त संकल्पना – "व्याकरणिक अर्थ" – का ज्ञान पा सकते हैं। शिक्षण में मूल बात यह नहीं है कि आरंभिक विषय किस हद तक ठोस हैं, बल्कि यह कि नया ज्ञान आरंभिक विषयों, वस्तुओं के गुणधर्मों के सामान्यीकरण द्वारा प्राप्त अंतिम फल होता है।

मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों से इस प्रक्रिया के अनेक महत्त्वपूर्ण लक्षणों और क्रिया-विधियों का पता चला है।

सर्वप्रथम यह पता चला कि सूचना का संसाधन वस्तुओं या परिघटनाओं का बोध पाने (प्रेक्षण करने) के पश्चात नहीं, बल्कि इस प्रेक्षण या बोध पाने **के दौरान** ही होने लगता है। पता चला कि प्रत्यक्ष-बोध कुछ वस्तुओं को ग्रहण करता है और कुछ दूसरी वस्तुओं को नज़रंदाज़ करता है। आगे के सारे बौद्धिक संसाधन (तुलना, सामान्यीकरण) के परिणाम बहुत हद तक इसी बात पर निर्भर होते हैं कि व्यक्ति ने वस्तुओं में क्या देखा है, किन बातों की ओर उसका ध्यान गया है।

यह चयन तीन प्रमुख कारकों पर निर्भर होता है : १) स्वयं वस्तु की संरचना (उसमें कौन से लक्षण सर्वाधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हैं) ; २) व्यक्तिगत अनुभव (कौन से लक्षण सर्वाधिक परिचित हैं) ; ३) शिक्षण की विधि (अध्यापक किन लक्षणों पर बल देता है या छात्रों का ध्यान किन लक्षणों पर जाता है)। उदाहरणतः, हिंस्र पशुओं का प्रेक्षण करते हुए छात्र को उनका "खूंखार थूथन" लाक्षणिक लग सकता है। इस आधार पर वह "खूंखार" छछूंदर को हिंस्र पशु बतायेगा, पर "प्यारी सी" लोमड़ी और बिल्ली को ऐसा पशु नहीं मानेगा। यहां उसका प्रत्यक्षबोध गौण लक्षणों को ही निर्दिष्ट करता है। परिणामस्वरूप सामान्यीकरण गलत होता है और अपर्याप्त संकल्पना बनती है।

यह भी पता चला कि ग्रहीत सूचना का संसाधन, जिससे ज्ञान बनता है, अनिवार्यतः सचेतन और विस्तृत नहीं होता। प्रत्यक्षतः, बच्चों में अधिकांश सामान्य संकल्पनाएं ऐसे ही बनती हैं और उनके द्वारा प्रयुक्त होती हैं। वैसे अधिकांश वयस्क भी शायद ही यह बता सकते हैं कि किस अर्थ के आधार पर वे "मेज़", "बुद्धि", "पशु", आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं।

अंततः, पता चला कि ज्ञान सदा तत्संबंधी शब्द को आत्मसात् करने और उसका प्रयोग करने से ही जुड़ा नहीं होता है। उदाहरणतः, बच्चे कभी-कभी वस्तुओं या चित्रों का सही वर्गीकरण कर सकते हैं। जैसे कि खाने के "औज़ारों" (चम्मचों ,कांटों) और औज़ारों (हथौड़ी, आरी) को या पशुओं और पेड़-पौधों के चित्रों को अलग-अलग कर सकते हैं। परंतु ऐसा करते हुए वस्तुओं के तत्संबंधी वर्गों को उपयुक्त शब्द से निर्दिष्ट नहीं कर सकते (जैसे "पशु", "पेड़") और अपने वर्गीकरण के आधार को शब्दों में नहीं समझा सकते। प्रत्यक्षतः, यहां सामान्यीकरण किन्हीं ऐंद्रिक धारणाओं के स्तर पर होता है। इस स्थिति में धारणाओं में सचमुच ही तत्संबंधी वस्तुओं के महत्त्वपूर्ण गुणधर्म इंगित हो सकते हैं, और गौण लक्षण भी प्रतिबिंबित हो सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि सामान्यीकृत ज्ञान सदा धारणाओं का रूप नहीं लेता। व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित और सामान्यीकृत धारणाओं से मिलते-जुलते ज्ञान को ल० स० विगोत्स्की ने "चालू मिथ्या संकल्पनाएं" कहा था।

अनुसंधानों से पता चलता है कि प्रारम्भिक धारणाओं और मिथ्या संकल्पनाओं के स्वरूप का निर्मित हो रही संकल्पनाओं की अंतर्वस्तु पर बहुत प्रभाव पड़ सकता है। उदाहरणतः, त्रिकोण के भीतर शीर्षलंब देखने के आदी छात्र के लिए अधिककोणीय त्रिकोण में इसे ढूंढ़ना मुश्किल होता है; a^2-b^2 के रूप में वर्गों का अंतर समझते हुए भी वह $x^4y^2-z^8$ में यही अंतर नहीं देख पाता, इत्यादि। साथ ही तत्संबंधी शब्द के सही प्रयोग का भी यह अर्थ नहीं होता कि संकल्पना बन गयी है। प्रायः शब्द केवल तत्संबंधी ऐंद्रिक धारणाओं या मिथ्या संकल्पनाओं का सूचक होता है, न कि निश्चित महत्त्वपूर्ण लक्षणों या वस्तुओं के वर्गों के बारे में वैज्ञानिक संकल्पनाओं का।

सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं ने ज्ञान के आत्मसात्करण और उपयोग संबंधी छात्रों के कार्यकलापों का विस्तार से अध्ययन किया है। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि भांति-भांति की वस्तुओं, विषयों, भिन्न-भिन्न तरह की शिक्षा सामग्री के लिए विश्लेषण और संश्लेषण, अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण की विभिन्न युक्तियों की अपेक्षा होती है। उदाहरणतः, वनस्पतिविज्ञान की संकल्पनाओं (जाति, कुल) के निर्माण के लिए एक तरह के लक्षण (वनस्पतियों के प्रकार्यक अंश: जड़, तना, पत्तियां, फूल, फल) निर्दिष्ट करना तथा निश्चित सिद्धांतानुसार (पत्तियों के आकार, पुंकेसरों की संख्या, निषेचन रीति) उनकी तुलना करना और उन्हें संगठित करना आवश्यक होता है, जबकि अंकगणितीय संकल्पनाओं के निर्माण के लिए बिल्कुल दूसरे ही लक्षण (समुच्चय में वस्तुओं की संख्या, परिमाणात्मक संबंध, संक्रियाओं की क्रमिकता) निर्दिष्ट करना, उनकी तुलना करना और उन्हें संगठित करना आवश्यक होता है।

शिक्षा सामग्री की विशिष्टताओं से ही तत्संबंधी ज्ञान के निर्माण के लिए आवश्यक वस्तुमूलक, प्रत्यक्षमूलक और बौद्धिक सक्रियता की **युक्तियां** निर्धारित होती हैं। सो, सही ज्ञान और संकल्पनाओं के निर्माण के लिए **छात्रों को बौद्धिक सक्रियता की युक्तियां सिखानी** चाहिए, जिनसे अध्ययनाधीन वस्तुओं और परिघटनाओं के वर्गों के महत्त्वपूर्ण, प्रमुख लक्षणों का पता लगाना, उन्हें निर्दिष्ट और संगठित करना संभव होता है।

सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं ने अंकगणितीय, व्याकरणिक, भौगोलिक तथा अन्य संकल्पनाओं के निर्माण की प्रक्रियाओं का विस्तृत अध्ययन किया है। वे तत्संबंधी ज्ञान के निर्माण के लिए आवश्यक बौद्धिक सक्रियता की युक्तियां निर्धारित करने और ये युक्तियां सिखाने की रीतियां तय करने में सफल रहे हैं। उन्होंने वे प्रमुख **चरण** भी निर्धारित किये हैं, जो शिक्षण की प्रक्रिया में ज्ञान बनने के दौरान देखने में आते हैं। आरंभ में छात्रों की धारणाएं और संकल्पनाएं **असंगठित** होती हैं; उनका प्रयोग करते हुए छात्र उन लक्षणों को नहीं समझते हैं, जो उनके आधार में निहित होते हैं। तदुपरांत वे **कतिपय** ऐसे लक्षण देखने और समझने लगते हैं, जो सर्वाधिक पाये जाते हैं और सहज ही दिखाई देते हैं। परंतु अभी भी वे प्रधान और गौण लक्षणों के बीच भेद नहीं समझते हैं। आगे चलकर वे **प्रधान लक्षण** निर्दिष्ट करने और समझने लगते हैं। अंतिम चरण में वे संकल्पना का संबंध अधिकाधिक विभिन्न वस्तुओं से जोड़ने लगते हैं, इन वस्तुओं के संभाव्य भेदों और ठोस विशिष्टताओं को इसमें शामिल करने लगते हैं। **अब ज्ञान गहन और समृद्ध होता है।** उदाहरणतः, भिन्न-भिन्न आयु के बच्चों की समझ में "सजीव" की संकल्पना की अंतर्वस्तु का अध्ययन किया गया। पता चला कि पहले-पहल बच्चे इस शब्द का प्रयोग करते हुए सचेतन रूप से कोई लक्षण निर्दिष्ट किये बिना ही अर्थात असंगठित रूप से, धारणाओं के आधार पर इस शब्द का प्रयोग करते हैं ("वह सजीव क्यों है?" – "वह आदमी है")। फिर बच्चे कुछ लक्षण समझने लगते हैं: अखंड है, सांस लेता है, चलता है ("कार सजीव है – वह चलती है"; "गुड़िया सजीव नहीं है: वह सांस नहीं लेती")। यहां प्रधान और गौण लक्षण साथ-साथ ही आते हैं। उनका कोई समानाश्रय और तार्किक सहसंबंध नहीं है ("कार भी तो सांस नहीं लेती")। आगे चलकर प्रधान लक्षण अलग किया जाता है ("जो चाहता है करता है"; "खाना खाता है")। अंततः, जीवविज्ञान की संकल्पना – "सजीव" – बनती है, जो जीवन के विभिन्न रूपों से परिचित होने के साथ-साथ अधिक गहन होती जाती है।

उपरोक्त नियमसंगति का अर्थ यह नहीं है कि संकल्पना का बनना किसी ठोस तथ्य से, वस्तुओं और परिघटनाओं के प्रेक्षण से ही आरंभ

होता है। स्कूली शिक्षा में प्रायः संकल्पनाओं का बनना सामान्य बात से, शब्दों से ही आरंभ होता है। परंतु इस मामले में भी वही चरण देखने में आते हैं। शब्द की अंतर्वस्तु आरंभ में असंगठित, "विभेदनरहित सा-मान्य", "कोरी अमूर्तता" ही होती है। वस्तुतः छात्र प्रायः वस्तुओं और परिघटनाओं के उन लक्षणों को इंगित नहीं करते, जो वास्तव में प्रधान होते हैं, वे नहीं, जिन पर अध्यापक बल देता है। इसका एक कारण यह है कि बच्चे उन बातों पर ध्यान नहीं देते हैं जो वास्तव में महत्त्वपूर्ण और आवश्यक होती हैं, बल्कि उन बातों पर जो उन्हें महत्त्वपूर्ण और आवश्यक लगती हैं, जो उनके लिए मानी रखती हैं।

अतः, वस्तुओं (परिघटनाओं) के निश्चित लक्षण निर्दिष्ट करने और तत्संबंधी ज्ञान के बनने की प्रक्रियाएं सक्रियता की सामान्य और ठोस दिशा, उसके अभिप्रेरकों और उद्देश्यों, व्यक्ति के अनुभव, उसके मूल्यों, ज्ञान, संसार के प्रति रुख, आदि से जुड़ी होती हैं। और यहां किसी लक्षण को प्रधान लक्षण के नाते इंगित करने के लिए कतिपय विभिन्न वस्तुओं का प्रेक्षण और तुलना कतई आवश्यक नहीं है। आवश्यक केवल यह है कि यह लक्षण **छात्र के लिए मानी रखता हो।** और तब छात्र उसे एकमात्र वस्तु (परिघटना) में भी, जिससे उसका सामना हुआ है, उसे देख लेगा, इंगित कर लेगा। और यह लक्षण कैसा होगा यह इस बात पर निर्भर है कि इस व्यक्ति के लिए क्या बात मानी रखती है। उदाहरणतः, बच्चे के लिए भांति-भांति की अनेक बिल्लियां देखना आवश्यक नहीं है, ताकि वह उनकी तुलना कर ले, उनके सामान्य लक्षण देख ले और "बिल्ली" की संकल्पना बना ले। उसे बस एक बिल्ली दिखाना और इतना कहना कि "यह बिल्ली है" ही काफ़ी है, और बच्चा छोटी, बड़ी, काली, सफ़ेद, हर तरह की बिल्लि-यों को बिल्ली ही कहेगा। यही नहीं, उसके लिए शेर और बाघ भी बिल्ली होंगे और कभी-कभी तो फ़र का कोट और खरगोश और यहां तक कि पड़ोसी की घनी दाढ़ी भी "बिल्ली" होंगे। यह बात अलग है कि बच्चे के लिए मानी रखनेवाले लक्षण उन लक्षणों से भिन्न हो सकते हैं, जो वास्तव मे इस संकल्पना द्वारा नामांकित हैं। उदाहरणतः, उपरोक्त उदाहरण में, प्रत्यक्षतः बच्चे के लिए "बिल्ली" का प्रधान लक्षण उसके घने रोयें है। यहां बड़े उसकी गलती सुधारेंगे: "नहीं, यह

बिल्ली नहीं, फ़र का कोट है। यह बिल्ली नहीं, यह दाढ़ी है"। दूसरे शब्दों में कुछ वस्तुओं (बिल्लियों) के लिए इस शब्द के प्रयोग की पुष्टि होगी ("शाबाश, ठीक है!") और दूसरी वस्तुओं के लिए इसका प्रयोग रोका जायेगा ("नहीं, यह बिल्ली नहीं है!")। और इसका परिणाम यह होगा कि "बिल्ली" की संकल्पना में उन लक्षणों का अधिकाधिक विभेदीकरण होता जायेगा, जिन्हें इस भाषा में बोलनेवाले वयस्क इस संकल्पना में शामिल करते हैं।

अतः, **सही संकल्पना का निर्माण उसका प्रयोग करने की कोशिशों के ज़रिये होता है और इन कोशिशों के परिणामों द्वारा नियमित होता है।**

प्रयोगों से पता चला है कि भिन्न-भिन्न लोगों में उपरोक्त प्रक्रियाएं दो सिद्धांततः भिन्न रास्तों से होती हैं। पहले रास्ते को **ठोस-व्यावहारिक** कहा जा सकता है। छात्र वस्तुओं की तरह-तरह से तुलना करने की कोशिश करते हैं, जब तक कि सही हल नहीं पा लेते। ऐसा करते हुए वे जान-बूझकर वर्गीकरण के आधार इंगित नहीं करते, बल्कि प्रत्यक्ष-बोध का सहारा लेते हैं, इस सहज अंतःप्रज्ञा को आधार बनाते हैं कि कुछ वस्तुएं या परिघटनाएं "किन्हीं बातों में एक दूसरी जैसी हैं"। दूसरे रास्ते को **अमूर्त-तार्किक** कहा जा सकता है। इसमें छात्र प्रायः वस्तुओं या परिघटनाओं को वर्गों में बांटने की कोशिश नहीं करते, बल्कि तार्किक विश्लेषण के द्वारा वर्गीकरण के सिद्धांत खोजने की कोशिश करते हैं।

अतः संकल्पनाएं ऐंद्रिक-व्यावहारिक सक्रियता के आधार पर तथा चिंतनमूलक सक्रियता के आधार पर भी बन सकती हैं। संकल्पनाओं के निर्माण का मार्ग है – **वस्तुओं के किन्हीं लक्षणों की सार्थकता की प्राक्कल्पना करना और उसे परखना।** परखने की क्रियाएं वस्तुओं के निर्दिष्ट लक्षणों द्वारा संचालित होती हैं। पहले मामले में प्राक्कल्पनाएं स्वयं वस्तुओं पर की जानेवाली **व्यावहारिक क्रियाओं** द्वारा परखी जाती हैं, और उनके लक्षण अंतःप्रेरणा से ही, प्रायः अचेतन रूप से पहचाने जाते हैं। यहां प्रत्यक्षबोध मानो विश्लेषण का मार्गदर्शन करता है। दूसरे मामले में किसी चिंतनमूलक प्राक्कल्पना के आधार पर सचेतन रूप से निर्दिष्ट किये गये लक्षणों पर **प्रात्ययिक क्रियाएं** करके प्राक्कल्पना परखी जाती है। यहां तार्किक विश्लेषण प्रत्यक्षबोध का मार्गदर्शन करता है।

शिक्षण व्यवहार में संकल्पनाओं के बनने के दोनों तरीके देखने में आते हैं। इनमें कौन सा बेहतर है, यह कृत्यक के स्वरूप, छात्र के अनुभव और ज्ञान तथा अंततः उसके मानसिक सक्रियता के ढांचे पर भी निर्भर करता है। उदाहरणतः, ज्यामितीय आकृतियों के वर्गीकरण का सवाल हल करते हुए छोटी कक्षाओं के छात्रों में अंतःप्रज्ञात्मक-व्यावहारिक तरीका ही अधिक पाया जाता है, जबकि उच्च शिक्षा पा रहे विद्यार्थियों में अमूर्त-तार्किक तरीका। प्रत्यक्षतः "कलात्मक" (बिंबात्मक) और अमूर्त-तार्किक चिंतन के लोगों (इ० प० पाव्लोव के अनुसार "चित्रकारों" और "चिंतकों") के बीच भेद भी मानी रखता है।

वैज्ञानिक संकल्पनाओं के बनने के तरीके

संकल्पनाओं का निर्माण निष्क्रिय प्रत्यक्षबोध नहीं, बल्कि संज्ञानात्मक कृत्यकों के निष्पादन की ओर लक्षित सक्रिय कार्यकलाप है। इस कार्य-कलाप में समस्या की प्रस्तुति और उसका हल, प्राक्कल्पना का निरूपण और परीक्षण, अर्थों की खोज और परख शामिल होते हैं।

धारणाओं और दैनंदिन मिथ्या संकल्पनाओं से **वैज्ञानिक संकल्पनाएं** इस बात में भिन्न होती हैं कि वे **वस्तुओं के इंद्रियगम्य गुणधर्मों को नहीं, बल्कि उनके सामान्य और महत्त्वपूर्ण वस्तुगत संबंधों को प्रतिबिं-बित करती हैं।** अतः, जैसा कि ल० स० विगोत्स्की ने कहा है वैज्ञानिक सकल्पनाओं के अर्थ केवल उनकी प्रणाली में, संकल्पनाओं के बीच संबंधों के ज़रिये ही मुखरित होते हैं। संबंध वस्तुओं और परिघटनाओं के बीच तत्संबंधी वस्तुगत सूत्रों को प्रतिबिंबित करते हैं। इन सूत्रों का पता सीधे प्रत्यक्षबोध से नहीं, बल्कि कार्यकलाप की सहायता से चलता है। अतः **वैज्ञानिक संकल्पना का स्रोत** स्वयं ऐंद्रिक अनुभव नहीं, अपितु **क्रिया** है। क्रिया से नये संबंधों का, अर्थात वस्तुओं के नये गुणधर्मों का पता चलता है, यथार्थ की नई संरचनाएं अभिलक्षित होती हैं। कुछ मामलों में ये संरचनाएं वस्तुओं द्वारा निश्चित प्रकार्यों की पूर्ति के लिए महत्त्वपूर्ण होती हैं और कुछ दूसरे मामलों में इन प्रकार्यों के लिए संरचनाओं का कोई महत्त्व नहीं होता।

उदाहरणतः, यदि प्रजनन प्रकार्य लें तो स्तनपायी जीवों के लिए शिशुओं को मां का दूध पिलाया जाना मानी रखता है। स्थानांतरण के प्रकार्य के लिए हाथ-पांव होने चाहिए। सो दुग्ध-ग्रंथियां और चार हाथ-पांव स्तनपायी जीवों के संरचनात्मक लक्षण हैं, जो उपरोक्त प्रकार्यों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। परंतु उनके शरीर पर बालों का होना इस दृष्टि से अमहत्त्वपूर्ण लक्षण है। कुछ संख्याओं को जोड़ने के लिए उनकी सहचारिता महत्त्वपूर्ण लक्षण है। और यह बात यहां कोई मानी नहीं रखती कि योगफल मूल राशियों से कम हो सकता है। सो इसका अर्थ यह हुआ कि लक्षण का महत्त्वपूर्ण होना या न होना इस बात पर निर्भर करता है कि उसे किस प्रकार्य की दृष्टि से देखा जाता है। निश्चित प्रकार्यों की सिद्धि के लिए आवश्यक लक्षणों को वस्तु अथवा परिघटना की **प्रकार्यात्मक संरचना** कहते हैं। **वैज्ञानिक संकल्पनाएं वस्तुओं और परिघटनाओं की प्रकार्यात्मक संरचनाओं को उभारती और शब्दों में व्यक्त करती हैं।** उदाहरणतः, मापने के लिए प्रयुक्त फुटा उन अनेक वस्तुओं में आता है, जो "मापन उपकरण" की संकल्पना में नामांकित हैं। यही फुटा सीधी रेखा खींचने के लिए प्रयुक्त होने पर "ड्राइंग उपकरणों" में गिना जाता है। लेकिन फुटे का प्रयोग पहले बच्चों को सज़ा देने के लिए भी होता था और तब वह बिल्कुल दूसरी ही संकल्पना "सज़ा के औज़ार" में समाविष्ट होता था।

नई संकल्पनाओं का बनना सदा नई वस्तुओं के देखे-पाये जाने से ही संबंधित नहीं होता। यह उन संरचनात्मक गुणों के पता चलने से जुड़ा होता है, जो उन्हीं वस्तुओं द्वारा किसी नये प्रकार्य की पूर्ति के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं (या इसके विपरीत नई वस्तुओं द्वारा "पुराना" प्रकार्य किये जाने के लिए)। अतः, नई संकल्पनाएं वस्तुओं और परिघटनाओं की नई पता लगी प्रकार्यात्मक संरचनाओं को नामांकित करती हैं। उदाहरणतः, घटाने की संक्रिया जब "२–५" जैसे सवालों पर लागू होती है, तो यह "ऋण संख्याओं" की संकल्पना में नामांकित होती है; पुरुष और स्त्री लिंग कोशों के विलय के बिना प्रजनन प्रक्रिया होने के संरचनात्मक लक्षण "अनिषेकजनन" की संकल्पना में नामांकित होते हैं, इत्यादि।

इस तरह, वैज्ञानिक संकल्पनाएं "अनुभव से पाई ही नहीं जाती

हैं", बल्कि गठित की जाती हैं, ताकि उपलब्ध सूचना का हल की जानेवाली समस्या के अनुरूप अधिकतम संगठन हो जाये। इस तरीके को संकल्पनाओं का **खोजमूलक** गठन कहते हैं। व्यावहारिक तौर पर इस तरीके का मतलब है – उपलब्ध ज्ञान का नई दृष्टि से, वस्तुओं का नया वर्गीकरण करने के लिए, नये कृत्यकों के निष्पादन के लिए नई रीतियां खोजने के लिए उपयोग किया जाना। विज्ञान का सारा इतिहास ही इस बात का प्रमाण है कि संकल्पनाओं के गठन का ऐसा रास्ता सचमुच विद्यमान है।

समय-समय पर विज्ञान में निर्णायक मोड़ों की भांति नई संकल्पनाएं बनती हैं, जिनके फलस्वरूप ज्ञान के निश्चित क्षेत्र में संचित सभी तथ्यों को नई दृष्टि से देखना संभव हो जाता है। ऐसी संकल्पनाएं ज्ञान के इस क्षेत्र की संरचना को पुनर्गठित करती हैं, उन तथ्यों और संकल्पनाओं को सूत्रबद्ध और संगठित करती हैं, जो अभी तक पृथक्-पृथक् और असंबद्ध ही लगते थे। "जड़त्व", "ऊर्जा", "अवकल", "समाकल", आदि संकल्पनाएं ऐसी ही "खोजें" थीं।

कुछ हद तक उपरोक्त संकल्पनाओं को आत्मसात् करते हुए और विभिन्न कृत्यकों के हल के लिए उनका उपयोग करते हुए प्रत्येक छात्र भी ऐसा ही मार्ग तय करता है।

अनुसंधानों से पता चला है कि संकल्पनाओं का "खोजमूलक" गठन कई तरीकों से हो सकता है:

१) **संगठन के दूसरे स्तर पर आगमन द्वारा,** जब पहले की असंबंधित समष्टियां अधिक व्यापक समष्टि का अंश बन जाती हैं, या इससे उलट बात होती है। (उदाहरणतः, "स्तनपायी जीव", "पक्षी", "सरीसृप" संकल्पनाओं से "कशेरुकी" संकल्पना पर आगमन।) यह देखना कठिन नहीं है कि यह **एकीकरण** या **सामान्यीकरण** की प्रक्रिया से भिन्न नहीं है। इससे उलट प्रक्रिया होगी – **विघटन** या **ठोसीकरण** ;

२) **संगठन के सिद्धांत में परिवर्तन द्वारा,** जब समन्वय (किसी समष्टि के भीतर उसके घटकों का संयोजन) का स्थान अधीनीकरण ले लेता है या इसके विपरीत होता है। उदाहरणतः, आरंभ में पूर्ण और खंड संख्याएं छात्रों के लिए संख्याओं के दो समान, स्वतंत्र भेद होती हैं

(समन्वय), परंतु जब "परिमेय संख्या" की संकल्पना से उन्हें परिचित कराया जाता है, तो पूर्ण संख्याएं खंड संख्याओं का एक विशेष रूप बन जाती हैं, इनकी संकल्पना खंड संख्याओं की संकल्पना के अधीन आती है (अधीनीकरण)। इस प्रक्रिया को **केंद्रीयकरण** कहते हैं और इससे विपरीत क्रिया को **विकेंद्रीयकरण** ;

३) **केंद्रांतरण**, अर्थात गौण लक्षणों, घटकों को महत्त्वपूर्ण के नाते पेश करना, तथा इसके विपरीत। उदाहरणतः, जब "समान त्रिकोणों" की संकल्पना से "एक जैसे त्रिकोणों" की संकल्पना पर आते हैं, तो भुजाओं का आकार गौण तथा तत्संबंधी कोण प्रमुख लक्षण हो जाते हैं।

संकल्पनाओं के निर्माण पर प्रभाव डालनेवाली परिस्थितियां

मनोविज्ञानवेत्ताओं ने बहुसंख्यक प्रयोगों में संकल्पनाओं के बनने की परिस्थितियों का विस्तार से अध्ययन किया है। उन्होंने यह पता लगाया है कि **निम्न कारक संकल्पनाओं के खोजमूलक गठन पर सुप्रभाव डालते हैं :**

१. **व्यक्तित्व और अभिप्रेरण की विशिष्टताएं।** किसी भी अन्य सक्रियता की भांति संकल्पनाओं का गठन उद्देश्य द्वारा संचालित होता है और निश्चित अभिप्रेरकों के प्रभाव में ही यह प्रक्रिया होती है। संकल्पनाओं में सुनिश्चित वस्तुओं के प्रकार्यों में छात्र की रुचि जागनी चाहिए, वे कृत्यक के निष्पादन के लिए आवश्यक होने चाहिए, समस्या बन जाने चाहिए। तब छात्र का प्रत्यक्षबोध और चिंतन वस्तुओं में तत्संबंधी प्रकार्यात्मक संरचनाएं खोजने और अभिलक्षित करने लगते हैं। सो, **संकल्पनाओं के शिक्षण के लिए ऐसे कृत्यक पेश किये जाने चाहिए, जिनके निष्पादन के लिए इन संकल्पनाओं का गठन और उपयोग करना आवश्यक हो।**

२. **लक्ष्यबद्ध प्रयत्न, खोजें तथा बहुसंख्यक प्रयास तथा उनके साथ-साथ परिणामों की जांच।** ऐसी खोजों से वस्तुओं के नये-नये संबंधों और गुणधर्मों का बोध होता जाता है, जब तक कि उनमें

विचाराधीन किस्म के कृत्यकों के हल के लिए महत्त्वपूर्ण संबंधों और गुणधर्मों का पता नही चल जाता है। स० ल० रुबिन्श्तेइन ने संकल्पनाओं के गठन के इस पहलू का विस्तार से अध्ययन किया। उन्होंने यह दिखाया कि कृत्यक हल किये जाने के दौरान हर अगले कदम में मूल घटकों, तत्त्वों के नये संबंधों का पता लगता जाता है। इस आधार पर उनकी नई समझ बनती है, इन्हीं घटकों को नई संकल्पनाओं से जोड़ा जाता है। ये नई संकल्पनाएं कृत्यकों के निष्पादन का उपकरण बन जाती हैं। उदाहरणतः, ज्यामिति के विभिन्न सवालों में एक ही खंड (segment) को विभिन्न संकल्पनाओं से जोड़ा जा सकता है (अर्धक, मध्यांतर और शीर्षलंब), यह इस बात पर निर्भर होता है कि सवाल हल करने के लिए त्रिकोण के दूसरे अंशों के साथ उसके कौन से संबंध महत्त्वपूर्ण हैं।

३. **तत्संबंधी ज्ञान और योग्यताओं का होना।** इस शर्त के अनुसार संकल्पनाओं के शिक्षण से पहले छात्रों को इन संकल्पनाओं के आधार में निहित वस्तुओं के गुणधर्मों, संबंधों और प्रकार्यों से परिचित कराना चाहिए। उदाहरणतः, स्तनपायी जीवों का संरचनात्मक लक्षण–दुग्ध-ग्रंथियां – तभी समझ में आता है जबकि सभी जीवों के सामान्य प्रकार्यों–प्रजनन और पोषण – का ज्ञान हो। उल्लेखनीय है कि चर्चा किन्हीं ठोस जीव जंतुओं की नहीं, बल्कि सभी जीवों के अनिवार्य गुणों की है। यही कारण है कि इस विचाराधीन अवधारणा के अंतर्गत **शिक्षण सर्वाधिक सामान्य संकल्पनाओं से** ही, अर्थात यथार्थ जगत के जिस क्षेत्र का अध्ययन किया जा रहा है, उसके सर्वाधिक सामान्य संरचनात्मक लक्षणों से आरंभ करने का परामर्श दिया जाता है। इसीलिए स्कूलों में गणित का अध्ययन अब संख्याओं और अंकगणितीय क्रियाओं से नहीं, बल्कि सर्वाधिक सामान्य संकल्पनाओं – समुच्चय, उनके संबंध, उन पर संक्रियाओं–से आरंभ करने का परामर्श दिया जाता है। यह संकल्पनाओं के शिक्षण की निगमनात्मक विधि है, जो आगमनात्मक विधि के विपरीत है। पिछले दशकों में सोवियत संघ में भी और विदेशों में भी शैक्षिक मनोविज्ञानवेत्ताओं ने निगमनात्मक विधि का सफलतापूर्वक अध्ययन किया है। इन अध्ययनों के फलस्वरूप संचित प्रायोगिक सामग्री से यह सिद्ध होता है कि संकल्पनाओं का निगमनात्मक विधि से शिक्षण संभव है

और प्राथमिक शिक्षा के पहले चरणों से ही संभव है।*

४. **चिंतनमूलक कृत्यक के सार का पूर्व विश्लेषण तथा उसके संभाव्य हलों का मूल्यांकन।** अनुसंधानों से पता चला है कि संकल्पना का निर्माण तब अधिक तेज़ी से और सटीक होता है, जब छात्र यह समझता हो कि उसकी आवश्यकता किसलिए है, उससे कैसे कृत्यक निष्पादित किये जा सकते हैं, यथार्थ के किन क्षेत्रों से उसका संबंध है।

५. **चिंतन की दिशा।** अनेकानेक प्रयोगों से यह प्रमाणित हुआ है कि प्रायः छात्रों में सही संकल्पनाएं बनने के लिए इच्छा, लगन और ज्ञान का होना ही पर्याप्त नहीं होता। इस सबके साथ-साथ उनका चिंतन वस्तु के तत्संबंधी प्रकार्यों और लक्षणों की ओर लक्षित भी होना चाहिए। उदाहरणतः, यदि छात्र का चिंतन शब्दों – वाक्य के अंगों – के केवल अर्थ की ओर ही लक्षित है, तो वह उद्देश्य में अर्थी प्रकार्य ही निर्दिष्ट करता है ("उद्देश्य वह वस्तु है, जो क्रिया करती है")। इसके फलस्वरूप "बच्चों द्वारा पुस्तक पढ़ी जाती है" जैसे वाक्यों में गलती हो सकती है, जब छात्र "बच्चों" को उद्देश्य मानता है (वे ही तो पढ़ने की क्रिया करते हैं!)।

अर्थों का आत्मसात्करण

ऊपर उन युक्तियों पर विचार किया गया है, जिनकी मदद से वस्तुओं और परिघटनाओं के नवसंज्ञत महत्त्वपूर्ण संबंधों को प्रतिबिंबित करने के लिए नयी संकल्पनाएं बनती हैं। ये महत्त्वपूर्ण संबंध ही तत्संबंधी संकल्पनाओं का **अर्थ** होते हैं। छात्र इन अर्थों का पता कैसे लगाता है और कैसे उन्हें आत्मसात् करता है? दैनंदिन धारणाओं से भिन्न सभी वैज्ञानिक संकल्पनाएं और उनके अर्थ व्यक्ति स्वयं नहीं बनाता, बल्कि **समाज से तैयार रूप में पाता है**, पहले भाषा के ज़रिये और फिर स्कूल, पुस्तकों तथा सूचना के अन्य साधनों से। इस प्रकार **वैज्ञानिक संकल्पनाओं के बनने का प्रमुख रास्ता शिक्षण है**, और इसमें शिक्षण की अंतर्वस्तु प्रमुख होती है। छात्र जो ज्ञान पाता है और शिक्षण

---

* प्रस्तुत पुस्तक के अध्याय १ और ४ देखिये। – सं०

के दौरान जो सवाल हल करता है उन्हीं से संकल्पनाओं की अंतर्वस्तु, स्वरूप और रूप निर्धारित होता है, छात्र की व्यावहारिक, प्रत्यक्षबोधात्मक और बौद्धिक क्रियाएं निर्धारित होती हैं तथा यह निश्चित होता है कि वस्तु के कौन से लक्षण प्रमुख और महत्त्वपूर्ण हैं। **छात्र की संकल्पनाएं सर्वप्रथम शिक्षण की अंतर्वस्तु का फल हैं।**

संकल्पनाओं की अंतर्वस्तु की अभिव्यक्ति तथा उनके गठन का प्रमुख उपकरण **शब्द** होता है, जो तत्संबंधी अर्थों का सूचक होता है, सामाजिक अनुभव का वस्तुपरक वाहक होता है और उसे व्यक्त करता है। इसीलिए अर्थों का आत्मसात्करण, उनका विकास, स्पष्टीकरण और संवर्धन शब्दों की सहायता से ही होते हैं। **शब्दों का प्रयोग – संकल्पनाओं के परिपक्व होने का कारण है** (ल० स० विगोत्स्की)। यहां संकल्पनाओं के परिपक्व होने का अर्थ उनका अधिकाधिक व्यापक आश्रित और सहआश्रित संरचनाओं में व्यवस्थित और संगठित होना है।

संकल्पनाओं के गठन का संचालन

उपरोक्त कारकों को मानसिक सक्रियता का ऐसा पोषक माध्यम कहा जा सकता है, जिसकी सहायता से छात्र की संकल्पनाएं बनती हैं। माध्यम का सही संगठन ऐसी सक्रियता पर सुप्रभाव डालता है, उसके अधिक तेज़ी और सफलता से होने में सहायक होता है। परंतु अध्यापक के लिए निश्चित संकल्पनाओं के आत्मसात्करण की ओर लक्षित छात्र की "स्वतंत्र सक्रियता" पर सुप्रभाव डालना इतना महत्त्वपूर्ण नही है, जितना कि इस सक्रियता का सीधे-सीधे और कारगर **संचालन करना।** कतिपय सोवियत विद्वानों का मत है कि छात्र की मानसिक सक्रियता के संचालन के लिए, पूर्ण और सटीक संकल्पनाओं के गठन के लिए एक तो तत्सबधी महत्त्वपूर्ण लक्षणों का शेष लक्षणों से अलग करना तथा दूसरे, उन्हें छात्र के लिए सार्थक बनाना चाहिए।

महत्त्वपूर्ण लक्षणों को अलग करके दिखाने के दो रास्ते हैं: **मॉडल** (नामांकन) विधि, जिसमें आवश्यक लक्षणों को वस्तुओं से अलग किया और तालिकाओं, संकेतों, शब्दों में व्यक्त किया जाता है, या **विकल्प** विधि, जिसमें तत्संबंधी सामग्री के रूप-भेद इस तरह पेश किये जाते हैं कि उसमें जो महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं, वे स्पष्ट हो जायें।

छात्र के लिए **सार्थकता** इस तरह पायी जाती है कि पाये गये महत्त्वपूर्ण लक्षणों का निश्चित कृत्यकों के निष्पादन में उपयोग किया जाता है। छात्र के लिए ये लक्षण उपयुक्त क्रिया के संकेतों के नाते आवश्यक हो जाते हैं। इसके लिए सचेत रूप से **छात्र को ऐसे कार्य-कलाप के सभी चरणों से गुज़ारना चाहिए, जिसके लिए उन लक्षणों को देखकर चलने की आवश्यकता हो, जो अध्ययनाधीन संकल्पना में निहित हैं।** ऐसे कार्यकलाप का उद्देश्य होता है सूचित की जा रही संकल्पनाओं को अर्थमय बनाना, उनके उपयोग की रीतियां सीखने में मदद करना। इस कार्यकलाप में छात्र को स्वयं संकल्पनाओं में निहित लक्षणों को ढूंढ़ना नहीं चाहिए, बल्कि उनका उपयोग करना सीखना चाहिए। स्वाभाविक ही है कि पूर्ण और त्रुटिहीन संकल्पनाओं के गठन के लिए **छात्र की तत्संबंधी सक्रियता पूरी तरह संकेतों के आधार पर बनी होनी चाहिए।** दूसरे शब्दों में अध्यापक को वस्तुओं के सभी महत्त्वपूर्ण लक्षण छात्र को बताने चाहिए और उसे उदाहरण देकर यह सिखाना चाहिए कि **इन लक्षणों में से प्रत्येक के प्रकट होने या पुनः व्यक्त होने के लिए** किन संक्रियाओं की अपेक्षा होती है।

ऐसा दो तरीकों से किया जा सकता है। पहला तरीका यह है कि क्रियाओं का संकेतमूलक आधार भिन्न-भिन्न ठोस नमूनों की मदद से निर्धारित और आत्मसात् किया जाता है। यह तरीका एक **खाके – एल्गोरिथ्म** – के निरूपण से शुरू होता है, जो पूरी तरह से यह इंगित करता है: १) वस्तु के किन लक्षणों का और किस क्रम में पता लगाना चाहिए, २) किन्हीं निश्चित लक्षणों के होने पर कौन सी क्रियाएं करनी चाहिए, ३) इन क्रियाओं के क्या परिणाम हो सकते हैं, ४) कोई निश्चित परिणाम पाने पर वस्तु को किस संकल्पना से संबद्ध करना चाहिए। विभिन्न ठोस वस्तुओं (नमूनों) के लिए एल्गोरिथ्म का बार-बार उपयोग करने के फलस्वरूप छात्र के मस्तिष्क में तत्संबंधी संकल्पनाएं बनती हैं। दूसरा तरीका यह है कि संकेतों के नाते छात्र को ठोस नमूने नहीं, बल्कि अध्ययनाधीन वस्तुओं (परिघटनाओं) के सामान्य सिद्धांत और संरचनाएं दी जाती हैं। ऐसी स्थिति में छात्र स्वयं सामान्य सिद्धांतों को देखते हुए ठोस वस्तुओं से संबंधित क्रियाओं के लिए संकेतमूलक आधार बनाता है।

प्रयोगों से पता चला है कि उपरोक्त सिद्धांतों से वास्तव में संकल्पनाओं का शिक्षण अधिक श्रेष्ठ होता है। विशेषत: संकल्पनाओं का आत्मसात्करण अधिक तेज़ी से होता है, वे पूर्ण और लचीली होती हैं और उनका उपयोग त्रुटिहीन होता है, छोटी उम्र में ही जटिल और अमूर्त संकल्पनाओं का निर्माण हो पाता है।

§ ३. चिंतन का शिक्षण

संज्ञानात्मक संरचनाएं और चिंतन के रूप

संकल्पनाओं का निर्माण सक्रियता के उपकरणों के रूप में होता है। वे वस्तुओं के संरचनात्मक और प्रकार्यात्मक लक्षणों एवं संबंधों को प्रतिबिंबित करती हैं। ये लक्षण और संबंध, जो तत्संबंधी शैक्षिक, संज्ञानात्मक और व्यावहारिक कृत्यकों के हल के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं, वस्तुओं पर की जानेवाली निश्चित क्रियाओं के दौरान प्रकट होते हैं। संकल्पनाओं की बदौलत चिंतन में नई वस्तुओं पर निश्चित क्रियाओं के परिणामों का **पूर्वाभास, संक्रियाओं का अंतरण** तथा नई परिस्थिति में व्यावहारिक प्रयासों और गलतियों के बिना क्रियाओं का उपयुक्त संचालन संभव होता है।

चिंतन का कार्यभार है ऐसे नये विषयों, गुणधर्मों, संबंधों का पता लगाना, जिनका प्रत्यक्षबोध नहीं हो सकता, जो अज्ञात हैं या जिनका अभी अस्तित्व ही नहीं है। चिंतन उपलब्ध सूचना का ऐसा पुनर्गठन ही है, जिसकी सहायता से उपरोक्त ध्येय की पूर्ति होती है। यदि ध्येय व्यावहारिक है, तो सक्रियता की प्रणाली में वस्तु का व्यावहारिक पुनर्गठन भी शामिल होता है।

चिंतन **यथार्थ जगत का सामान्यीकृत व्यवहित प्रतिबिंब होता है,** क्योंकि वह उसके गुणधर्मों को उन संकल्पनाओं के माध्यम से व्यक्त करता है, जो इन गुणधर्मों की वाहक ठोस वस्तुओं से अमूर्तित होती हैं। चिंतन इसलिए भी यथार्थ का व्यवहित प्रतिबिंब होता है, कि चिंतन में ही स्वयं वस्तुओं पर व्यावहारिक क्रियाओं का स्थान उनके बिंबों पर प्रात्ययिक क्रियाएं लेती हैं, चिंतन की ही बदौलत प्रात्ययिक (सैद्धां-

तिक) सक्रियता से व्यावहारिक कृत्यकों का निष्पादन संभव होता है, ऐसी सक्रियता वस्तुओं के गुणधर्मों और संबंधों के ज्ञान पर, जो संकल्पनाओं में निहित होता है, आधारित होती है।

चिंतन की सर्वप्रथम अपेक्षा ही यह होती है कि **ये संबंध मालूम करने और उन्हें देख पाने** की योग्यता हो। उदाहरणतः, "त्रिकोण" की संकल्पना को आत्मसात् करने और उसका सही उपयोग करने का अर्थ है आकृतियों के संरचनात्मक गुणों का, जो इस संकल्पना में प्रतिबिंबित हैं (संवृत्तता, तीन भुजाएं, तीन कोण, आदि) पता होना और कृत्यकों के हल के लिए उपयोग करना। न्यूटन के दूसरे नियम का सूत्र $F=ma$ पिंड पर लगे बल और उसके त्वरण के बीच संबध को व्यक्त करता है।

मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों से पता चलता है कि चिंतन की सहायता से यथार्थ के विभिन्न संरचनात्मक लक्षण प्रतिबिंबित और प्रयुक्त हो सकते हैं। ये प्रत्यक्षबोध में वस्तुओं और उनके इंद्रियगम्य लक्षणों के बीच संबंध हो सकते हैं ("दूर – पास", "बड़ा – छोटा", "समान – असमान" ऐसे ही लक्षण हैं)। इस मामले में चिंतन प्रत्यक्षबोध की संरचना को पुनर्गठित करता है और इसी के फलस्वरूप कृत्यक का निष्पादन होता है।

उदाहरणतः, एक प्रयोग में पांचसाला बच्ची को एक सवाल दिया गया : कागज़ से काटे गये समांतर चतुर्भुज का क्षेत्रफल निर्धारित करना।
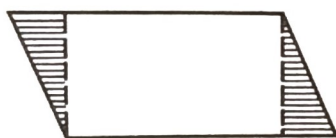
बच्ची यह जानती थी कि आयत का क्षेत्रफल कैसे निकाला जाता है (दो संलग्न भुजाओं की लंबाई का गुणनफल)। उसने सवाल इस तरह हल किया : पहले बोली : "पता नही, कैसे करूं"। फिर कुछ देर चुप रहकर बाईं ओर के छायित की ओर इशारा किया : "यह यहां ठीक नहीं..." फिर दाईं ओर के भाग की ओर इशारा किया : "यह भी ठीक नहीं...", फिर कुछ संकोच के साथ कहा : "मैं यहां ठीक कर सकती हूं... पर"। फिर सहसा ज़ोर से बोली : "कैंची ले

लूं? वहां जो ठीक नही, वह यहां ठीक रहेगा"। बच्ची ने कैंची लेकर समांतर चतुर्भुज को अनुलंब से काट दिया और बायां सिरा दायें सिरे से जोड़ दिया।

सवाल ठीक हल किया गया। यदि इस हल को ज्यामितीय और बीजगणितीय संकल्पनाओं में रूपांतरित किया जाये, तो इसका अर्थ होगा कि समांतर चतुर्भुज का क्षेत्रफल उसके आधार और शीर्षलंब के गुणनफल के बराबर होता है। पर बच्ची अभी इन संकल्पनाओं से परिचित नही है। और इसलिए वह इनकी सहायता के बिना ही सवाल हल करती है, इसके लिए वह आकृति के रूप का पुनर्गठन करती है, दृश्य संरचना का पुनर्गठन करती है, अर्थात **बिंबात्मक चिंतन** से काम लेती है।

यथार्थ के संरचनात्मक लक्षण, जिन पर चिंतन आधारित होता है, **वस्तुओं के ऐसे प्रकार्यात्मक और क्रियात्मक संबंध एवं गुणधर्म हो सकते हैं, जिन्हें मनुष्य अपने अनुभव से जानता है।**

इसका उदाहरण यह मनोवैज्ञानिक प्रयोग हो सकता है। तराज़ू के एक पलड़े पर मोमबत्ती रखी गई और दूसरे पर उसके भार का बाट। फिर परीक्षणाधीन लोगों से कहा गया कि बाट घटाये-बढ़ाये बिना और मोमबत्ती को काटे बिना ही संतुलन बिगाड़ दें। इस सवाल को हल करने के लिए मोमबत्ती जलानी चाहिए, मोम जलने लगेगा, बत्ती हल्की हो जायेगी और संतुलन बिगड़ जायेगा। पर अधिकांश परीक्षणाधीन लोग इसे हल नहीं कर सके। उनके लिए "मोमबत्ती" की अवधारणा से उसका प्रकार्यात्मक लक्षण – उजाला करना – जुड़ा हुआ है। परीक्षणाधीन व्यक्तियों के सोचने के अनुसार, प्रत्यक्षतः इस लक्षण का सवाल से कोई संबंध नहीं है: बदलना तो दूसरा प्रकार्यात्मक लक्षण – भार – है। सवाल हल नहीं किया जा सका, क्योंकि परीक्षणाधीन व्यक्ति स्थिति के पुनर्गठन का तरीका नहीं ढूंढ़ पाये।

वस्तुओं के आम प्रकार्यों से संबंधित अर्थ (दैनंदिन मिथ्या संकल्पनाएं) व्यक्ति के निजी अनुभव पर आधारित होते हैं। इस मामले में वस्तुओं के संबंधों का ज्ञान व्यक्ति के व्यावहारिक अनुभव की संरचना में आबद्ध होता है, चिंतन मिथ्या संकल्पनाओं के तत्संबंधी पुनर्गठन की सहायता से होता है। इसे **व्यावहारिक चिंतन** कहते हैं।

यथार्थ के संरचनात्मक लक्षण, जिन पर चिंतन आधारित होता है, **विज्ञान द्वारा निर्धारित** उसके वस्तुगत, महत्त्वपूर्ण **गुणधर्म और नियमसंगतियां** हो सकते हैं। उदाहरणतः, निश्चित द्रव्यमान के पिंड पर निश्चित बल के लगने से कितना त्वरण होगा – यह निर्धारित करने के लिए छात्र न्यूटन के दूसरे नियम का प्रयोग करता है। ऐसा ज्ञान वैज्ञानिक संकल्पनाओं और नियमों में प्रतिबिंबित होता है। यह ज्ञान मानवजाति के संज्ञानमूलक अनुभव पर आधारित होता है। इस मामले में वस्तुओं के संबंधों के बारे में ज्ञान **वैज्ञानिक संकल्पनाओं और कथनों की संरचना** में आबद्ध होता है, और चिंतन इन संकल्पनाओं और कथनों को एक दूसरे से (या यथार्थ से) जोड़कर तथा उनके तत्संबंधी पुनर्गठन से होता है। यह **वैज्ञानिक चिंतन** है।

यथार्थ के संरचनात्मक लक्षण, जिन पर चिंतन आधारित होता है, **वस्तुओं और परिघटनाओं के विशिष्ट और सामान्य दोनों ही तरह के ऐसे संबंध** हो सकते हैं, जो सक्रियता के लिए सार्थक हों। कार्य-कारण, उद्देश्य और साधन, वस्तु और उसके गुण, अंश और संपूर्ण के संबंध सामान्य संबंधों में ही आते हैं। वस्तुओं और परिघटनाओं के ऐसे सामान्य सार्थक संबंध जिन विचारमूलक संरचनाओं में आबद्ध होते हैं, उन्हें **प्रवर्ग** कहते हैं। ये सारी मानवजाति के समस्त व्यावहारिक अनुभव पर आधारित होते हैं और यथार्थ जगत के प्रति उसका संबंध व्यक्त करते हैं। इस मामले में यथार्थ जगत के संबंधों के बारे में ज्ञान **चिंतन की प्रवर्गात्मक संरचना** में आबद्ध होता है, और स्वयं चिंतन इसी बात में निहित होता है कि यथार्थ जगत को प्रवर्गों के इस जाल में बिठाया जाये, वस्तुओं और घटनाओं को उनके गुणधर्मों, रूपों, आकारों, प्रकार्यों, कारणों, प्रयोजनों, घटकों के अनुसार व्यवस्थित किया जाये।

यथार्थ के संरचनात्मक लक्षण, जिन पर चिंतन आधारित होता

है, **संकल्पनाओं के संबंधों** के रूप में भी प्रस्तुत हो सकते हैं। उदाहरणतः उद्देश्य और विधेय, स्वीकरण और निषेध, संयोजन और वियोजन, विशिष्ट और सामान्य, अमूर्त और ठोस, निष्पत्ति और प्रत्यास्थापना के संबंध ऐसे ही संबंध हैं। इनका ज्ञान उन तर्कशास्त्रीय नियमों और संकल्पनाओं के रूप में बंधा होता है, जो मानवजाति के चिंतन-मूलक व्यवहार और अनुभव पर आधारित होते हैं। इस मामले में वस्तुओं के संबंधों के बारे में ज्ञान **चिंतन की तार्किक संरचनाओं** में आबद्ध होता है, और स्वयं चिंतन संकल्पनाओं के निर्धारण और पुनर्गठन के लिए इन संरचनाओं के उपयोग में प्रकट होता है। यथार्थ वस्तुओं पर क्रियाओं के स्थान पर तर्कशास्त्र के नियमों के अनुसार संकल्पनाओं से कार्य लेनेवाला चिंतन **तार्किक चिंतन** कहलाता है।

इस प्रकार चिंतन के शिक्षण में सर्वप्रथम छात्रों में निश्चित **संज्ञानमूलक संरचनाओं** का गठन आता है। ये संरचनाएं धारणाओं, अनुभव, संकल्पनाओं, प्रवर्गों और तार्किक संबंधों की संरचनाएं हो सकती हैं, जिनसे छात्र काम लेते हैं।

शिक्षण में चिंतन के विभिन्न भेदों के निर्माण की परिस्थितियां

निश्चित शैक्षिक परिस्थिति में चिंतन के किस भेद का निर्माण होगा, यह बात चार मूल कारकों पर निर्भर होती है: १) छात्र का वास्ता जिस सामग्री से है, उसके स्वरूप पर; २) उसे जिस भेद के कृत्यक का निष्पादन करना है, उस पर; ३) छात्र की आयु और उसके विकास के स्तर पर; ४) शिक्षण की रीति पर।

सामग्री को समझ लेने का अर्थ है वस्तुओं और परिघटनाओं के एक दूसरे से तथा छात्र के अपने ज्ञान और अनुभव से भी संबंध स्थापित कर लेना। चिंतन का अर्थ है निश्चित कृत्यकों के निष्पादन के लिए इन संबंधों का उपयोग करना। अनुसंधानों से पता चला है कि उपरोक्त संबंधों का स्वरूप विभिन्न हो सकता है। किसी सामग्री में ये मुख्यतः तार्किक होते हैं, जब कुछ तथ्यों की निष्पत्ति तर्कशास्त्र के नियमों के अनुसार सैद्धांतिक तल पर दूसरे तथ्यों से हो सकती है, उदाहरणतः, गणितीय प्रमेय को सिद्ध करना। ऐसे तथ्यों को **आवश्यक** कहा जा

सकता है। किसी सामग्री में संबंधों का स्वरूप प्रकार्यात्मक हो सकता है, तब वे तथ्यों के प्रेक्षण से प्राप्त निश्चित वैज्ञानिक नियम व्यक्त करते हैं, उदाहरणतः, बॉयल के नियम का उपयोग करने का भौतिकी का सवाल हल करना। ऐसे तथ्यों को **सुनिश्चित** कहा जा सकता है। कुछ मामलों में संबंध कोई वैज्ञानिक नियम नहीं, अपितु तथ्यों के कोई स्थायी संयोजन, जो व्यवहार में पाये जाते हैं, व्यक्त कर सकते हैं, जैसे कि विभक्तियां, हिज्जों के नियम, आदि। ऐसे तथ्यों को **नियमानुरूप** कहा जा सकता है। अंततः ऐसी भी सामग्री हो सकती है, जिसमें वस्तुओं, तथ्यों के बीच संबंध **संयोगी** हो सकते हैं, केवल प्रस्तुत सामग्री में ही पाये जा सकते हैं, जैसे किसी कविता में शब्द संयोजन, किसी स्थान की भू-आकृति।

यदि चिंतन सच्चा है, अर्थात यर्थाथ का सही प्रतिबिंबन करता है, तो वह केवल उन संबंधों पर ही आधारित हो सकता है, जो उसकी आरंभिक जानकारी में वास्तव में हैं। इसीलिए आवश्यक तथ्य तार्किक चिंतन के विकास के लिए अवसर प्रदान करते हैं, सुनिश्चित तथ्य वैज्ञानिक चिंतन के (वैज्ञानिक चिंतन अनिवार्यतः तार्किक भी होगा), नियमानुरूप तथ्य व्यावहारिक चिंतन के तथा संयोगी तथ्य बिंबात्मक चतन के विकास के लिए अवसर प्रदान करते हैं। किसी भी तरह की सामग्री की सहायता से हर तरह के चिंतन का निर्माण नहीं किया जा सकता। निश्चित शिक्षा सामग्री में कैसे संबंधों की प्रचुरता है, उसी के अनुसार वे संभावनाएं भी बदलती हैं, जो उसमें किसी एक तरह के चिंतन को विकसित करने के लिए होती हैं। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि कुल जमा आवश्यक संबंध गणितविज्ञान में अधिक पाये जाते हैं, सुनिश्चित संबंध प्राकृतिक (विशेषतः भौतिकी, रसायन में), नियमानुरूप संबंध भाषा एवं साहित्यशास्त्र में, जीवविज्ञान और भूगोल के कुछ भागों में, श्रममूलक एवं व्यावहारिक कार्यकलापों के अनेक क्षेत्रों में, तथा संयोगी संबंध (इन्हें व्यक्तिगत-एकल, अद्वितीय कहना अधिक सही होगा) कलाकृतियों और ललित साहित्य में पाये जाते हैं। अंततः, प्रवर्गात्मक संबंध संकल्पनामूलक चिंतन का आवश्यक आधार होते हैं और प्रत्यक्षतः दर्शनशास्त्र में ही वे प्रमुख होते हैं। इस काफ़ी स्थूल वर्गीकरण के आधार पर ही चिंतन के ऊपर चर्चित भेदों के

शिक्षण के लिए विभिन्न स्कूली विषयों की आपेक्षिक संभावनाएं निर्धारित की जाती हैं।

पहला कारक – तथ्यों का स्वरूप – जहां चिंतन के निश्चित भेद के विकास की केवल **संभावनाएं** ही पैदा करता है, वहीं दूसरा कारक – **कृत्यक का स्वरूप** – इसकी **आवश्यकता** उत्पन्न करता है। प्रत्येक कृत्यक के निष्पादन के लिए आरंभिक तथ्यों के निश्चित संबंधों का पता लगाने और उपयोग करने की अपेक्षा होती है। उदाहरणतः, गणित में प्रमेय सिद्ध करने के लिए आवश्यक तथ्यों के तार्किक संबंधों का पता लगाना और उपयोग करना चाहिए। परिमाण निर्धारित करने के सवाल (जैसे कि कितने घंटों में तालाब भरेगा) मुख्यतः प्रकार्यात्मक संबंधों का पता लगाने पर आधारित होते हैं और समीकरणों के हल (जैसे $x^2+2x=8$) के लिए प्रायः केवल नियमानुरूप पुनर्गठनों की ही आवश्यकता होती है। अंततः गणित में ही ऐसे भी कई सवाल हैं, जिनके हल के लिए बिंबात्मक चिंतन की भी आवश्यकता होती है (उदाहरणतः, ज्यामिति में रचना के सवाल)। सो, स्वयं कृत्यक ही आरंभिक तथ्यों में किसी एक तरह के संबंधों को चिंतन का आधार बनवाता है और इस तरह यह निर्धारित करता है कि हल में चिंतन के कौन से भेद की सिद्धि होती है। कृत्यक का स्वरूप बदलते हुए छात्र के सामने एक ही सामग्री के भिन्न-भिन्न पहलू रखे जा सकते हैं, उसमें चिंतन के विभिन्न भेद विकसित किये जा सकते हैं।

तीसरा कारक है – **छात्रों की आयु और विकास का स्तर।** आयु की सीमाएं बांधना कठिन है। जैसा कि ल० स० विगोत्स्की ने दिखाया है एक ही व्यक्ति में चिंतन के विभिन्न भेदों और स्तरों का सहअस्तित्व हो सकता है, जोकि उसके ज्ञान तथा किसी क्षेत्र में तत्संबंधी चिंतन के व्यवहार पर निर्भर होता है। फिर भी प्रत्यक्षतः मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि आयु के साथ-साथ चिंतन बिंबात्मक-व्यावहारिक से वैज्ञानिक और सैद्धांतिक की ओर बढ़ता है।

चौथा कारक है – **शिक्षण की रीति**, वे संबंध स्थापित करने की रीति, जिनसे चिंतन काम लेता है। विश्लेषण से पता चलता है कि शिक्षण की तीन प्रमुख रीतियां हैं:

१. छात्रों को पहले से ही सामान्य सिद्धांतों, सूत्रों, नियमों,

आदि के रूप में आवश्यक संबंधों के बारे में बता दिया जाता है। यह **सिद्धांतों के शिक्षण** का तरीका है।

२. तथ्यों पर सोच-विचार करते, उन्हें समझते हुए तथा उनसे काम लेते हुए छात्र स्वयं महत्त्वपूर्ण संबंधों का पता लगाते हैं। यह **उदाहरणों से शिक्षण** का तरीका है।

३. छात्रों को युक्तियां सिखाई जाती हैं, वे लक्षण ढूंढ़ने सिखाये जाते हैं, जिनकी सहायता से वस्तुओं और परिघटनाओं के आवश्यक संबंधों का पता चलता है। इस मामले में यदि छात्रों को विचारमूलक सक्रियता की आवश्यक रीतियां सिखा दी जाती हैं, तो वे स्वयं तथ्यों के महत्त्वपूर्ण संबंधों का पता लगा लेते हैं। यह **चिंतन के संरचनात्मक संकेतों के शिक्षण** का तरीका है।

मनोविज्ञानवेत्ताओं ने संज्ञानमूलक संरचनाओं के आत्मसात्करण के तीनों तरीकों की तुलना की है। अनुसंधानों के परिणामों से पता चलता है कि अन्य परिस्थितियां समान होने पर सिद्धांतों के शिक्षण के तरीके से **संकल्पनाओं को समझने** में कुछ बेहतर परिणाम पाये जाते हैं। उदाहरणों से शिक्षण का तरीका **याद करने** के लिए कुछ अधिक कारगर है। और संरचनात्मक संकेतों का शिक्षण **बौद्धिक दक्षताओं के अन्तरण** में अधिक सहायक होता है। दसरे शब्दों में, यह छात्रों के **चिंतन के विकास** के लिए अधिक कारगर है। सो संकल्पनाओं के शिक्षण में प्रस्तुत सभी कार्यभारों की सर्वोचित पूर्ति के लिए उसमें उपरोक्त तीनों तरीकों का मेल होना चाहिए।

चिंतन की क्रियात्मक संरचनाएं और उनके निर्माण की परिस्थितियां

ऊपर संज्ञानात्मक संरचनाओं पर गौर किया गया है, जिनमें चिंतन यथार्थ जगत के संबंधों को प्रतिबिंबित करता है। किंतु चिंतन क्रियाओं की सहायता से ही इन संबंधों का पता लगाता और उपयोग करता है। इन क्रियाओं की प्रणाली **चिंतन की क्रियात्मक संरचनाएं** होती है।

शिक्षा मनोविज्ञान के लिए यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है कि ये संरचनाएं

शिक्षण की विधि पर निर्भर करती हैं, जिससे चितन का निर्माण होता है। यदि चिंतन का निर्माण **तैयार सामान्य नियमों** (सूत्रों, सिद्धांतों) **की** सूचना, हृदयंगमन और उपयोग के ज़रिये होता है, तो चिंतनमूलक क्रियाओं का आधार मुख्यतः **सामान्य नियम (सिद्धांत) और उन वस्तुओं (स्थितियों) का संबंध ही होता है, जिनके प्रति उसे प्रयुक्त किया जा सकता है, अर्थात मौलिक सामान्यीकृत साहचर्य** ही चिंतनमूलक क्रिया का आधार होते हैं। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ता प० अ० शेवर्योव (१८९२-१९७०) ने ऐसे साहचर्यों तथा शिक्षण में उनकी भूमिका का विस्तार से अध्ययन किया। उन्होंने पता लगाया कि सामान्यीकृत साहचर्य मुख्यतः तीन तरह के हो सकते हैं।

१. **अर्धविकल्पी साहचर्य।** ये साहचर्य विभिन्न ठोस वस्तुओं के निश्चित लक्षणों को तत्संबंधी अवधारणाओं से जोड़ते हैं। उदाहरणतः, जब कोई व्यक्ति कोई आकृति देखता है और यह समझता है कि "यह त्रिकोण है" तो उसके मस्तिष्क में अर्धविकल्पी साहचर्य बनता है। इस साहचर्य की अभिप्रेरक वस्तुए भिन्न-भिन्न होती हैं। ये छोटे, बड़े किसी भी तरह के त्रिकोण हो सकते हैं। परंतु ज्यों ही मनुष्य उनमें से किसी में भी तत्संबंधी वर्गमूलक लक्षण देखता है, त्यों ही उसकी चेतना में यह बात भी उठती है कि यह त्रिकोण है।

२. **अमूर्त विकल्पी साहचर्य।** ये साहचर्य वस्तु के सामान्य लक्षणों को उसकी ठोस विशिष्टताओं से जोड़ते हैं। उदाहरणतः, इस बात से कि ह्वेल स्तनपायी जीव है यह निष्कर्ष निकलता है कि वह हवा से सांस लेती है।

३. **ठोस विकल्पी साहचर्य।** ये साहचर्य वस्तु की ठोस विशिष्टताओं को इस पर की जानेवाली ठोस क्रियाओं से जोड़ते हैं। उदाहरणतः, इस बात को समझने से कि a^2-b^2 वर्गों का अंतर है यह भी समझा जाता है कि इस सूत्र को दूसरे सूत्र $(a+b)\times(a-b)$ से बदला जा सकता है।

ऐसे साहचर्य ठेठ किस्म के कृत्यकों के हल में और सामान्यतः ठोस मामले में किन्हीं सूत्रों या नियमों (गणित के, तर्कशास्त्र के नियमों) के उपयोग में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। **स्वयं उस नियम की**, जिस के अनुसार किन्हीं वस्तुओं के स्थान पर दूसरी वस्तुओं को रखने की संभावना होती है, मनुष्य को **चेतना नहीं होती है।** वह

मनुष्य की मानसिक क्रियाओं में, उसकी धारणाओं और संकल्पनाओं की "गति" में, वाक् एवं अन्य क्रियाओं में यंत्रवत् ही लागू होता है। इस स्वचालन के आधार पर ही उपरोक्त संबंधों को **साहचर्यमूलक** माना जाता है।

"अच्छा", अर्थात सही, सफल, कारगर चिंतन **उन सामान्यीकृत साहचर्यों को, जो निष्पादित किये जानेवाले कृत्यक के अनुकूल होते हैं,** लागू कर सकता है। यही कारण है कि कारगर चिंतन के शिक्षण से वस्तुओं के सामान्य गुणधर्मों या संबंधों से परिचित कराने मात्र की ही नहीं, बल्कि **यह आत्मसात् कराने की भी अपेक्षा होती है कि किन कृत्यकों के लिए ये गुणधर्म महत्त्वपूर्ण हैं।**

निश्चित वस्तु के लिए **व** संकेत लें (उदाहरणत:, त्रिकोण के लिए), वस्तु पर निश्चित क्रियाओं के लिए सूचनांक के साथ **क** (उदाहरणत:, **$क_1$** – "१८०^0 में से दो ज्ञात कोणों का योग घटाना", **$क_2$** – "आधार की लंबाई को शीर्षलंब से गुणा करना और दो से भाग करना")। सूचनांक के साथ **स** संकेत "त्रिकोणों के विभिन्न सवालों" के लिए लें (उदाहरणत:, **$स_1$** – "अज्ञात कोण का पता लगाना", **$स_2$** – "त्रि-कोण का क्षेत्रफल निर्धारित करना")।

तब त्रिकोण का क्षेत्रफल निर्धारित करते हुए (व $स_2$) निम्न सामान्यीकृत साहचर्य की सिद्धि होगी: **व $स_2 \rightarrow क_2$।**

इस दृष्टि से **चिंतन के शिक्षण** का अर्थ है छात्र के मस्तिष्क में एक ओर निश्चित **वस्तुओं (व) और कृत्यकों, सवालों (स)** के बीच ऐसे ही संबंधों की चेतना तथा दूसरी ओर, **जवाबी क्रियाओं (क)** के साथ संबंधों की चेतना बनाना, अर्थात **व स → क** किस्म का साहचर्य गठित करना। ऐसा, उदाहरणत:, निम्न तरीके से किया जाता है। पहले छात्रों को वस्तु और कृत्यक के बारे में बताया जाता है, वस्तु के वे गुण समझाये जाते हैं, जो कृत्यक के निष्पादन के सिद्धांत निर्धारित करते हैं, और ये सिद्धांत तथा इन पर आधारित निष्पादन की रीति भी समझायी जाती है। फिर अभ्यास करते हुए निष्पादन के सिद्धांतों और रीति को स्थायी संबंधों की निश्चित प्रणालियों में आबद्ध किया जाता है। छात्र के मस्तिष्क में तैयार, स्वत: चालू होनेवाली कार्यविधि बन जाती है, जो तत्संबंधी आरंभिक तथ्य, आंकड़े और सवाल पाकर

तुरंत चालू हो जाती है और छात्र आरंभिक तथ्यों, आंकड़ों पर सवाल के हल के लिए आवश्यक सभी क्रियाएं "सोचे बिना ही" करता है, उसे प्रायः इस बात की चेतना भी नहीं होती कि वह ऐसा क्यों कर रहा है। और इसके लिए प्रत्यक्षतः यह अनिवार्य नहीं है कि सवाल ठेठ किस्म के हों और उन्हें हल करने की रीति पहले से ज्ञात हो। हल की अज्ञात रीति खोजने, आरंभिक तथ्यों के विश्लेषण और संश्लेषण, इत्यादि के लिए भी ऐसी ही साहचर्यपरक क्रियाविधियां बनायी जा सकती हैं।

पिछले वर्षों में यह अवधारणा **शिक्षण के एल्गोरिथ्मीकरण** के विभिन्न सिद्धांतों के आधार में रखी गयी है। इनका सार यह है कि छात्रों को न केवल निश्चित वस्तुओं के महत्त्वपूर्ण लक्षणों की संकल्पनाओं की शिक्षा दी जाती है, बल्कि उन नियमों (एल्गोरिथ्मों) की भी, जिनके अनुसार ये लक्षण निश्चित कृत्यकों के निष्पादन के लिए आवश्यक क्रियाओं से जोड़े जाते हैं। उदाहरणतः, साधारण वाक्य के भेदों का अध्ययन करते हुए ऐसा एल्गोरिथ्म दिया जाता है: "१. यह देखो कि वाक्य में विधेय है या नहीं। यदि नहीं, तो यह **अभिधान** वाक्य है। २. यदि हां, तो यह देखो कि उद्देश्य है कि नहीं। ३. यदि हां, तो वाक्य **पहले भेद का, पुरुषवाचक है।** यदि नहीं, तो ...", इत्यादि।

अभ्यासों के दौरान एल्गोरिथ्म स्वचालित हो जाता है और साधारण वाक्य (**व**) से साबिका होने पर और उसका भेद निर्धारित करने का सवाल (**स**) आने पर तुरंत ही इस स्थिति में चिंतनमूलक क्रिया (**क**) की रीति के रूप में यह एल्गोरिथ्म प्रयुक्त होता है। इस प्रकार, एक तरह की **विशेषीकृत बौद्धिक दक्षता** बन जाती है, या विशेष चिंतनमूलक क्रियाविधि बन जाती है, जो इस किस्म के कृत्यकों के संपादन के लिए नियत होती है।

बौद्धिक सक्रियता के ऐसे विशेष एल्गोरिथ्मों के बनने से **चिंतन की संक्रियात्मक संरचना गठित होती है, अर्थात बौद्धिक सक्रियता की विभिन्न ठोस प्रणालियां बनती हैं, जिनका छात्र उपयोग करते हैं।**

चिंतन की संक्रियात्मक संरचना के गठन का **दूसरा तरीका** है उन संबंधों को आत्मसात् करना, जिन पर चिंतन आधारित होता है। इस तरीके के मूल में यह बात निहित है कि छात्र स्वयं ही वस्तुओं पर क्रियाओं के दौरान उनके संरचनात्मक लक्षण देखते हैं, तत्संबंधी संकल्प-

नाओं का उपयोग करते हैं, उनकी सहायता से निश्चित कृत्यक हल करते हैं। यहा वे **चिंतनमूलक संक्रियाएं** अग्रभूमि में आती हैं, जो वस्तुओं के महत्त्वपूर्ण संरचनात्मक लक्षणों और संबंधों को प्रकट करती हैं। मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों से पता चलता है कि **तादात्म्यीकरण, प्रभेदन, विश्लेषण और संश्लेषण** ऐसी संक्रियाएं हैं।

विश्लेषण और संश्लेषण के (तथा प्रभेदन और तादात्म्यीकरण के भी) परिणाम **अमूर्तीकरण, सामान्यीकरण, ठोसीकरण और प्ररूपीकरण** की प्रक्रियाओं की सहायता से संकल्पनाओं में आबद्ध होते हैं। इन प्रक्रियाओं की बदौलत विश्लेषण, संश्लेषण, प्रभेदन, तादात्म्यीकरण की संक्रियाओं के परिणामस्वरूप यथार्थ जगत के जिन लक्षणों और संबंधों का पता चलता है, वे वस्तुओं से अलग होते हैं और संकल्पनाओं में आबद्ध होते हैं (अमूर्तीकरण, सामान्यीकरण), या इसके विपरीत निश्चित वस्तुओं के माने जाते हैं, उनमें मूर्तित होते हैं (ठोसीकरण और प्ररूपीकरण)।

इस मामले में चिंतन की संक्रियात्मक संरचनाओं के गठन का अर्थ है **हल किये जा रहे कृत्यक के अनुरूप वस्तुओं, धारणाओं और संकल्पनाओं पर उपरोक्त चिंतनमूलक संक्रियाएं और क्रियाएं करने की योग्यता पाना।** इस दृष्टि से चिंतन के शिक्षण का अर्थ है मनुष्य को यह सिखाना कि **वस्तुओं और कृत्यकों के निश्चित वर्गों के लिए उपरोक्त प्रक्रियाओं और संक्रियाओं को कैसे करना चाहिए।**

सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं ने इन विचारों को शिक्षणशास्त्र में उतारने का कार्य किया है। विश्लेषण और संश्लेषण, अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण की ठोस रीतियों को उन्होंने **बौद्धिक सक्रियता की युक्तियां** कहा है। अनुसंधानों से पता चला है कि ये युक्तियां शिक्षा सामग्री तथा हल किये जा रहे कृत्यकों के स्वरूप के अनुसार बदलती हैं। उदाहरणतः, वनस्पतिशास्त्र और अंकगणित में वस्तुओं के विश्लेषण की युक्तियां भिन्न-भिन्न होंगी। वनस्पतिशास्त्र में ये वनस्पति के प्रकार्यात्मक अंगों (पत्ती, जड़, फूल) पर, उनकी रचना और आकार पर आधारित होंगी, जबकि अंकगणित में ये गिनती, राशियों की तुलना, क्रमस्थापन, आदि पर निर्भर करती हैं। इस प्रकार, चिंतन का शिक्षण सदा निश्चित सारगर्भित सामग्री के आधार पर होता है

और यह इस बात में निहित होता है कि **छात्रों को बौद्धिक सक्रियता की वे ठोस रीतियां सिखायी जाती हैं**, जो तत्संबंधी सामग्री के संरचनात्मक गुणधर्मों का पता लगाने तथा संज्ञानात्मक शैक्षिक और व्यावहारिक कृत्यकों के संपादन में उनके उपयोग के लिए आवश्यक होती हैं।

अंततः, यथार्थ जगत के संबंधों को आत्मसात् करने का **तीसरा तरीका** है उसे किन्हीं **सामान्य प्रवर्गों और तार्किक संरचनाओं** में ढाल कर देखना। पहली बात **प्रवर्गीकरण** की प्रक्रिया से होती है। इसकी सहायता से विचाराधीन तथ्यों और परिघटनाओं में ऐसे सामान्य निश्चित प्रकार्यात्मक संबंध प्रकट किये जाते हैं, जैसे कि गुण, परिमाण, मात्रा, कारण, कार्य, अन्योन्यक्रिया, उद्देश्य, साधन, प्रयोजन। दूसरी बात **व्यवस्थापन** से होती है। इसमें वर्गीकरण, क्रमस्थापन, विवक्षा, अंतर्वेशन और अपवर्जन आते हैं। इन संक्रियाओं की सहायता से वस्तुओं या संकल्पनाओं के बीच अधीनता या सहअधीनता, वैपरीत्य या संगतता, अनुक्रमिकता के संबंध बन जाते हैं।

संकल्पनाओं की सहायता से यथार्थ के ऐसे प्रवर्गीकरण और व्यवस्थापन को **सूत्रीकरण** की निश्चित प्रणाली माना जा सकता है। इसकी सहायता से विभिन्न वस्तुओं को समतुल्यता (निश्चित लक्षणों की समता) के निश्चित वर्गों में रखा जाता है। मान लिया कि किसी वस्तु को निश्चित वर्ग में रखा गया है। तब इस वस्तु के ज्ञात लक्षणों के अलावा इसमें उन गुणों का होना भी माना जा सकता है, जो इस वर्ग के लिए लाक्षणिक हैं। उदाहरणतः, जब यह निर्धारित है कि दत्त आकृति त्रिकोण है, तो इसमें स्वतः ही ऐसे लक्षणों का होना माना जा सकता है जैसे कि "आंतरिक कोणों का योगफल १८०^0 के बराबर है", "क्षेत्रफल आधार की आधी लंबाई तथा शीर्षलंब के गुणनफल के बराबर है", इत्यादि।

मनुष्य मानो "उपलब्ध सूचना के पार देखता है", ठोस वस्तु के प्रेक्षण से प्राप्त सूचना की सीमा से बाहर निकलता है।

इस दृष्टि से नयी संकल्पनाओं का गठन भिन्न-भिन्न विशिष्ट प्रणालियों को नयी, अधिक सामान्य प्रणालियों में गठित करते हुए सूचना का पुनःसूत्रीकरण माना जा सकता है। विज्ञान का शिक्षण इन अधिक

ऊंचे स्तर की सूत्रीकरण की प्रणालियों का शिक्षण माना जा सकता है। विज्ञान का उद्देश्य यह है कि संकल्पनाओं द्वारा प्रतिबिंबित परिघटनाओं के वर्गों के बारे में हर तरह की दूसरी सूचना जहां तक संभव हो पूर्वानुमान योग्य और प्रचुर और अतिरिक्त हो जाये। उदाहरणतः, ज्यामिति में कुछ मूल संकल्पनाओं, परिभाषाओं और स्वयंसिद्धियों से भांति-भांति की अनेक आकृतियों के विविध गुणों और संबंधों के बारे में व्यापक सूचना पायी जा सकती है; भौतिकी में $S=gt^2$ के एक सूत्र से ही दत्त समय में किसी भी गिरते पिंड द्वारा तय की गई दूरी को मापना अनावश्यक हो जाता है।

इस दृष्टि से शिक्षण का कार्यभार अनेकानेक प्रारंभिक ठोस तथ्यों को आत्मसात् करना इतना नही है, जितना कि सूत्रीकरण की प्रणालियों को आत्मसात् करना। इसलिए संकल्पनाओ का शिक्षण निगमनात्मक विधि के, छात्रों द्वारा सर्वप्रथम सामान्य व्यवस्थापक सिद्धांतों के आत्मसात्करण के आधार पर संगठित करना ही अधिक उपयुक्त है। अधिक विशिष्ट संकल्पनाओं और ठोस तथ्यों को इन सिद्धांतों की कमोबेश ठोस अभिव्यक्ति के रूप में ही पेश करना चाहिए।

पिछले वर्षों में इस उपागम को क्रियान्वित करनेवाले पाठ्यक्रम "र पाठ्य-पुस्तकें बनाने की कोशिशें की जा रही हैं। इनका मुख्य ध्यय है छात्रों के मस्तिष्क में प्रदत्त विज्ञान की संकल्पनाओं की प्रणाली बनाना और इस प्रणाली के निर्माण, विस्तार और उपयोग के सिद्धांतों की समझ पैदा करना।

चिंतन के शिक्षण के तरीके

यदि संज्ञानात्मक संरचनाओं का निर्माण सामान्यीकृत साहचर्यों, बौद्धिक सक्रियता की युक्तियों तथा बुद्धि की संक्रियात्मक संरचनाओं को आत्मसात् करने से होता है, तो स्वयं ये साहचर्य, युक्तियां और संरचनाएं कैसे बनती हैं? इनकी शिक्षा कैसे दी जाये?

अधिकांश आधुनिक बुर्जुआ मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के अनुसार चिंतन एक स्वचालित आंतरिक प्रक्रिया है, जो कॉर्टेक्स में **उसकी सक्रियता के जन्मजात नियमों के अनुसार** होती है। यह प्रक्रिया

कठिनाई का सामना होने पर, सीधी स्वचालित प्रतिक्रियाओं की सहायता से कृत्यक का निष्पादन करना असंभव होने पर उत्पन्न होती है। **कृत्यक** इसे **निदेशित करता है**, क्योंकि इसका ध्येय उसका निष्पादन है, तथा **बाह्य परिस्थितियां** भी, क्योंकि प्रक्रिया उन्हें ध्यान में रखते हुए तथा उनका उपयोग करते हुए ही होती है। परंतु कठिनाई, कृत्यक और परिस्थिति – ये सब बातें उस सामग्री द्वारा ही निर्धारित होती हैं, जिससे चिंतन काम लेता है। और चिंतन की अपनी सक्रियता उसके अपने आंतरिक नियमों पर, उसकी जन्मजात क्रियाविधियों पर निर्भर करती है। कठिनाई, कृत्यक, परिस्थिति – ये सब केवल इन क्रियाविधियों को किसी एक दिशा में चालू करते हैं। बुर्जुआ मनोविज्ञान में चिंतन सक्रियता की समस्या इस प्रकार हल की जाती है। स्वाभाविक ही है कि इसमें स्वयं इन "क्रियाविधियों" अर्थात चिंतन की संक्रियात्मक संरचनाओं के निर्माण का कार्यभार रखा ही नहीं जा सकता, क्योंकि ये "क्रियाविधियां" तो जन्मजात हैं, आनुवंशिक धरोहर हैं, "ईश्वरीय देन" हैं। अध्यापक अधिक से अधिक इतना ही कर सकता है कि उपयुक्त सक्रियता प्रदान करके इन क्रियाविधियों को जागृत करे, उनको दिशा प्रदान करे और उनका अभ्यास कराये। सो चिंतन के शिक्षण का एकमात्र पथ है उपयुक्त कृत्यकों के संपादन से और निश्चित सामग्री आत्मसात् कराते हुए **चिंतन का अभ्यास कराना**। सबसे बड़ी बात है कि छात्र को नियमित रूप से आवश्यक सूचना दी जाती रहे और उससे तत्संबंधी कृत्यक कराये जायें। तब आवश्यक साहचर्य, बौद्धिक सक्रियता की युक्तियां और संक्रियात्मक संरचनाओं का जागरण स्वयं ही हो जायेगा। छात्र स्वयं ही चिंतन कार्य करते हुए प्रयत्नों और त्रुटियों के रास्ते उनका उपयोग करना सीख लेगा।

सोवियत शिक्षा मनोविज्ञान में यह माना जाता है कि चिंतन केवल प्रेरित ही नहीं किया जाता, बल्कि **सक्रियता से, क्रियाकलापों से निर्मित भी किया जाता है**। यही कारण है कि सबसे पहले सोवियत मनोविज्ञान ने ही **बौद्धिक सक्रियता की युक्तियों के शिक्षण** का कार्यभार रखा है। इसके अनुसार शिक्षण दोहरी प्रक्रिया है – ज्ञान का संचय करना तथा उसके अपयोग की रीतियां सीखना।

ज्ञान के उपयोग की रीतियां सिखाने के लिए पहले तो छात्रों को

उनसे **परिचित कराया जाता है**, दूसरे, **अभ्यास कराया जाता है**, अर्थात विभिन्न सामग्रियों पर बौद्धिक सक्रियता की तत्संबंधी युक्तियों का प्रयोग, और तीसरे, **अन्तरण सिखाया जाता है**, अर्थात नये कृत्यकों के हल के लिए बौद्धिक सक्रियता की मूलभूत युक्तियों का उपयोग करना सिखाया जाता है।

अतः, बौद्धिक सक्रियता की युक्तियों के गठन का **मार्ग** प्रायः ऐसा है: युक्ति की अंतर्वस्तु का आत्मसात्करण → स्वयं छात्र द्वारा उसका प्रयोग → नई स्थितियों पर उसका अन्तरण।

युक्ति के भेद के अनुसार उसकी **अंतर्वस्तु** आत्मसात् करने के लिए– १) **एल्गोरिथ्म**, अर्थात निश्चित क्रम में पूरा किये जानेवाले निर्देशों की प्रणाली (जैसे साधारण वाक्य के भेद निश्चित करने का एल्गोरिथ्म); २) **परामर्शों**, अर्थात विकल्पी निर्देशों की प्रणाली (उदाहरणतः, दो अज्ञात अंकों के समीकरण हल करने के नियम); ३) **सामान्य सिद्धांत** (उदाहरणतः, एक ही अंश के प्रति समीकृत करके सवाल हल करने के नियम) – इन तीन में से किसी एक तरीके की सहायता ली जाती है।

उधर बौद्धिक सक्रियता की युक्तियां **सीखने के तरीके** स्वयं युक्ति के स्वरूप और शिक्षण की विधि के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। उदाहरणतः, युक्ति **तैयार रूप में** अध्यापक से पायी जा सकती है या छात्र **स्वयं उसे खोज सकते हैं**। यह खोज **प्रयासों और त्रुटियों** के ज़रिये हो सकती है या तुरंत ही "मामले के सार को समझ लेने" से। युक्ति का विकास **संकीर्ण** विकल्प से, जिसका उपयोग केवल निश्चित सामग्री और कृत्यक के लिए ही किया जा सकता है, **व्यापक** विकल्प की ओर हो सकता है, जिसका उपयोग भांति-भांति के कृत्यकों के लिए किया जा सकता है; **ठोस** उपयोग (यथार्थ वस्तु पर प्रयुक्त) से **अमूर्त** (अमूर्त गुण-धर्मों और संबंधों पर प्रयुक्त) की ओर हो सकता है, इत्यादि।

रचनात्मक चिंतन का निर्माण

अपने व्यावहारिक और सैद्धांतिक कार्यकलापों में मनुष्य का सामना ऐसे कृत्यकों या तथ्यों से हो सकता है, जिनके लिए उसके चिंतन की

संक्रियात्मक और संज्ञानात्मक संरचनाओं मे उपयुक्त विधियां और संकल्पनाए नही हैं, क्योंकि वस्तुओं के जिन संबंधों का उसे पता चला है उनसे मानवजाति अपरिचित है (या कम से कम उसने उनकी ओर ध्यान नही दिया है), या यह व्यक्ति किन्ही कारणों से पहले से ज्ञात संबंधों और गुणधर्मों से परिचित होने के अवसर से वंचित है और उसके लिए यह नई खोज ही है। ऐसा भी हो सकता है कि जिन कृत्यकों से व्यक्ति का साबिका पड़ा है, उन्हें मानवजाति को ज्ञात विधियों से हल नही किया जा सकता। ऐसे संबंध अभी संकल्पनाओं में आबद्ध नहीं हैं, और कृत्यकों के निष्पादन की रीतियां उपलब्ध एल्गोरिथ्मों और चिंतन की विधियों में नही हैं।

ऐसे "संकल्पनाइतर" संबंधों को देख पाना और ऐसे असंपादित कृत्यकों का संपादन करना जिन संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं की बदौलत संभव होता है, उन्हें ही **रचनात्मक चिंतन** कहते हैं। इसके रूपों और संक्रियात्मक संरचनाओं के बारे में अभी तक बहुत कम पता है। "प्रबोध", "प्रेरणा", "अंतःप्रज्ञा" जैसे शब्द केवल उस स्थिति का वर्णन करते हैं, जब रचनात्मक चिंतन पहले चरण में पूरी तरह से संकल्पनाओं और तार्किक संक्रियाओं के रूप मे प्रवाहित नहीं हो सकता, क्योंकि इनका अभी अस्तित्व ही नही है। इन शब्दों का अर्थ यह भी है कि रचनात्मक चिंतन का परिणाम – ज्ञात धारणाओं, संकल्पनाओं और संक्रियाओं को प्रयुक्त करना मात्र ही नही है, अपितु नये बिंबों, अर्थों और कृत्यकों के निष्पादन की नयी रीतियों का सृजन करना है, और सो भी ऐसे बिंबों, अर्थों और रीतियो का, जिनसे यथार्थ के नये गुणधर्मों का पता लगता है या उसके पुनर्गठन की नयी रीतियां मिलती हैं। इस प्रकार रचनात्मक चिंतन रचनात्मक कल्पना के बहुत निकट आता है, बल्कि दोनों एक दूसरे में मिल ही जाते हैं।

इस बात में रचनात्मक चिंतन **समस्यामूलक** चिंतन से सिद्धांततः भिन्न है। समस्यामूलक चिंतन भी नये कृत्यकों का समाधान प्रस्तुत करता है किंतु ज्ञात संकल्पनाओं और विधियों के आधार पर। प्रत्यक्षतः रचनात्मक चिंतन के लिए सबसे बड़ी बात है **रूढ़ि मुक्त होना, यथार्थ को उसके सभी संबंधों में देख पाने की क्षमता**, न कि केवल उन संबंधो में ही जो ज्ञात संकल्पनाओं और धारणाओं में आबद्ध हैं। यथार्थ के

किसी क्षेत्र के गुणधर्मों को यथासंभव पूर्ण रूप से देख पाने के लिए इस क्षेत्र से संबंधित सभी तथ्यों का पता होना चाहिए। इन तथ्यों को सम्मिलित करनेवाली संकल्पनाओं और चिंतन विधियों की अपर्याप्तता देख पाने के लिए इन संकल्पनाओं और विधियों का उपयोग करने की योग्यता होनी चाहिए। अतः रचनात्मक चिंतन में ज्ञान और योग्यता का अपार महत्त्व होता है।

जो तथ्य और परिघटनाएं अभी किसी संकल्पना में नहीं ढलते हैं, वे भी चिंतन में प्रतिबिंबित होते ही हैं। प्रत्यक्षतः ऐसा कल्पना की सहायता से होता है। कल्पना तर्क के चौखटे में नहीं जड़ी होती, सो इसके लिए यथार्थ की धारणाओं के बिल्कुल असाधारण, **अजीबोगरीब** सहसंबंध, संगठन और पुनर्गठन मान्य होते हैं। यह अकारण ही नहीं कहा जाता कि कल्पना के बिना रचनात्मक कार्य नहीं हो सकता।

इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि **रचनात्मक चिंतन** का ध्येय और स्वरूप "सामान्य", संकल्पनात्मक, तार्किक चिंतन के शिक्षण जैसा नहीं होता है। "सामान्य" चिंतन का प्रमुख कार्यभार यह है कि छात्रों का सामना जिन तथ्यों से होता है, उनका निश्चित ज्ञात संकल्पनाओं से और सभी कृत्यकों का संपादन की ज्ञात रीतियों से नाता जोड़ना। इसके विपरीत रचनात्मक चिंतन के शिक्षण की अपेक्षा यह है कि सभी सीखी जा रही संकल्पनाओं और विधियों की बाल की खाल उधेड़ कर देखी जाये, उनका मूल्यांकन किया जाये। इस शिक्षण का ध्येय आदमी को यह देखना सिखाना होना चाहिए कि सच्चे यथार्थ की तुलना में सभी संकल्पनाएं और विधियां सीमित, अपूर्ण और आरेखीय ही होती हैं। रचनात्मक चिंतन को मनुष्य को यथार्थ तथ्यों और उनके बारे में धारणाओं के बीच अंतर देखना सिखाना चाहिए। मनुष्य को रचनात्मक चिंतन से इस बात में मदद मिलनी चाहिए कि वह शब्दों द्वारा बनी समझ की सीमाओं को पार करके वस्तुओं और परिघटनाओं के साथ सीधी अन्योन्यक्रिया से बननेवाले दृश्य को देख सके। रचनात्मक चिंतन से मनुष्य में आदतन, स्वतःसिद्ध "सहज बुद्धि" या हस्तियों द्वारा स्वीकृत धारणाओं, दृष्टिकोणों, चिंतन रीतियों की सीमाओं को लांघने का साहस आना चाहिए। साथ ही अत्यंत सावधानी से और आत्मत्याग की भावना के साथ काम करने और नयी कृतियों के मूल्यांकन में आलोच-

नात्मक रवैया अपनाने की शिक्षा भी मिलनी चाहिए। रचनात्मक चिंतन को मनुष्य को विश्वास नहीं प्रमाण, अभिपुष्टि नहीं सत्य, निश्चिंतता नहीं चिर उत्सुकता, समाप्ति नही सदा पथ का आरंभ ही खोजना सिखाना चाहिए। संक्षेप में यह कि रचनात्मक चिंतन से मनुष्य को यह सीखना चाहिए कि वह सदा, सर्वत्र, सभी कार्यों में तथ्यों को उनके बारे में तैयार धारणाओं के सांचे में न ढाले, बल्कि इन धारणाओं को तथ्यों से परखे ; समझ में आने लायक कृत्रिम जगत की रचना न करे, बल्कि ऐसी समझ बनाये, जो यथार्थ जगत की व्याख्या कर सके।

रचनात्मक चिंतन के निर्माण के मार्गों का अध्ययन अभी मनोविज्ञान में आरंभ ही हुआ है।

सही चिंतन का विकास

उल्लेखनीय है कि चिंतन अंशतः असंकल्पनात्मक और अतार्किक हो सकता है और इसका कारण केवल उसकी अंतर्वस्तु ही नहीं होती। चिंतन तो मानव सक्रियता का ही एक रूप है। सो यह केवल बाह्य स्रोतों (कृत्यक तथा वस्तुगत तथ्यों) द्वारा ही नहीं, बल्कि आंतरिक, व्यक्तित्वमूलक स्रोतों, अर्थात **रुझानों, मान्यताओं** के रूप में व्यक्ति की **आवश्यकताओं** द्वारा भी निर्धारित होता है। मनुष्य के अभिप्रेरणात्मक क्षेत्र के साथ चिंतन के इस घनिष्ठ संबंध के गंभीर परिणाम हो सकते हैं। आंतरिक प्रेरणाएं सही चिंतन के मार्ग में बाधाएं हो सकती हैं। उदाहरणतः, इनसे ऐसी धारणाएं और संकल्पनाएं बन सकती हैं, जो यथार्थ के अनुरूप नहीं होंगी, बल्कि उसके प्रति व्यक्ति का रवैया (उसकी इच्छाओं, भावनाओं, स्वप्नों) को ही प्रतिबिंबित करेंगी। चिंतन की ऐसी विकृति को **आत्मकेंद्रीयता** कहा जाता है। चिंतन की **अनालोचनात्मकता** में यही विकृति कुछ क्षीण रूप में व्यक्त होती है। अनालोचनात्मक चिंतनवाले व्यक्ति के मस्तिष्क में जो व्याख्या, अथवा समझ बनती है (या उसे जो बतायी जाती है), उसे वह तुरंत ही स्वीकार कर लेता है, वह इस व्याख्या अथवा समझ को परखने, तथ्यों से उसकी तुलना करने की आवश्यकता महसूस नहीं करता।

व्यक्ति की **मान्यताओं** का भी चिंतन पर काफ़ी प्रभाव पड़ता है। इनके कारण चितन में तब निश्चित जड़ता या रूढ़िपरकता आ सकती है, जब व्यक्ति किसी संकल्पना या हल का उपयोग आदतन ही, यथार्थ के प्रति पहले से बने निश्चित रुख या अपेक्षाओं के आधार पर ही करता है।

इन सब मामलों में चिंतन की संज्ञानात्मक संरचनाएं विकृत होती हैं, चिंतन अपना मूल कार्यभार – यथार्थ का सही प्रतिबिंब प्रस्तुत करना और उसमें मार्ग-दिशाएं इंगित करना – पूरा नहीं कर पाता।

चिंतन की **संक्रियात्मक एवं तार्किक संरचनाओं** की विकृतियों के भी परिणाम ऐसे ही होते हैं। ऐसी एक विकृति है चिंतन का अप्रणालीबद्ध होना, जब चिंतन तर्कसंगत नहीं रहता, उसकी संक्रियाओं में क्रमबद्धता भंग हो जाती है।

अंततः **प्रवर्गात्मक** संरचनाओं का उपयोग न कर पाने पर **चिंतन का** तथाकथित **अभेदन** उत्पन्न होता है। चिंतन धुंधला, अस्पष्ट, बिखरा-बिखरा हो जाता है, वह महत्त्वपूर्ण और अमहत्त्वपूर्ण लक्षणों का भेद नहीं कर सकता। व्यक्ति अपने इर्द-गिर्द की परिघटनाओं और उनके गुणधर्मों को अंश, पूर्ण, गुण, परिमाण, कार्य, कारण, रूप, सार, आदि के प्रवर्गों में नहीं बांटता है, बल्कि सांयोगिक ऐंद्रीय छापों और अनुभूतियों के अनुसार उनका वर्गीकरण करता है। उदाहरणतः, बच्चा बिल्ली और दाढ़ी को "घने रोयों" के लक्षण के अनुसार एक ही वर्ग (संकल्पना) में रखता है और आदमी की तसवीर बनाते हुए आंखें और मुंह अलग से, सिर के पास बनाता है।

अनुसंधानों से पता चलता है कि ये सब कमियां किसी न किसी हद तक बच्चों में (और कभी-कभी बड़ों में भी) पायी जाती हैं। इनका संबंध इस बात से है कि व्यक्ति अपने आपको अपने विचारों और धारणाओं से तथा विचारों और धारणाओं को यथार्थ जगत से पर्याप्त रूप से अलग नहीं कर पाता, कि चिंतन प्रक्रियाओं, ज्ञान तथा संकल्पनाओं में आवद्ध तार्किक प्रवर्गों पर उसका पर्याप्त अधिकार नहीं होता। चिंतन के शिक्षण में इन कमियों का सुधार भी शामिल होता है। इस शिक्षण का कार्यभार है चिंतन को वस्तुपरक, आलोचनात्मक, प्रवर्गात्मक, तार्किक, लचीला बनाना, उसे वस्तुओं तथा हल किये जा रहे कृत्यकों के सार्थक, महत्त्वपूर्ण गुणधर्मों, लक्षणों के अनुकूल बनाना।

§ ४. योग्यताओं का शिक्षण

चिंतन एक लक्ष्यबद्ध प्रक्रिया है, जो निश्चित संज्ञानात्मक एवं व्यावहारिक कृत्यकों के निष्पादन के लिए आवश्यक है। यह यथार्थ के उन पहलुओं को उभारता है, जो प्रस्तुत कृत्यक के लिए सार्थक होते हैं, तथा ऐसे पुनर्गठन करता है, जिनसे मनुष्य कृत्यक को निष्पादित कर सकता है।

सामान्य मनोविज्ञान के पाठ्यक्रम से हम यह जानते हैं कि **उपलब्ध आंकड़ों, तथ्यों, ज्ञान या संकल्पनाओं का उपयोग करने, वस्तुओं के महत्त्वपूर्ण लक्षणों का पता लगाने के लिए तथा निश्चित सैद्धांतिक या व्यावहारिक कार्यों की पूर्ति के लिए उनसे काम लेने की क्षमता को ही योग्यता कहते हैं।**

अनुसंधानों से पता चला है कि छात्रों को प्रायः आत्मसात् किये गये सिद्धांतों और संकल्पनाओं को ठोस प्रश्न हल करने के लिए प्रयुक्त करने में कठिनाई होती है। छात्र अमहत्त्वपूर्ण, गौण ब्योरों से ध्यान हटाने में तथा उन सामान्य बातों को देख पाने में असमर्थ होता है, जो उसे ज्ञात संकल्पनाओं में आबद्ध हैं। इस मामले में संकल्पनाएं सक्रियता और संज्ञान का उपकरण नहीं बन पातीं। वे अनुपयोगी बोझा ही होती हैं, व्यवहार से उनका संबंध नहीं होता, वे योग्यताओं का आधार नहीं बनतीं।

सुविदित है कि वस्तुओं के बारे में ज्ञान और स्वयं वस्तुएं एक ही बात नहीं हैं। ज्ञान वस्तुओं के विभिन्न गुणधर्मों, लक्षणों को, जो विभिन्न दृष्टियों से और भिन्न-भिन्न उद्देश्यों तथा पुनर्गठनों के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं, पेश करता है। ज्ञान क्रियाओं के सही चयन (योग्यता) का आधार बन पाये इसके लिए यह आवश्यक है कि यह ज्ञान भी सही ढंग से चुना गया हो और सही ढंग से प्रयुक्त हो। दूसरे शब्दों में यह आवश्यक है कि: १) वस्तुओं में सचमुच वे गुण, वे लक्षण हों, जो प्रस्तुत ज्ञान में प्रतिबिंबित हैं, २) ये लक्षण उन लक्ष्यों के लिए महत्त्वपूर्ण हों, जिनके लिए क्रिया की जा रही है; ३) इस क्रिया से वस्तु का वह पुनर्गठन होता हो, जो लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

उदाहरणतः किसी पिंड का आयतन निर्धारित करने का सवाल

दिया गया है। इसे हल करने के लिए सबसे पहले यह पता लगाना चाहिए कि यह पिंड ज्यामितीय पिंडों के किस वर्ग में आता है, फिर यह याद करना चाहिए कि ऐसे पिंडों का आयतन कैसे निकाला ज़ाता है, इसके कौन से नाप लेने चाहिए, फिर ये नाप लेकर अंततः आवश्यक गणना की जानी चाहिए। सो, ज्ञान के उपयोग के लिए स्वयं ज्ञान के अलावा अन्य कई जानकारियों और क्रियाओं का पता होना भी आवश्यक है। सर्वप्रथम, उन संवेदी लक्षणों का ज्ञान होना चाहिए, जिनसे यह इंगित होता है कि तत्संबंधी वस्तु "प्रात्ययिक वस्तुओं" के किस वर्ग में आती है। जैसा कि क्रिया के नियमन में होता है, ये संवेदी लक्षण **संकेतों** की भूमिका अदा करते हैं। परंतु जहां दक्षता के निर्माण में ऐसे संकेत व्यावहारिक सक्रियता के नियामकों की भूमिका अदा करते थे, वहीं इस मामले में ये **बौद्धिक, मानसिक सक्रियता के नियामक** होते हैं। सो, ऐसी मानसिक क्रियाएं करनी आनी चाहिए, जिनकी वस्तु के तत्संबंधी संकेतपरक लक्षणों का पता लगाने के लिए आवश्यकता होती है – यह संवेदी सूचना को वस्तु के उन लक्षणों के बारे में सूचना में संसाधित करने की क्रियाएं हैं, जो हल किये जा रहे सवाल के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। अंततः, यह पता होना चाहिए कि लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वस्तु के कैसे पुनर्गठन होने चाहिए, अर्थात वस्तु के लक्षणों की सवाल के हल की रीतियों से तुलना करनी आनी चाहिए। साथ ही वस्तु के पुनर्गठन की रीतियों पर भी अधिकार होना चाहिए।

योग्यताओं के गठन में सहायक परिस्थितियां

योग्यताओं का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है – कृत्यक की किस्म पहचानने, उपलब्ध तथ्यों में वे गुण और संबंध देख पाने की क्षमता, जो प्रस्तुत कृत्यक के निष्पादन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरणतः, यह सवाल: "मुंह ज़बानी यह हिसाब लगाओ कि सौ के एक तिहाई का ड्योढ़ा कितना होगा" – बड़ों के लिए भी मुश्किल सिद्ध होता है। जबकि यह देख पाना ही काफ़ी है कि डेढ़ 3/2 के बराबर है, और सवाल तुरंत ही हल हो जाता है: $^3/_2 \times ^1/_3 = ^1/_2$; $^1/_2 \times १०० = ५०$।

मनोविज्ञानवेत्ताओं ने कुछ ऐसे कारकों का पता लगाया है,

जो योग्यताओं के गठन में सहायक या बाधापरक होते हैं। यह पता चला है कि ऐसा एक कारक आरंभिक तथ्यों में सवाल के लिए **महत्त्वपूर्ण संबंधों का स्पष्टतः व्यक्त होना** या **छिपा होना है**। उदाहरणतः, यह सवाल पूछा जाता है: "एक दूसरे से २०० किलोमीटर की दूरी पर स्थित दो स्टेशनों **क** और **ख** से एक साथ एक दूसरे की ओर दो रेलगाड़ियां चलती हैं। पहली रेलगाड़ी की रफ़्तार ७० किलोमीटर प्रति घंटा है, दूसरी की ८५ किलोमीटर प्रति घंटा। उनके बीच ८० किलोमीटर प्रति घंटा की रफ़्तार से एक अबाबील उड़ती है। वह **क** स्टेशन से उसी क्षण उड़ती है जब वहां से रेलगाड़ी **ख** स्टेशन की ओर छूटती है। दूसरी रेलगाड़ी तक पहुंचकर वह वापस उड़ती है, इत्यादि। यह बताओ कि एक घंटे में अबाबील कितना फ़ासला तय करेगी"? अधिसंख्य मामलों में छात्र यह हिसाब लगाने लगते हैं कि जब तक अबाबील **ख** स्टेशन से चली गाड़ी तक पहुंचेगी, तब तक पहली गाड़ी कितना फ़ासला तय कर लेगी। फिर दोनों गाड़ियों के बीच कितनी दूरी रह जायेगी, इत्यादि। जबकि सवाल यों ही हल किया जा सकता है। अबाबील के उड़ने की रफ़्तार ८० किलोमीटर प्रति घंटा है। सो एक घंटे में वह ८० किलोमीटर का फ़ासला तय करेगी। यहां सवाल के हल में कठिनाई यह है कि हल के लिए महत्त्वपूर्ण एकमात्र संबंध अन्य अनेक आंकड़ों में छिपा हुआ है, जिनका सवाल के लिए कोई महत्त्व नहीं है (रेलगाड़ियों की रफ़्तार, अबाबील के उड़ने का मार्ग, आदि)।

आवश्यक संबंधों का पता लगाने पर प्रभाव डालनेवाला दूसरा कारक है व्यक्ति की **मान्यता**। आवश्यक संबंधों का पता लगाने में बाधा डालनेवाली मान्यता का उदाहरण यह सवाल है: "चार बिंदु दिये गये हैं, इन चारों बिंदुओं को तीन रेखाओं से जोड़ें, ऐसा करते हुए पेंसिल को उठाना नहीं है और उसे प्रस्थान बिंदु पर ही लौटना है"। छात्र अनेक प्रयत्न करते हैं:
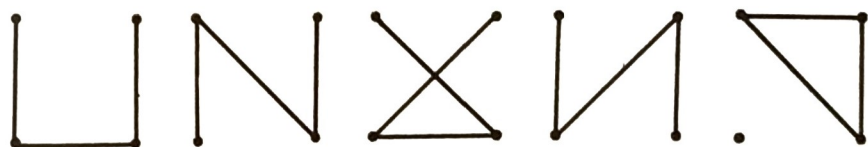
इनमें से कोई भी प्रयत्न सफल नहीं होता, जबकि हल बिल्कुल सरल है :
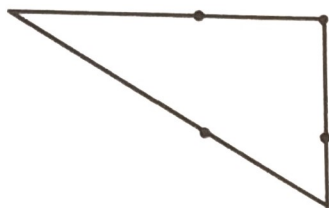
बात सारी यह है कि छात्रों ने यह मान लिया कि वे चारों बिंदुओं से सीमित क्षेत्र से बाहर नहीं निकल सकते। सवाल की शर्तों में यह बात नहीं है, स्वयं छात्रों ने ही उसे इसमें शामिल किया है, यह उनकी अपनी **मान्यता** का फल है।

सवाल के लिए महत्त्वपूर्ण संबंधों को देख पाने का एक महत्त्वपूर्ण कारक है **सारी स्थिति को उसकी समग्रता में ग्रहण कर पाना** न कि उसके अलग-अलग अंशों को। इसका एक उदाहरण है एक छह वर्षीय बालक द्वारा इस सवाल का हल : "१ से १०० तक की सभी संख्याओं का योगफल निकालो"। शेष छात्र क्रमशः एक-एक संख्या को जोड़ने लगे (१+२=३ ; ३+३=६ ; ६+४=१० ; १०+५=१५, इत्यादि) ; इस बालक ने इस नियमसंगति की ओर ध्यान दिया : मध्य से दोनों ओर समस्थित सभी संख्याओं का योगफल १०१ होता है (१+१००=१०१ ; २+९९=१०१ ; ३+९८=१०१ ; ४८+५३=१०१, इत्यादि)। सो सवाल का हल यह निकलता है (१०१×१००) : २=५०५०।

पूर्ववर्ती अनुभव का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि उसमें वस्तुओं के वे संबंध महत्त्वपूर्ण रहे हैं, जो प्रस्तुत सवाल के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, तो यह अनुभव सवाल के हल में बाधा बनता है (जैसा कि मोमबत्ती और बाट के प्रयोग में हुआ)। यदि पूर्ववर्ती अनुभव में कृत्यक के लिए महत्त्वपूर्ण संबंध और संक्रियाओं का उपयोग हुआ हो, तो उससे कृत्यक के निष्पादन में सहायता मिलती है।

अंततः, **सामान्य सिद्धांतों के ज्ञान** से आवश्यक संबंधों का पता लगाने में मदद मिलती है।

इन तथ्यों को देखते हुए मनोविज्ञानवेत्ताओं ने कुछ ऐसी शैक्षिक

युक्तियां तैयार की हैं, जिनसे आवश्यक संबंधों को देख पाने में मदद मिलती है। ये युक्तियां हैं :

१. **हल के सिद्धांत समझाना।** गणित और भौतिकी के विभिन्न किस्मों के सवाल हल करने के, व्याकरणिक विश्लेषण के नमूने-खाके इसका उदाहरण हो सकते हैं।

२. **कृत्यक के लिए महत्त्वपूर्ण तथ्यों और संबंधों को स्पष्टतः अलग करना, उन पर बल देना** (कृत्यक के तथ्यों का विश्लेषण)। ऐसा कृत्यक के तत्संबंधी **सूत्रीकरण** द्वारा, अध्यापक के इन विशेष **निर्देशों** द्वारा किया जा सकता है कि किन बातों की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। अध्यापक छात्रों को मूल संबंध अधिक स्पष्ट रूप में दिखाने के सहायक तरीके इस्तेमाल करता है।

३. **कृत्यक का विश्लेषण**, इस बात का विश्लेषण कि क्या पता लगाया जाना है। ऐसे विश्लेषण से प्रायः हल के लिए महत्त्वपूर्ण संबंधों और तथ्यों को उभारा जा सकता है।

योग्यताओं का गठन

योग्यताओं के गठन का अर्थ है ज्ञान में निहित तथा वस्तु से प्राप्त होनेवाली सूचना को प्रकट करने तथा संसाधित करने, क्रियाओं से उसकी तुलना करने और उसका नाता जोड़ने के लिए आवश्यक संक्रियाओं की सारी जटिल प्रणाली पर अधिकार पा लेना।

कृत्यक का निष्पादन जिन चिंतनमूलक संक्रियाओं और प्रक्रियाओं की सहायता से होता है उनका स्वरूप इन संक्रियाओं के **लक्ष्य** तथा कृत्यक की **अंतर्वस्तु** पर निर्भर होता है। किसी भी कृत्यक के निष्पादन में स्वयं चिंतन सक्रियता चिंतन की वस्तु के पुनर्गठन में, उसमें ऐसे नये-नये पहलुओं और गुणधर्मों का पता लगाने में ही निहित होती है, जो संकल्पनाओं में आबद्ध तथा शब्दों में नामांकित होते हैं। यह प्रक्रिया विश्लेषण – संश्लेषण, अमूर्तीकरण – सामान्यीकरण की संक्रियाओं की सहायता से तब तक चलती रहती है, जब तक कि वस्तु के उस पक्ष का मॉडल नहीं बन जाता, जो दत्त कृत्यक के निष्पादन के लिए महत्त्वपूर्ण होता है। और इसमें हर कदम वस्तु के नये पक्षों को उभारते हुए चिंतन

को आगे बढ़ाता है, उसका अगला कदम निर्धारित करता है। चूंकि वस्तु के नये पक्ष नयी संकल्पनाओं में अभिव्यक्त होते हैं, इसलिए चिंतन कृत्यक के बारंबार **पुनःसूत्रीकरण** के रूप में होता है। उदाहरणतः, मोमबत्ती और बाट का सवाल: "ऐसा करो कि तराज़ू का संतुलन खत्म हो जाये" के रूप को "ऐसा करो कि पलड़ों पर रखी वस्तुओं का भार बदल जाये" के रूप में बदल कर हल किया जाता है।

ज्यामिति के सवाल के पुनःसूत्रीकरण का उदाहरण देखिये: "ABCD चतुर्भुज है। इसकी भुजाओं के मध्यबिंदु सीधी रेखाओं से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं (चित्र देखिये)। यह सिद्ध करो कि इस तरह बनी आकृति समांतर चतुर्भुज है"।
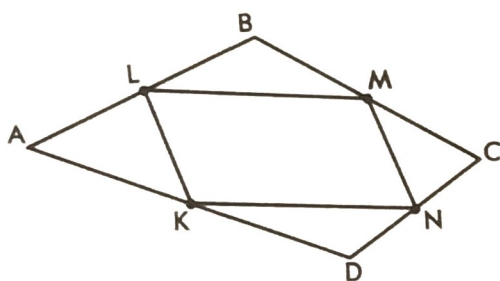
एक छात्र सवाल का हल इस तरह ढूंढने लगा: "यानी यह सिद्ध करना है कि आमने-सामने की भुजाएं बराबर और समांतर हैं"। (समांतर चतुर्भुज की परिभाषा पर आधारित पहला पुनःसूत्रीकरण।)

"तो यह सिद्ध कर दें कि KAL त्रिकोण और NCM त्रिकोण, KDN त्रिकोण और LBM त्रिकोण समान हैं"। (KN और LM तथा KL और NM भुजाओं की समानता सिद्ध करने की ओर लक्षित दूसरा पुनःसूत्रीकरण इन रेखाओं को नये संबंधों में समाविष्ट करने पर आधारित है।)

आगे छात्र पाता है कि यह अनुमान गलत है।

यहां हर नया पुनःसूत्रीकरण पूर्ववर्ती चरण के तथ्यों के विश्लेषण और संश्लेषण का परिणाम होता है तथा संकल्पनाओं में व्यक्त होता है। लेकिन संकल्पनाएं तो सामाजिक अनुभव का परिणाम हैं। इनमें संकल्पना द्वारा प्रतिबिंबित वस्तु के महत्त्वपूर्ण लक्षणों के बारे में ज्ञान आबद्ध होता है। इसलिए नये पुनःसूत्रीकरण से वस्तु के बारे में नयी जानकारी

मिलती है, जो चिंतन को आगे बढ़ाती है। इस तरह विश्लेषण और संश्लेषण की बदौलत चिंतन की प्रक्रिया में वस्तु नये-नये संबंधों में समाविष्ट होती जाती है और इसके फलस्वरूप नये रूपों में सामने आती हैं, जो नयी संकल्पनाओं में व्यक्त होते हैं। इस प्रकार एक तरह से वस्तु में से नया ही नया सार निकाला जाता है, वह हर बार मानो नये पहलू से सामने आती है, उसमें नये-नये लक्षण, गुणधर्म प्रकट होते हैं।

इस दृष्टि से योग्यताओं का निर्माण सर्वप्रथम अधिकाधिक गहन होते ज्ञान का फल है। योग्यताओं का निर्माण अध्ययनाधीन वस्तुओं के विभिन्न पहलुओं और गुणधर्मों के बारे में **संकल्पनाओं के आत्मसात्करण पर** आधारित होता है। योग्यताओं के गठन का प्रमुख मार्ग है – छात्रों को वस्तु में विविध पहलू देखना, उस पर भिन्न-भिन्न संकल्पनाएं लागू करना, इस वस्तु के विविध संबंधों को संकल्पनाओं में सूत्रित करना सिखाना। छात्रों को विश्लेषण के ज़रिये संश्लेषण की सहायता से वस्तु का पुनर्गठन करना सिखाना चाहिए। प्रयुक्त पुनर्गठन इस बात पर निर्भर होते हैं कि किन संबंधों और निर्भरताओं को निर्धारित करना है। ऐसे पुनर्गठनों का खाका ही **कृत्यक के निष्पादन** की योजना है।

योग्यताएं सिखाने का काम भिन्न-भिन्न तरीकों से हो सकता है। इनमें से एक तरीका यह है कि छात्र को आवश्यक ज्ञान दिया जाता है और फिर उसे इसका प्रयोग करने के सवाल दिये जाते हैं। छात्र स्वयं हल ढूंढ़ता है, प्रयत्नों और त्रुटियों की विधि से तत्संबंधी संकेतों का, सूचना के संसाधन के तरीकों का और सक्रियता की युक्तियों का पता लगाता है। इस तरीके को कभी-कभी **समस्यामूलक शिक्षण** कहा जाता है। दूसरा तरीका यह है कि छात्र को उन लक्षणों से परिचित कराया जाता है, जिनसे वे सवाल की किस्म तथा उसके हल के लिए आवश्यक संक्रियाओं का ठीक-ठीक पता लगा सकता है। इस तरीके को कभी-कभी **एल्गोरिथ्मीकृत शिक्षण या पूर्णतः संकेतमूलक आधार पर शिक्षण** कहा जाता है। और तीसरा तरीका यह है कि छात्र को उस मानसिक सक्रियता की ही शिक्षा दी जाती है, जो ज्ञान प्रयुक्त करने के लिए आवश्यक होती है। इस मामले में अध्यापक छात्र को लक्षणों और संक्रियाओं का

चयन करने के संकेतों की शिक्षा ही नही देता, बल्कि प्रस्तुत कृत्यक के निष्पादन के लिए सूचना के संसाधन और प्रयोग संबंधी छात्र की सक्रियता भी संगठित करता है। सोवियत शिक्षा मनोविज्ञान में इस तीसरे तरीके पर बहुत काम हो रहा है। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं का मत है कि इसके लिए छात्र को **उस सक्रियता के सभी चरणों से गुज़रना चाहिए, जिसके लिए अध्ययनाधीन संकल्पना में आबद्ध लक्षणों को संकेत मानने की आवश्यकता होती है।**

पहले चरण में वस्तु के ये संकेत (महत्त्वपूर्ण लक्षण) तैयार, ठोस मूर्त रूप में, आरेखों, चिह्नों, वस्तुओं के रूप में दिये जाते हैं और इन संकेतों का पता लगाने की संक्रियाएं वस्तुमूलक क्रियाओं के रूप में होती हैं। उदाहरणत:, ५+३= का सवाल पहले चरण में छात्र वस्तुमूलक संकेतों – डंडियों – की सहायता से व्यावहारिक क्रिया – डंडियों को इकट्ठा रखकर – द्वारा हल करता है। दूसरे चरण में संकेतों और वस्तुमूलक संक्रियाओं का स्थान वाक् नाम और क्रियाएं लेती हैं। उपरोक्त उदाहरण में डंडियां हटा ली जाती हैं और बच्चा उनके स्थान पर शब्दों का प्रयोग करता है और डंडियों को इकट्ठा रखने के स्थान पर वाक् क्रिया होती है: "तीन का मतलब है तीन बार एक। पांच और एक – छ: ; छ: और एक सात ; सात और एक – आठ"। अंतत: तीसरे चरण में शाब्दिक क्रियाएं भी नही रहतीं, उनका स्थान चिंतनमूलक संक्रियाएं ले लेती हैं, जो अधिकाधिक संक्षिप्त रूप में होती हैं: "पांच और तीन – आठ"।

इस अंतिम अवधारणा को कभी-कभी **बौद्धिक क्रियाओं के चरणबद्ध गठन** की विधि कहा जाता है।

प्रत्यक्षत: नयी सारगर्भित (न कि शुद्धत: शाब्दिक) संकल्पनाओं के गठन में प्रत्येक व्यक्ति वस्तुत: इन चरणों से गुज़रता है। परंतु आम शिक्षण में इन चरणों को सचेतन रूप से गठित नहीं किया जाता। इसलिए छात्र को प्राय: स्वयं ही आवश्यक महत्त्वपूर्ण ऐंद्रिक या तार्किक लक्षण ढूंढ़ने और पाने होते हैं, और सबसे बड़ी बात स्वय ही इसके लिए आवश्यक क्रियाएं चुननी होती हैं। इसमें अनिवार्यत: त्रुटियां होती हैं। संकल्पनाएं सदा पूर्ण और सही नही होतीं। शिक्षण लंबा खिंच जाता है, प्रयत्नों और त्रुटियों का रूप ले लेता है। पूर्ण और त्रुटिहीन संकल्प-

नाए बनें, इसके लिए **छात्र की तत्संबंधी सक्रियता पूर्णतः संकेतमूलक आधार पर बनी होनी चाहिए।** दूसरे शब्दों में अध्यापक को वस्तुओं के सभी महत्त्वपूर्ण लक्षण तैयार रूप में छात्र के सम्मुख रखने चाहिए और उसे वे संक्रियाएं सिखानी चाहिए, जो इनमें से **प्रत्येक को प्रकट करने के लिए आवश्यक होती हैं।**

अध्याय ६

पालन मनोविज्ञान

§ १. पालन मनोविज्ञान और व्यक्ति का मानस

पालन की विशद प्रणाली के संगठन, उसकी अंतर्वस्तु तथा रूपों के निर्धारण और शैक्षिक प्रभावों को अधिकतम कारगर बनाने की विधियों के चयन के लिए व्यक्ति-विकास की दृष्टि से व्यक्तित्व के निर्माण के मुख्य स्रोतों, उसके विभिन्न चरणों में कार्य करनेवाले नियमों, उसकी परिस्थितियों, क्रियातंत्रों और विशिष्टताओं का अध्ययन करना और ध्यान में रखना आवश्यक है।

आयु-वर्ग और शिक्षा मनोविज्ञान की जो शाखा बच्चे के व्यक्तित्व के विकास से संबंधित बुनियादी प्रश्नों का विवेचन करती है, उसे **पालन मनोविज्ञान** कहा जाता है।

पालन मनोविज्ञान की सामान्य अवधारणा

लक्ष्यप्रेरित शैक्षिक प्रक्रिया के दौरान एक व्यक्ति के रूप में मनुष्य का जो विकास होता है, पालन मनोविज्ञान उसके मनोवैज्ञानिक नियमों का अध्ययन करता है।

पालन मनोविज्ञान नैतिक चेतना, नैतिक धारणाओं, संकल्पनाओं, सिद्धांतों, कर्मों के नैतिक आधार, नैतिक भावनाओं, आदतों और व्यवहार रीतियों के, जो कि अन्य लोगों तथा समाज के प्रति दृष्टि-कोण को व्यक्त करते हैं, के विकास के **मानसिक क्रियातंत्रों** का उद्घाटन करके बच्चे के व्यक्तित्व सक्रिय "प्रक्षेपण" के सामान्य नियमों, आयुगत विशेषताओं, बाल्यावस्था के विभिन्न चरणों में पालन प्रक्रिया की विशिष्टताओं और पालन संबंधी प्रभावों के वैयक्तिक रूप-भेदों को प्रकाश में लाता है।

पालन मनोविज्ञान पहले से विद्यमान मानसिक विशेषताओं के परिवर्तन और नयी विशेषताओं के आविर्भाव और विकास की प्रक्रियाओं की गवेषणा करता है। बच्चे की नयी संभावनाओं को ध्यान में रखकर ही ऐसी पालन की प्रक्रिया के संगठन के लिए आवश्यक परिस्थितियां बनायी जा सकती हैं, जो, जैसा कि ल० स० विगोत्स्की ने कहा था, बच्चे के मानसिक विकास के पीछे-पीछे चलने के बजाय उससे आगे बढ़कर उसका पथ-प्रदर्शन करेंगी।

पालन मनोविज्ञान के अनुसार पालन एक ऐसी प्रक्रिया है, जो अध्यापकों और छात्रों की अन्योन्यक्रिया के दौरान, स्वयं छात्रों की, जिन्हें मकारेंको ने पालन के कर्म का विषय ही नहीं, कर्त्ता भी बताया था, अन्योन्यक्रिया के दौरान निष्पादित होती है।

पालन मनोविज्ञान छात्र के मनोजगत में पैठने के ठोस तरीके निरूपित करता है, अध्यापकों को विभिन्न पालन संबंधी उपायों द्वारा बच्चों पर प्रभाव की मात्रा व स्वरूप के अध्ययन की विधियां सुझाता है और बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया को निर्दोषतम बनाने की दिशाएं दर्शाकर बच्चों के वैयक्तिक भेदों को पहचानने में मदद करता है।

किंतु पालन मनोविज्ञान का व्यावहारिक महत्त्व इतने तक ही सीमित नहीं समझ लिया जाना चाहिए। उन्नीसवीं सदी के अंत में ही रूसी शिक्षाशास्त्री और मनोविज्ञानवेत्ता क० द० उशीन्स्की ने लिखा था, "हम अध्यापकों से यह नहीं कहते कि आप ऐसा करें, वैसा करें। हम उन्हें कहते हैं: आप जिन मानसिक परिघटनाओं का नियमन करना चाहते हैं, उनके नियमों का अध्ययन करें और फिर इन नियमों को और जिन परिस्थितियों में आप इन्हें लागू करना चाहते हैं, उन्हें ध्यान में रखकर काम करें।"

छात्रों की मानसिक सक्रियता के नियमों और आत्मविकास के मनोवैज्ञानिक आधारों की गवेषणा करते हुए पालन मनोविज्ञान व्यक्तित्व की विशेषताओं के निर्माण के क्रियातंत्रों का अध्ययन करता है।

व्यक्ति-विकास के क्रम में व्यक्तित्व के सोद्देश्य निर्माण के नियमों का निरूपण वैज्ञानिक आधार पर बच्चों के पालन में सहायक होता है और साथ ही तत्संबंधित मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के विकास के लिए बुनियाद का काम करता है।

विज्ञान की एक पृथक् शाखा के रूप में पालन मनोविज्ञान का जन्म कुछ ही दशक पहले हुआ था और तबसे वह अनेकानेक प्रश्नों को अपनी परिधि में समेटता हुआ बड़ी तेज़ी से विकास करता आ रहा है। ऐसा एक सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है उस सक्रियता का अध्ययन, जिसके दौरान बच्चों के आपस में और वयस्कों के साथ बहुमुखी और बहुस्तरीय संबंध बनते हैं और व्यक्तित्व तथा चेतना का निर्माण व विकास होता है। इस अध्ययन का विशेष महत्त्व सक्रियता के एक घटक के रूप में अभिप्रेरकों, सक्रियता के उद्देश्यों और उन संबंधों के गहन विश्लेषण को दिया जाता है, जो आवश्यकता और सक्रियता के बीच होते हैं। पालन मनोविज्ञान बच्चे के विश्व-दृष्टिकोण तथा नैतिक मान्यताओं के निर्माण की विशेषताओं तथा उसके, नैतिक व मानसिक गुणों का अध्ययन, विभिन्न आयु-वर्गों के बच्चों के व्यक्तित्व की विशेषताओं तथा उनके प्रति वैयक्तिक उपागम का निरूपण, बाल समुदाय की शैक्षणिक भूमिका व संभावनाओं और सामूहिकता की भावना के विकास के मानसिक आधारों का निर्धारण, आदि करता है।

पालन मनोविज्ञान व्यक्तित्व के निर्माण के क्रियातंत्रों व विशेषताओं का अध्ययन करके उन नियमसंगतियों को उजागर करता है, जो पालन की प्रक्रिया के मूल में होती हैं। सोवियन पालन मनोविज्ञान की मान्यता है कि व्यक्ति के मानस का विकास जैव और सामाजिक कारकों की जटिल अन्योन्यक्रिया का परिणाम होता है और इन कारकों में सबसे मुख्य हैं मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व की ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियां, अन्य लोगों के साथ उसके संबंधों व संपर्क का स्वरूप और उसके पालन की दिशा।

व्यक्ति के तौर पर मनुष्य का विकास सामाजिक संबंधों की वस्तुगत रूप से विद्यमान प्रणाली पर और इसपर निर्भर होता है कि ऐसे परिवेश में उस व्यक्ति की सक्रियता और समाज के अन्य सदस्यों के साथ उसके संबंध कैसे बनते और विकसित होते हैं। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं की यह बुनियादी प्रणालीतंत्रीय प्रस्थापना अन्य देशों के कतिपय मनोवि-ज्ञानवेत्ताओं की प्रस्थापना से सर्वथा भिन्न है, जो व्यक्ति की संकल्पना को मनुष्य द्वारा आत्मसात्कृत सामाजिक भूमिकाओं की समष्टि तक ही सीमित कर देते हैं। विदेशी मनोविज्ञानवेत्ताओं के बीच यह धारणा

काफ़ी प्रचलित है कि व्यक्ति आनुवांशिकतः और जैविकतः एक पूर्वनिर्धारित परिघटना है। ऐसी सैद्धांतिक आधारिकाओं के परिणामस्वरूप ये वैज्ञानिक व्यक्ति की विशेषताओं की जीवन और पालन की परिस्थिति-यों पर निर्भरता का अध्ययन और विभिन्न व्यक्तिगत गुणों को निर्दिष्ट करने व "मापने" की विधियों का निरूपण करते हुए प्रायः व्यक्तित्व के विकास के स्रोतों और नियमसंगतियों की गलत व्याख्या कर बैठते हैं। भ्रामक प्रणालीतंत्रीय मान्यताएं प्रयोगों से प्राप्त परिणामों और उनकी यादृच्छिक, कभी-कभी विकृत व्याख्याओं के बीच गंभीर विरोध पैदा कर देती हैं।

उल्लेखनीय है कि आज मनुष्य के व्यक्तित्व के सामाजिक स्वरूप और उसके निर्माण की ऐतिहासिक परिस्थितियों के महत्त्व को बहुत ही विभिन्न दार्शनिक, समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, शिक्षाशास्त्रीय, विधिशास्त्रीय और इतिहासवैज्ञानिक धाराओं द्वारा स्वीकार किया जाता है। किंतु स्वयं समाज के विकास के नियमों की और मनुष्य के स्वभाव में जो सामाजिक तत्त्व हैं और जो जैव तत्त्व हैं, उनके महत्त्व की समझ के बारे में उग्र और दुर्दम विरोध फिर भी बने हुए हैं। ये विरोध तब बहुत ही स्पष्टता के साथ उभर आते हैं, जब व्यक्ति और समाज के सहसंबंधों का प्रश्न, सामाजिक प्रक्रिया में व्यक्ति के स्थान और महत्त्व का प्रश्न, मनुष्य के व्यवहार की अंतर्वस्तु और परिवर्तन का प्रश्न और व्यक्ति पर समाज के प्रभाव के तरीकों और संभावनाओं का प्रश्न उठता है। वास्तव में इन सब प्रश्नों के सैद्धांतिक महत्त्व का कारण यह है कि **यदि सामाजिक परिस्थितियों की प्रमुख भूमिका स्वीकार कर ली जाती है, तो तब यह भी स्वीकार करना होगा कि समाज व्यक्ति के विकास पर सक्रिय प्रभाव डाल सकता है और व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में बाधक सामाजिक कारणों को दूर किया जाना चाहिए।** दूसरी ओर, मनुष्य के स्वभाव में जैव तत्त्वों की प्रधानता को मानने का मतलब होगा व्यक्तित्व के निर्माण में समाज की भूमिका इन तत्त्वों को अधिक न उभरने देने तक ही सीमित समझ लेना।

सोवियत मनोविज्ञान इस संबंध में मार्क्सवाद-लेनिनवाद की प्रस्था-पनाओं से निदेशित होता है। कार्ल मार्क्स ने कहा था, "मनुष्य परि-

स्थितियों एवं शिक्षा-दीक्षा की उपज है।"* मार्क्सवादी समझ के अनुसार व्यक्ति की सभी अभिक्षमताएं और क्रियाए उसके जीवनकाल में अस्तित्व में आनेवाली निर्मितियां होती हैं और उनका स्वरूप अन्य व्यक्तियों के साथ संसर्ग से निर्धारित होता है।

सोवियत संघ में समाजवाद के विकास के यथार्थ सामाजिक-ऐतिहासिक अनुभव ने और, विशेषतः, क्रांतिपूर्व रूस के सीमांत क्षेत्रों में जो उत्पीड़ित जातियां रहती थीं, उनके सांस्कृतिक पिछड़ेपन के खातमे तथा समाजवाद की परिस्थितियों में सारे देश में लागू की गयी सार्विक व अनिवार्य माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था ने व्यवहार में सिद्ध कर दिखाया है कि मनुष्य के बौद्धिक विकास की आनुवंशिकीय सीमाएं होने से संबंधित धारणाएं कितनी अवैज्ञानिक और अतर्कसंगत हैं।

आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियां, खास तौर से सोवियत दार्शनिकों, मनोविज्ञानवेत्ताओं, शिक्षाशास्त्रियों, शरीरक्रियाविज्ञानियों और आनुवंशिकीवेत्ताओं की खोजें व्ला० इ० लेनिन की इस प्रस्थापना के स्थायी औचित्य की पुष्टि करती हैं कि सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव से मनुष्य की शुद्ध जैविक विशेषताओं में भी परिवर्तन आ जाता है। **केवल सामाजिक परिवेश में, केवल लक्ष्यप्रेरित पालन की प्रक्रिया में** मनुष्य के सामाजिक व्यवहार का स्वरूप वस्तुतः निर्धारित होता है और मनुष्य एक व्यक्ति के रूप में विकास करता है।

मनुष्य का व्यक्तित्व और उसके निर्माण की विशेषताएं

मनुष्य का व्यक्तित्व एक ऐतिहासिक संकल्पना है। भिन्न-भिन्न कालों में उसके भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये जाते रहे हैं। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं की व्यक्तित्व की धारणा मार्क्सवादी-लेनिनवादी दर्शन की प्रस्थापनाओं पर आधारित है, जो "मानवीय सारतत्त्व" किसी

---

* कार्ल मार्क्स, 'फ़ायरबाख़ पर निबंध', का० मार्क्स, फ़्रे० एंगेल्स, संकलित रचनाएं, खण्ड १, भाग १, प्रगति प्रकाशन, मास्को, १९७८, पृ० १२।

"पृथक् व्यक्ति में अन्तर्निहित" किसी "अमूर्त तत्त्व" में नहीं, अपितु "सामाजिक संबंधों के साकल्य"* में देखता है।

इतना ही नहीं, स्वयं सामाजिक संबंध भी लोगों की सक्रियता के उत्पाद होते हैं। लोगों की क्रियाओं से ही ये संबंध बनते हैं। केवल अन्य लोगों के साथ संसर्ग, जिसका आधार वह संयुक्त सक्रियता होती है, जिसकी प्रक्रिया में व्यष्टि शारीरिक तौर पर भी और मानसिक तौर पर भी एक दूसरे को रचते हैं, मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण का आधार होता है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए परिवेश पर निर्भर रहता है, किंतु इसके साथ ही वह इस परिवेश पर अपना सक्रिय प्रभाव डालता है और अपनी सोद्देश्य सक्रियता की प्रक्रिया में सचेतन रूप से उसे भी और अपने को भी बदलता है। **मनुष्य की सचेतन सक्रिय क्रियाएं ही उसके व्यक्तित्व के निर्माण का, उसकी मानसिक विशेषताओं के निर्माण का आधार होती हैं।**

व्यक्तित्व एक **विशेष गुण** है, जिसे प्राकृतिक मनुष्य (व्यष्टि) सामाजिक संबंधों की प्रणाली में रहते हुए अपनी सक्रियता, दूसरों से संसर्ग और चेतना के ज़रिये अर्जित करता है। व्यक्तित्व को विकसित तब कहा जाता है, जब मनुष्य के दृष्टिकोण और मान्यताएं, नैतिक अपेक्षाएं और मूल्यांकन के मानक बन चुके हों, और वह उद्देश्यों को सचेतन रूप से चुनना और अपनी हरकतों तथा अपनी सक्रियता का स्वयं नियमन करना जानता हो। **व्यक्तित्व की अविभाज्य संरचना का नाभिक उसकी सक्रियता का अभिप्रेरणात्मक क्षेत्र होता है**, जिसमें उच्च और निम्न प्रकार के अभिप्रेरकों की एक जटिल सोपान-श्रेणी पायी जाती है। व्यक्ति और समाज के हितों को पृथक् नहीं, अपितु जोड़नेवाले उच्चतर अभिप्रेरक जितने ही अधिक सामान्यीकृत और स्थायी होंगे, व्यक्तित्व का विकास उतना ही लयात्मक होगा और पूर्ण समझा जायेगा। इसलिए समाज के लिए ऐसे स्थायी मानसिक गुणों से युक्त व्यक्तित्व का निर्माण ज़रूरी है, जो व्यक्ति को सामूहिकतावादी बना सकें और सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम तथा सामाजिक क्रियाशीलता के लिए मानसिक रूप से तैयार कर सकें।

---

* वही, पृ० १३।

व्यक्तित्व मनुष्य के विभिन्न मानसिक गुणों – उसकी आवश्यकताओं, अभिरुचियों, स्वभाव, अभिक्षमताओं, आदि – की समष्टि ही नहीं है। व्यक्तित्व परस्पर संबद्ध मानसिक परिघटनाओं की एक अविभाज्य प्रणाली भी है।

व्यक्तित्व के सभी गुणों की अटूट पारस्परिक एकता हर गुण की अंतर्वस्तु, रचना और अभिव्यक्ति को अन्य गुणों के साथ मेल और उनमें साकार बननेवाली आवश्यकताओं के साथ सामंजस्य पर निर्भर बना देती है। इस तरह मिसाल के लिए, मूल्यांकनों और निर्णयों की प्रखरता की अंतर्वस्तु तब कुछ और होती है, जब वह उच्च नैतिक आदर्शों, विशेषत: कर्तव्य भावना और साथियों की चिंता से जुड़ी होती है, और तब कुछ और ही, जब उसकी जड़ में हम सामाजिक महत्त्व के उद्देश्य हासिल करने की आकांक्षा नहीं, बल्कि अहंकेंद्रिकता, आत्मदिखावा और समुदाय में विशिष्ट स्थान पाने की लालसा पाते हैं। इस प्रकार व्यक्तित्व के गुणों और विशेषताओं का स्वरूप क्या होता है, यह इसपर निर्भर करता है कि वे किन नैतिक संबंधों के दायरे में बने हैं और किन आत्मिक मूल्यों की प्राप्ति की ओर लक्षित हैं: समाजपरक अथवा व्यक्तिपरक, अहंपरक?

व्यक्ति के नैतिक गुण, विश्व-दृष्टिकोण, मान्यताएं, आकांक्षाएं और विश्वास उसके परिवेश – अन्य लोगों के प्रति, अपने प्रति, जीवन में और समाज के कार्यों में सहभागिता के प्रति रवैये में झलकते हैं। **इसलिए व्यक्तित्व के नैतिक पहलू का विकास पालन का सर्वोपरि लक्ष्य है।**

आरंभिक चरणों से लेकर पूर्ण लयात्मक विकास तक व्यक्तित्व के निर्माण की सारी प्रक्रिया एक दीर्घ, जटिल और बहुमुखी प्रक्रिया है। इसे विशेषत: नियोजित तरीकों से बच्चों को बहुविध सक्रियताओं में शामिल करके सोद्देश्य ढंग से पालन की प्रणाली में निष्पादित किया जाता है।

पालन मनोविज्ञान का वास्ता एक निरंतर विकासशील, गुणात्मक रूप से परिवर्तनशील परिघटना से पड़ता है। यह परिघटना है बच्चा, जिसके व्यक्तित्व तथा सक्रियता की मानसिक विशेषताएं और जिसकी आवश्यकताएं, अभिप्रेरक और संबंध भिन्न-भिन्न आयु-वर्गों में भिन्न-भिन्न होते हैं।

आयु-वर्गों की विशिष्टताओं को ध्यान में रखना पालन प्रक्रिया के संगठन की एक अनिवार्य शर्त है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि हर आयु-वर्ग के मामले में पालन कार्य की अंतर्वस्तु और रूपों को उस आयु-वर्ग के बच्चों के मानसिक विकास के स्तर के अनुरूप ही ढाल लिया जाये। इस विकास के **संदर्शों** को भी ध्यान में रखना चाहिए, यानी बच्चे के व्यक्तित्व की उन विशेषताओं को अनदेखा नहीं करना चाहिए, जो अभी केवल भ्रूण रूप में हैं और भविष्य में मुकुलित हो जायेंगी। पालन की ऐसी भविष्यमुखी प्रक्रिया को, जिसमें व्यक्तित्व के नैतिक और इच्छा-शक्ति संबंधी पहलू के निर्माण पर निर्विवादतः प्रभाव डालने-वाली बहुसंख्य वैयक्तिक विशेषताओं को ध्यान में रखा जाता है, व्यक्तित्व के "प्रक्षेपण" की प्रक्रिया कहते हैं।

§२. व्यक्तित्व के निर्माण की मनोवैज्ञानिक समस्याएं

पालन के मनोवैज्ञानिक क्रियातंत्रों को तब तक नहीं समझा जा सकता, जब तक कि बच्चे के विकास, उसके व्यक्तित्व के निर्माण के स्रोतों को न समझ लिया जाये।

चूंकि व्यक्तित्व और चेतना का निर्माण सक्रियता की प्रक्रिया में संपन्न होता है, जिसका विकास बच्चे के मानसिक विकास पर निर्भर है, इसलिए पालन संबंधी समस्याओं का समाधान मानव सक्रियता की समानाधिकरणता और विकास के दौरान उसके परिवर्तन के मनोवैज्ञानिक नियमों पर आधारित होना चाहिए।

सक्रियता – व्यक्तित्व के निर्माण का आधार

सोवियत पालन मनोविज्ञान मार्क्सवाद की इस मान्यता को आधार मानकर चलता है कि मनुष्य एक क्रियाशील प्राणी है। व्यक्ति की मानसिकता, उसके नैतिक गुण उस बहुमुखी, बहुस्तरीय सक्रियता के परिणाम होते हैं, जिसके दौरान वह अन्य लोगों के साथ अन्योन्यक्रिया करता है। पालन संबंधी प्रभावों की प्रणाली का निर्धारण करते समय

बच्चे की विभिन्न सक्रियताओं के स्वरूप व विशेषताओं को, उनके महत्त्व, पैमाने व अंतर्वस्तु को अवश्य ध्यान में रखा जाना चाहिए।

सोवियत मनोविज्ञान में व्यक्तित्व और सक्रियता को आंतरिकतः परस्पर संबद्ध संकल्पनाएं माना जाता है। मनुष्य की सक्रियता विकसित होती है, तो उसके (सक्रियता के) नये भेद और रूप प्रकट होते जाते हैं, जो परस्पर जुड़ते हैं, सोपानीकृत बनते हैं। इसके साथ ही सक्रियता के कारकों – अभिप्रेरकों – का भी सोपानीकरण होता जाता है। अभिप्रेरक बहुत तरह के होते हैं। उनमें अंतर्वस्तु, संकल्प और बोध की मात्रा की दृष्टि से भेद पाये जाते हैं। अभिप्रेरक प्राथमिक और द्वितीयक प्रत्यक्ष और व्यवहित, आदि भी होते हैं। किंतु पालन मनोविज्ञान के लिए विशेष महत्त्व की बात उन संबंधों को मालूम करना है, जो व्यक्तित्व के अभिप्रेरणात्मक पहलू पर प्रकाश डालते हैं, यानी जो संबंध सक्रियता को वैयक्तिक महत्त्व देकर उसके लिए उकसानेवाले अभिप्रेरकों और मात्र उकसानेवाले कारकों की भूमिका अदा करनेवाले अभिप्रेरकों के बीच होता है। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ता अ० न० लेओन्त-येव ने सक्रियता की संरचना तथा विकास की प्रक्रिया में उसके परिवर्तनों का अध्ययन करके यह संबंध अभिप्रेरकों के सोपानक्रम में खोजा है, जब कुछ अभिप्रेरक मुख्य अभिप्राय-निर्धारी महत्त्व ग्रहण कर लेते हैं, और दूसरे उनके अधीन मात्र उद्दीपकों की भूमिका अदा करते हैं। **सक्रियताओं के विकास में पैदा होनेवाली अभिप्रेरकों की अविभाज्य परस्पर संबद्ध प्रणाली ही व्यक्तित्व का मानसिक आधार है।** ऐसी एकता और परस्पर संबद्धता की मात्रा और विभिन्न सक्रियताओं के आधार पर विश्व के साथ मनुष्य के संपर्कों व संबंधों की व्यापकता का पैमाना व्यक्ति के विकास के आधारभूत प्राचलों का काम करता है। ज्ञात है कि कभी-कभी एकाकी अभिप्रेरक मनुष्य के व्यवहार में तरह-तरह से साकार बनते हैं और विभिन्न अभिप्रेरक बाह्यतः एक ही रूप में अभिव्यक्त हो सकते हैं। किंतु व्यवहार के पीछे सामान्यतया एक नहीं, अपितु अंतर्वस्तु तथा रचना की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न कई अभिप्रेरक होते हैं, जिनमें से कुछ मुख्य होते हैं और कुछ गौण। व्यक्तित्व के अभिप्रेर-णात्मक पहलू के विकास के दौरान मुख्य प्रेरक बदलते और नये उच्चतर नैतिक प्रेरक उपजते रहते हैं। सक्रियता का लक्ष्यप्रेरित संगठन अभिप्रेरकों

के सहसंबंधों और सोपानक्रम का आवश्यक परिवर्तन सुनिश्चित करता है। किसी भी सक्रियता की मौलिकता इस बात में होती है कि उसकी अंगभूत क्रियाओं के परिणाम कुछ स्थितियों में अभिप्रेरकों के मुकाबले कहीं ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। उदाहरण के लिए, आरंभ में बच्चा घर पर करने के लिए दिया हुआ काम इसलिए समय पर पूरा कर सकता है कि खेलने को वक़्त मिल जायेगा। तब यदि उसे नियमित रूप से अच्छे अंक मिलने लगते हैं और उसकी अच्छे छात्र की प्रतिष्ठा बन जाती है, तो वह अच्छे अंक पाने के लिए समय पर काम करने लगता है। समय पर काम करने की क्रिया का अभिप्रेरक अब दूसरा हो गया है। इसे क्रियाओं के विकास का **सामान्य मानसिक क्रियातंत्र** कहते हैं। अ० न० लेओन्तयेव का मत है कि उत्तरोत्तर सारगर्भित बनते हुए क्रियाएं मानो उस सक्रियता के दायरे को लांघ जाती हैं, जिसे वे साकार बना रही थीं, और अपने को जन्म देनेवाले अभिप्रेरकों से टकराने लगती हैं। परिणामस्वरूप अभिप्रेरकों में और उनके सोपानक्रम में परिवर्तन आता है, नये अभिप्रेरक, नयी सक्रियताएं उत्पन्न होती हैं। पहले के उद्देश्य मानसिक रूप से तुच्छ बन जाते हैं और जो क्रियाएं उनके अनुरूप थीं, उनका या तो अस्तित्व ही नहीं रह जाता अथवा वे निर्वैयक्तिक संक्रियाएं बन जाती हैं।

यह बेशक सक्रियता के रूपों के परिवर्तन के काफ़ी सामान्य क्रियातंत्र का ही वर्णन है। वास्तव में हर विशिष्ट मामले में यह क्रियातंत्र कुछ सर्वथा निश्चित अभिप्रेरकों के परिवर्तन में प्रकट होता है। उदाहरणार्थ, स्कूलपूर्व आयु के बच्चे की क्रीड़ामूलक सक्रियता में क्रीड़ामूलक क्रियाएं और कतिपय मानसिक क्रियाएं भी परिष्कृत बनती हैं (खेल अपनी अंतर्वस्तु और संगठन की दृष्टि से जटिलतर होते जाते हैं, प्रत्यक्षों, स्मृति, इच्छा-शक्ति, आदि के विकास का स्तर ऊंचा उठता जाता है)। कुछ खेलों को करने के लिए बच्चों को लोगों के परस्पर संबंधों की विशेषताओं, प्राकृतिक परिघटनाओं के गुणों, आदि से ख़ास तौर पर परिचित होना पड़ता है। आरंभ में यह परिचय क्रीड़ाजन्य स्थिति से अभिप्रेरित क्रिया के ठोस लक्ष्य का काम करता है। किंतु शनैः-शनैः स्कूलपूर्व आयु के बड़े बच्चों के मामले में ऐसी संज्ञानमूलक क्रियाशीलता के परिणामों का महत्त्व क्रीड़ा अभिप्रेरकों से अधिक व्यापी सिद्ध हो जाता है

और बच्चा परिवेशी विश्व में क्रीड़ाजन्य स्थिति से निरपेक्ष रूप से स्वयं दिलचस्पी लेने लगता है। इसका अर्थ है कि अभिप्रेरक बदलकर लक्ष्य बन गया है और "परिचय पाने" की क्रिया ने दूसरा रूप ग्रहण कर लिया है।

अभिप्रेरक चूंकि लक्ष्य को पाने की ललक, अनुभूतियों और अभिलाषाओं के रूप में अप्रत्यक्ष तौर पर अभिव्यक्त होते हैं, इसलिए बच्चे को उनका बोध हमेशा नहीं रहता। इसके विपरीत **सक्रियता के लक्ष्य** का बोध हमेशा रहता है और वह सक्रिय प्रभाव डालता है। इसलिए पालन की विशद प्रणाली के निर्धारण में क्रियाओं की निष्पत्ति पर, योग्यताओं और दक्षताओं के अर्जन पर लक्ष्य के प्रभाव के स्वरूप व पैमाने को ध्यान में रखना बहुत ज़रूरी है, क्योंकि वह किसी भी सक्रियता के प्रति बच्चों के रवैये के निर्माण का रास्ता दिखाता है। हर सक्रियता के लिए एक सामान्य ठोस लक्ष्य की प्राप्ति आवश्यक होती है। जब सामान्य लक्ष्य की भूमिका अवबोधित अभिप्रेरक अदा करता है, तो वह अभिप्रेरक-लक्ष्य बन जाता है।

अभिप्रेरकों में मनुष्य की आवश्यकताओं का वास्तवीकरण होता है। **व्यक्तित्व के विकास की एक पूर्वशर्त है अभिप्रेरकों व आवश्यकताओं की ऐसी सोपानात्मक संरचना का निर्माण, जिसमें उच्चतर आत्मिक आवश्यकताओं का प्राधान्य होता है।**

पालन मनोविज्ञान के लिए आवश्यकताओं के विकास और उनकी सामाजिक-मानसिक विशेषताओं का प्रश्न बहुत अधिक महत्त्व रखता है। समाज में बच्चे का स्थान आयु के साथ बदलता जाता है। उसकी सक्रियता जटिलतर बनती जाती है, जिसकी वजह से उसकी आवश्यकताएं भी बढ़ती जाती हैं।

नये मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण के लिए आवश्यकताओं और सक्रियता के परस्पर संबंधों को स्पष्टतः निरूपित करना ज़रूरी है। इन संबंधों की वह तसवीर बुनियादी तौर पर गलत है, जिसमें आरंभबिंदु स्वयं आवश्यकता होती है (आवश्यकता – सक्रियता – आवश्यकता)। मार्क्सवादी मान्यता के अनुसार आवश्यकताएं सामाजिक सक्रियता की प्रक्रिया में पैदा होती हैं: सक्रियता – आवश्यकता – सक्रियता। इसमें प्राथमिकता उत्पादन को प्राप्त है, न कि उपभोग को।

मनुष्य की आवश्यकताओं के स्वरूप और उनके विकास के क्रम पर प्रकाश डालते हुए सोवियत मनोविज्ञानवेत्ता अ० न० लेओन्तयेव ने सिद्ध किया है कि एक आंतरिक शक्ति के रूप में आवश्यकता केवल सक्रियता में ही साकार बन सकती है। इसलिए पालन क्रिया का गठन बच्चे की विकासशील सक्रियता के आधार पर और विकास की प्रक्रिया में इस सक्रियता में आनेवाले परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए।

बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण में श्रम-शिक्षा की भूमिका

स्कूली आयु के बच्चे बहुविध सक्रियताओं में भाग लेते हैं। किंतु बच्चे का यथार्थ जीवन यंत्रवत् अलग-अलग तरह की सक्रियताओं से नहीं बनता, बल्कि वह स्वयं उन सक्रियताओं की कुछ निश्चित प्रणालियों का निर्माण करता है, जो हर आयु-वर्ग में भिन्न होती हैं। इनमें से प्रत्येक प्रणाली में एक **प्रमुख सक्रियता** होती है, जो आयु के उस चरण में आसपास के लोगों और वस्तुजगत के प्रति बच्चे के रवैये को निर्धारित करती है। मनोविज्ञान में प्रमुख सक्रियता उस सक्रियता को कहते हैं, जिसका विकास बच्चे के विकास के दत्त चरण में व्यक्तित्व की मानसिक प्रक्रियाओं और मानसिक विशेषताओं में मुख्य परिवर्तन लाता है। **इसलिए प्रमुख सक्रियता का विशेष संगठन बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण और उसमें निश्चित आवश्यकताओं, अभिप्रेरकों तथा उद्देश्यों के विकास पर लक्ष्यानुरूप प्रभाव डालने के लिए बहुत जरूरी है।**

विभिन्न प्रकार्योंवाली और विभिन्न पालन संबंधी महत्त्व रखनेवाली प्रमुख सक्रियताओं के विकास के नियमों का अध्ययन करके सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं ने आधुनिक बच्चे के मानसिक विकास को कुछ निश्चित काल-खंडों में बांटा है, जो पालन की अविभाज्य प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक आधार बन सकता है। एक ओर सक्रियता का और, दूसरी ओर, उसके प्रमुख रूपों के विकास व परिवर्तन का अध्ययन करके अब यह संभव हो गया है कि अभिप्रेरकों के निश्चित सोपानात्मक संबंधों के निर्माण पर और लक्ष्य-निर्धारण प्रक्रिया के विकास पर प्रभाव डालने के तरीकों की सार्थक खोज की जा सके। इसी तरह व्यक्तित्व के इष्टतम

निर्माण के लिए हर प्रमुख सक्रियता के पुनर्गठन के तरीके निर्धारित करना भी संभव बन गया है।

आज हम जानते हैं कि बचपन के किस चरण में कौन सी सक्रियताएं प्रमुख होती हैं और कौन सी मानसिक नवनिर्मितियां उस चरण का विशिष्ट लक्षण हैं। उदाहरणार्थ, स्कूलपूर्व आयु में प्रमुख **क्रीड़ामूलक सक्रियता** होती है। खेल एक ओर तो ऐसी सक्रियता के रूप में सामने आता है, जिसके दौरान बच्चा जीवन की सबसे सामान्य परिघटनाओं में अपने स्थान को पहचानता है और, दूसरी ओर, इस सक्रियता के आधार पर बच्चे में कल्पना-शक्ति जन्मती और विकसित होती है।

आरंभिक स्कूली आयु में प्रमुख **शैक्षिक सक्रियता** होती है, जिसके दौरान बच्चा ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित वैज्ञानिक संकल्पनाओं को आत्मसात् करता है और वास्तविकता के प्रतिबिंबन का सैद्धांतिक विवेचन सीखने-समझने लगता है। यह सक्रियता यदि समीचीन और निर्बाध ढंग से जारी रहे, तो ७-१० वर्ष की आयु में बच्चे की मानसिक प्रक्रियाओं में आवश्यक संकल्प आ जाता है, वह क्रियाओं की मानसिक स्तर पर योजना करने लग जाता है और अनुचिंतन सीख लेता है, जो कि सैद्धांतिक चेतना की एक सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

किशोरावस्था में प्रमुख सक्रियता फिर बदल जाती है। शैक्षिक सक्रियता यद्यपि आवश्यक और महत्त्वपूर्ण बनी रहती है, फिर भी जहां तक उसकी मनोवैज्ञानिक भूमिका का सवाल है वह किशोर की सामाजिक दृष्टि से उपयोगी समग्र सक्रियता के केवल एक रूप के तौर पर ही काम करती है। इस आयु में **सामाजिक दृष्टि से उपयोगी विशद सक्रियता** बच्चे की प्रमुख सक्रियता होती है, चाहे उसका संबंध शिक्षा से हो, श्रम से हो, सामाजिक व संगठन विषयक कार्यों से हो, कलात्मक सृजन से हो अथवा खेलकूद से। सक्रियता के ये रूप आरंभिक स्कूली आयु में भी पाये जाते हैं, किंतु वहां वे इतने प्रकट, इतने विशद और इतने सुव्यवस्थित नहीं होते। किशोरावस्था में बच्चे को शैक्षिक, श्रमिक, कलात्मक, सामाजिक व संगठनात्मक, खेलकूद संबंधी, आदि कई प्रकार की सक्रियताओं में अवश्य भाग लेना होता है। चाहने पर वह एक सक्रियता से दूसरी सक्रियता में संक्रमण भी कर सकता है। किंतु उसकी दिनचर्या, पढ़ाई और पढ़ाई से इतर काम, श्रम, खेलकूद

और सामाजिक क्रियाकलाप, आदि सभी कुछ सुनियोजित और सुसंगठित होना चाहिए।

सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सक्रियता को किशोरावस्था की मुख्य मानसिक अपेक्षाओं से मेल खाना चाहिए। इसके लिए ज़रूरी है कि बच्चों को विभिन्न जीवनीय स्थितियों में पैदा होनेवाले कार्यभारों के अनुरूप लोगों के साथ मानसिक संपर्क के विविध रूप सिखाये जायें। विकसित संपर्क प्रणाली अन्य लोगों और परिवेश के प्रति किशोर के सचेतन रवैये के निर्माण का आधार होती है। ऐसे में किशोर की सचेतनता उसके व्यक्तित्व का एक विशिष्ट गुण बन जाती है।

तरुणावस्था में **शैक्षिक-व्यावसायिक सक्रियता** प्रमुख सक्रियता हो जाती है। इसमें, एक ओर खोज, अनुसंधान के तत्त्व होते हैं और, दूसरी ओर, एक निश्चित व्यावसायिक अभिमुखता होती है। इस आयु काल की एक सबसे महत्त्वपूर्ण मानसिक नवनिर्मिति है छात्र की स्वयं अपने जीवन की योजनाएं बनाने, उनकी पूर्ति के साधन खोजने और नैतिक आदर्श निर्धारित करने की योग्यता, जिससे उसकी आत्मचेतना के विकास का सबूत मिलता है।

सोवियत मनोविज्ञानवेत्ता द० ब० एल्कोनिन (जन्म १९०४) के अनुसार बच्चों की प्रमुख सक्रियता के इन सभी भेदों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है। पहले वर्ग में वे सक्रियताएं आती हैं, जिनमें बच्चे अधिकांशतः उद्देश्यों, अभिप्रेरकों और लोगों के परस्पर संबंधों के मानकों को सीखते हैं। अपनी ठोस अंतर्वस्तु की दृष्टि से इन सक्रियताओं में अंतर तो होता है, किंतु बुनियादी तौर पर वे सभी एक ऐसी प्रक्रिया हैं, जिसके दौरान बच्चे मानव सक्रियता के सामान्य सार व प्रयोजन को हृदयंगम करने की कोशिश करते हैं। इसकी बदौलत उनके व्यक्तित्व के आवश्यकता-अभिप्रेरणात्मक पहलू का विकास होता है। दूसरे वर्ग में वे सक्रियताएं आती हैं, जिनका संबंध भौतिक और आत्मिक संस्कृति के ज्ञान के लिए आवश्यक, समाज द्वारा विकसित क्रिया रीतियों को सीखने से है। इन सक्रियताओं की बदौलत बच्चों की बौद्धिक और संज्ञानात्मक अभिक्षमताएं विकसित होती हैं। इस प्रकार हर एक ऐसे आयु काल के बाद, जब मुख्यतया आवश्यकताएं और अभिप्रेरक विकसित होते हैं, नियमतः एक ऐसा आयु काल आता है,

जब अधिकांशत: संज्ञानात्मक अभिक्षमताओं का विकास होता है।

बच्चे के मानस के विकास के नियमों, प्रमुख सक्रियताओं की विशिष्टताओं और अन्य सक्रियताओं के साथ उनके संबंधों का अध्ययन करके उन प्रच्छन्न संभावनाओं का पता लगाया जा सकता है, जो पालन प्रक्रिया को अधिकतम कारगर बनाने में सहायक होती हैं।

यह पाया गया है कि शिक्षा और पालन कार्य में विभिन्न आयु-वर्गों की प्रमुख सक्रियताओं से संबंधित बुनियादी मानसिक विशेषताओं को सदा ध्यान में नहीं रखा जाता है। उदाहरण के लिए, स्कूली आयु-वर्गों में अंतरों के बावजूद कभी-कभी पढ़ाई के तरीके, मूल्यांकन और ज्ञान-परीक्षा की प्रणाली, अध्यापकों और छात्रों के परस्पर संपर्क के रूप और बाल समुदाय के गठन का तरीका एक से ही बने रहते हैं।

उच्च बौद्धिक और सृजनात्मक क्षमताओं से युक्त सक्रिय व्यक्तित्व के निर्माण के लिए आवश्यक है कि प्रतिपालक और अध्यापक शिक्षा और पालन कार्य की अंतर्वस्तु और संगठन को मनोवैज्ञानिक अध्ययनों और प्रेक्षणों से प्राप्त सामग्री पर आधारित करें। उन्हें ध्यान में रखते हुए विभिन्न आयु कालों में, विशेषत: एक आयु काल से दूसरे आयु काल में संक्रमण के दौर में, बच्चों के आपसी और वयस्कों के साथ संबंधों के वातावरण और प्रणाली में परिवर्तन अवश्य किया जाना चाहिए।

सुव्यवस्थित पालन प्रक्रिया के परिणामस्वरूप बच्चे में ऐसे गुण पैदा होते और जड़ें जमा लेते हैं, जो उसकी भावी व्यावसायिक व सामाजिक सक्रियता की दृष्टि से बड़ा महत्त्व रखते हैं और उसके विश्व-दृष्टिकोण तथा नैतिक मान्यताओं का मानसिक आधार बनते हैं। ये गुण अपने अनुरूप आवश्यकताओं और अभिक्षमताओं में व्यक्त होते हैं, जैसे श्रम करने की आवश्यकता और अभिक्षमता, अपने श्रम का युक्तिसंगत ढंग से संगठन और ज़रूरत पड़ने पर परिष्कार करने की योग्यता, समुदाय के सदस्यों के साथ उन्नत नैतिक आदर्शों और मानकों के आधार पर संपर्क बनाने व रखने की आवश्यकता और अभिक्षमता, जीवन में जब-तब पैदा होनेवाली समस्याओं को हल करने की अभि-क्षमता, आदि। किंतु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आवश्यकता साकार रूप सक्रियता में ही ग्रहण करती है। इसलिए पालन की प्रणाली

के सोद्देश्य संगठन के लिए ऐसी सक्रियता पर विशेष ध्यान दिये जाने की ज़रूरत है, जो, विगोत्स्की के शब्दों में, "जीवन में व्यवहार के सभी रूपों का सर्वाधिक शुद्ध मॉडल" बन सके। हमारा आशय स्कूली बच्चों की श्रममूलक सक्रियता से है, जिसका सामाजिक महत्त्व भी है और इस कारण जो व्यक्तित्व के निर्माण पर सर्वाधिक प्रभाव भी डालती है।

छात्रों के सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम के मनोवैज्ञानिक पहलू और पालन में श्रम का महत्त्व

हर आयु-वर्ग की विशिष्ट प्रमुख सक्रियता का विकास अपने में कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि अकेली श्रममूलक सक्रियता ही, जैसा कि ल० स० विगोत्स्की ने कहा था, बच्चे को किसी एक सक्रियता के संकीर्ण दायरे में सीमित न रखकर अपनी क्षमताओं को कई सक्रियताओं में आज़माने की संभावना देती है। बच्चों की सभी सक्रियताओं को एक निश्चित लक्ष्योन्मुखता प्रदान की जानी चाहिए। केवल श्रम का सामाजिक महत्त्व ही बच्चों के विश्व-दृष्टिकोण को बनाता है। बच्चे के व्यक्तित्व की अभिपुष्टि सबसे पहले सामाजिक श्रम में अपनी अभिपुष्टि के रूप में ही हो सकती है। अतः यह आवश्यक है कि विभिन्न आयु-वर्गों के बच्चों को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियताओं में शामिल करने में एक निश्चित क्रमबद्धता का पालन किया जाये। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं ने इस सक्रियता के गठन के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत खोजे हैं।

सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता की प्रणाली में स्कूल द्वारा आयोजित और स्पष्ट सामाजिक महत्त्ववाले श्रम-रूप निर्णायक भूमिका अदा करते हैं। उल्लेखनीय है कि अपने ही लिए किया जाने-वाला मामूली काम भी समुदाय में व्यक्तिगत ही नहीं, सामाजिक अर्थ भी ग्रहण कर लेता है, क्योंकि उससे छात्रों और समुदाय के बीच विविध संबंध बनते हैं और बच्चे में रोज़मर्रा के काम स्वयं करने की आदत पड़ती है।

सामूहिक श्रम में बच्चा सामान्य, किंतु लोगों के लिए आवश्यक काम को आदर की दृष्टि से देखना, बड़ों की मदद के बिना काम चला-

ना और अपने पैरों पर खड़ा होना सीखता है। ये सब बातें छात्रों को सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम सक्रियता के लिए मानसिक रूप से तैयार करने में बड़ा महत्त्व रखती हैं।

सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता परस्पर सहायता की भावना, उत्तरदायित्व के बोध तथा परस्पर अपेक्षाशीलता के विकास में सहायक होती है। वह बच्चों में सामाजिक संपत्ति की सुरक्षा की चिंता करना और अपने श्रम तथा साथियों के श्रम के परिणामों में रुचि लेना सिखाती है।

ऐसी श्रम सक्रियता के दौरान छात्र मात्र कामगर नहीं होता, बल्कि उत्तरदायित्वपूर्ण संगठनकर्त्ता भी होता है। वह अपने को स्वावलंबी महसूस करता है और समुदाय, साथियों तथा वयस्कों के साथ संबंधों की नयी प्रणाली में सक्रिय रूप से सम्मिलित होता है। इस प्रक्रिया में उसमें संगठनात्मक योग्यताएं और दक्षताएं पैदा होती हैं और, जो सबसे खास बात है, उत्तरदायित्व तथा कर्त्तव्य की चेतना, साझे कार्य के निमित्त अपने निजी हितों की बलि देने की भावना और सामाजिक सक्रियता की आवश्यकता का बोध जन्मते हैं।

छात्र के सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम का पालन के लिए इसलिए भी काफ़ी बड़ा महत्त्व है कि उसके दौरान उसे अपने बारे में अपने साथियों की ही नहीं, अधिक व्यापक सामाजिक हल्के की भी राय मालूम होती है। उत्पादक कामगर की स्थिति निजी उत्तरदायित्व तथा परस्पर नियंत्रण को अंतर्गुंफित करके और सामूहिकतावाद की भावनाएं पैदा करके छात्र के मानस पर गंभीर प्रभाव डालती है। उत्पादक सामूहिक श्रम छात्र को समाज का समानाधिकारपूर्ण सदस्य बना देता है। समाज के लिए आवश्यक भौतिक संपदा के निर्माण में भाग लेने की चेतना उसे हर्ष और गहन नैतिक संतोष प्रदान करती है, आगे भी यों ही सक्रिय रहने की प्रेरणा देती है, काम से प्रेम करना और भावी उत्पादक सक्रियता के लिए नैतिक रूप से तैयार रहना सिखाती है।

स्कूल का कार्य चूंकि उदीयमान पीढ़ी का पालन करना है, अतः उसे जीवन की यथार्थ अपेक्षाओं को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए और छात्रों को घरेलू कामकाज समेत सभी तरह की श्रम सक्रियता के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। घरेलू कामकाज को बच्चे की श्रम

सक्रियता की सामान्य प्रणाली में स्थान दिया जाना बहुत ज़रूरी है, क्योंकि बच्चों की ज़्यादातर श्रम सक्रियता घरेलू कामकाज से ही संबंध रखती है।

किंतु श्रम सक्रियता के सभी रूपों का लक्ष्य एक ही होने के बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि उन सबका सामाजिक प्रभाविता और सामाजिक मूल्यांकन भी एक ही जैसे होते हैं। वास्तव में इस दृष्टि से उनमें बड़ा अंतर पाया जाता है। श्रम सक्रियता के विविध रूपों के बीच सोपानात्मक संबंध और उनका सुविचारित समन्वय तथा एकीभूत प्रणाली में अन्योन्यक्रिया ही बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण पर गंभीर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाल सकते हैं।

वैज्ञानिक और प्राविधिक क्रांति के वर्तमान युग में मनुष्य के व्यक्तित्व का लक्ष्यप्रेरित निर्माण समाज के विकास की प्रवृत्तियों को ध्यान में रखे बिना और उन अपेक्षाओं को समझे बिना नहीं किया जा सकता, जो मनुष्य से २०-३० वर्ष बाद की जायेंगी। इन अपेक्षाओं में मनुष्य की चेतना के मुख्य रूपों (नैतिक, कलात्मक, वैज्ञानिक, आत्मिक, आदि) का एक निश्चित स्तर पर पहुंचना और कुछ निश्चित संबंधों का बनना शामिल हैं। उनमें एक प्रमुख स्थान सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम करने और सामाजिक संपर्क के सर्वाधिक बहुमुखी साधनों को इस्तेमाल में लाने की अभिक्षमता के विकास को प्राप्त है। वैज्ञानिक और प्राविधिक क्रांति श्रम का रूप बदल देती है और मनुष्य को श्रम के लिए भिन्न ढंग से प्रशिक्षित किये जाने की अपेक्षा करती है। फलस्वरूप बच्चों में श्रम के प्रति और सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सक्रियता में सहभागिता के प्रति नये दृष्टिकोण के निर्माण के अधिकतम कारगर तरीके ढूंढ़ जाने चाहिए। **यह आवश्यक है कि श्रम शिक्षा को व्यक्तित्व के निर्माण के सभी पहलुओं से संबंध रखनेवाला मुख्य कारक माना जाये।**

समाजवादी समाज में बच्चों की सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता के संगठन के लिए सभी आवश्यक परिस्थितियां मौजूद हैं। ऐसी सक्रियता के बिना बच्चों को समाज के साथ संबंधों की गुणात्मक रूप से नयी प्रणाली में यथार्थतः सम्मिलित करने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस सक्रियता का स्वरूप और लक्ष्य ऐसे होने चाहिए कि

बच्चे के व्यक्तित्व पर यथेष्ट गहन मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ सके।

बच्चे समाज का अभिन्न अंग होते हैं। इसलिए वे शुरू से ही वयस्कों का संग पाने, उनकी जैसी रुचियां रखने, काम करने, आदि के लिए लालायित रहते हैं। इस संयुक्त जीवन का एक सार्विक रूप सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम है, जिसमें भाग लेना बच्चे को एक निश्चित हैसियत प्रदान करता है।

विभिन्न आयु कालों में सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता का स्वरूप, पैमाना, कार्य, भूमिका और प्रभाव की मात्रा भिन्न-भिन्न होते हैं। किंतु मानसिक विकास के सभी चरणों में यह सक्रियता बच्चों की चेतना और आत्मचेतना के विकास को निर्धारित करती है। स्कूलपूर्व अवस्था से ही, जब बच्चा खेल, मॉडलिंग, चित्रकारी, अपने कामों, आदि में स्वयं कार्य करने की कोशिश करने लगता है ("मैं खुद"), उसमें सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता के अंकुर पनपने लग जाते हैं। ऐसे में सबसे सरल श्रम सक्रियता का भी विशेष संगठन और उसकी सामाजिक दृष्टि से उपयोगी अभिमुखता "मैं खुद अपने लिए" की मनोवृत्ति को "मैं खुद, मगर दूसरों के साथ, दूसरों के लिए" की मनोवृत्ति में बदल डालते हैं।

प्राथमिक कक्षाओं के बच्चे का सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम के प्रति रवैया अनिवार्य शैक्षिक सक्रियता के दौरान भी, जो कि अपने संगठन की दृष्टि से ठेठ श्रम सक्रियता जैसी होती है, और अन्य रोज़-मर्रा के कार्यों के दौरान भी विकसित होता है।

किशोर सामाजिक दृष्टि से उपयोगी ऐसी श्रम सक्रियता में भाग लेने को लालायित रहता है, जिसकी बदौलत वह ज़्यादा से ज़्यादा लोगों से घुल-मिल सकता है और जो उसकी सृजनात्मक क्षमताओं के प्रस्फुटन में सहायक हो सकती है। किशोरों की श्रम सक्रियता एक ऐसे दौर में नये कार्यभार उपस्थित करती है और व्यवहार के नये अभिप्रेरकों को जन्म देती है, जब छात्र माध्यमिक शिक्षा पूरी कर रहे होते हैं और शीघ्र ही नागरिक तथा स्वतंत्र कामगर की सामाजिक स्थिति पानेवाले होते हैं। किशोर छात्रों की सक्रियता, जैसा कि व्ला० इ० लेनिन ने कहा था, "भावी" लोगों की चिंता से प्रेरित होनी चाहिए। इस सक्रियता के संगठन में प्रबल नैतिक प्रयासों और ऐसी स्थितियों के

प्रभाव को अवश्य ध्यान में रखा जाना चाहिए, जो छात्रों से गंभीर आत्मिक तथा शारीरिक प्रयासों की, दृढ़संकल्प, उत्तरदायित्व के बोध तथा योग्यता के प्रदर्शन की और साथियों के लिए, दूसरों के लिए अपनी निजी सुविधाओं की बलि देने की अपेक्षा करती हैं।

स्कूल में बच्चों की सक्रियता का संगठन ऐसे किया जाना चाहिए कि उनकी क्रियाशीलता उत्तरोत्तर बढ़ती जाये और वे भविष्य में स्कूल के बाहर की जानेवाली सामाजिक दृष्टि से उपयोगी स्वतंत्र सक्रियता का अनुभव अर्जित कर सकें।

छात्रों की यह सक्रियता, जिसमें उत्पादक श्रम भी शामिल है, वयस्कों के श्रम की समानार्थी नहीं है। वह पेशेवर श्रम नहीं है, यहां तक कि तब भी, जब वह सामाजिक संपदा का सृजन करती है। वह बच्चे के जीवन-निर्वाह का साधन नहीं होती।

सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम बच्चों द्वारा वयस्कों के परस्पर संबंधों से परिचित होने का एक साधन है। छात्र आर्थिक रूप से वयस्कों पर निर्भर होता है, किंतु सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम में भाग लेकर वह अपने को समाज का सदस्य अनुभव करता है और समाज द्वारा "वयस्कों के मापदंडों" से मापा जाता है। छात्र की सामाजिक दृष्टि से उपयोगी किसी विशिष्ट सक्रियता का मनोवैज्ञानिक महत्त्व इस बात में है कि उसमें भाग लेकर वह समाज में एक निश्चित स्थान प्राप्त कर लेता है।

सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सक्रियता में सम्मिलित होकर बच्चे अपने को सामाजिक श्रम में, सारी जनता के लिए महत्त्व रखनेवाले गंभीर, आवश्यक कार्य में सहभागी महसूस करते हैं। उससे उन्हें अपने महत्त्व, नागरिकत्व और सामाजिक उपयोगिता का अहसास होता है। इसके साथ ही नये संबंध बच्चों पर नये दायित्व थोपते हैं और उनके व्यवहार से ऊंची अपेक्षाएं करते हैं। छात्रों की सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता अपने रूप की दृष्टि से श्रम है। किंतु अंतर्वस्तु की दृष्टि से वह एक ऐसा क्रियाकलाप है, जिसके ज़रिये उसका, यानी छात्र का समाज में, अपने समवयस्कों के बीच और वयस्कों के बीच स्थान निर्धारित होता है और उसके व्यक्तित्व के निर्माण में योग मिलता है।

श्रम का सामूहिक स्वरूप पालन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। श्रम की प्रक्रिया में बच्चों और वयस्कों के बीच निश्चित प्रकार के परस्पर संबंध बनते हैं और विशद परस्पर संबंधों की प्रणाली में ही एक व्यक्ति के तौर पर मनुष्य का सर्वाधिक सक्रिय विकास होता है।

§३. बाल समुदाय की मनोवैज्ञानिक विशेषताएं

बाल समुदाय और पालन में उसका योगदान

व्यक्तित्व के निर्माण की एक सबसे मुख्य शर्त और वैचारिक, राजनीतिक, नैतिक, श्रम संबंधी तथा सौंदर्यात्मक पालन का एक सबसे कारगर साधन बाल समुदाय है।

बाल समुदाय में अन्य समुदायों जैसे सामान्य लक्षण भी होते हैं और अपने कुछ पृथक्, विशिष्ट लक्षण भी।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बाल समुदाय एक ऐसा संगठन है, जिसमें **बच्चे के आरंभिक सामाजिक संबंध बनते हैं** और उसका मानसिक विकास होता है। बाल समुदाय निर्माणाधीन व्यक्तित्वों का समुदाय है। इसी से वह पालन की प्रक्रिया में विशेष स्थान रखता है।

बाल समुदाय की एक खास विशेषता यह है कि उसके लक्ष्यों का निर्धारण वयस्क लोगों द्वारा किया जाता है।

बाल समुदाय के संगठन में स्वयं बच्चों की आवश्यकताओं और वयस्कों द्वारा निर्धारित पालन के लक्ष्यों के सहसंबंध विशेष महत्त्व रखते हैं। सामाजिक महत्त्व के कार्यों में बच्चों को सक्रिय रूप से सहभागी बनाते हुए बाल समुदाय संपर्क-संसर्ग के ऐसे बहुविध रूप मुहैया करता है, जो व्यक्तित्व के विकास के लिए व्यापक संभावनाएं प्रस्तुत करते हैं। स्वयं बच्चों की नज़र में **समुदाय के पालन कार्य को उसके सामाजिक दृष्टि से उपयोगी कार्य की तुलना में गौण रहना चाहिए।** अन्यथा उसका पालन संबंधी कोई प्रभाव न पड़ पायेगा।

समाज का पालन से संबंधित एक मुख्य लक्ष्य उदीयमान पीढ़ी

को उत्पादन संबंधी श्रम के लिए तैयार करना है। इसलिए बाल समुदाय में बच्चा सामाजिक संपर्क के मुख्य रूपों तथा सामाजिक श्रम की शिक्षा पाता है और उसमें सामाजिक दृष्टि से आवश्यक सक्रियता के निष्पादन की अभिक्षमता विकसित होती है।

बाल समुदाय की सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विशिष्टता यह है कि वयस्कों द्वारा संगठित बच्चों का यह संगठन उसमें समाज के संबंधों का मॉडल बनाये जाने की संभावना देता है। इसलिए समुदाय के अंदर बच्चों के परस्पर संबंध कैसे हैं, इसका उनके व्यक्तित्व के निर्माण के लिए निर्णायक महत्त्व होता है।

समाज के अंतर्गत बाल समुदाय एक ऐसा विशिष्ट परिवेश है, जिसमें बच्चे का व्यक्तित्व बनता है। अतः उसका निर्माण और संगठन सही ढंग से किया जाना चाहिए। समुदाय ही बच्चे के व्यक्तित्व के स्थायी नैतिक गुणों के सक्रिय, उद्देश्यपरक निर्माण के लिए आवश्यक परिस्थितियां बनाता है। सोवियत मनोवैज्ञानिक साहित्य में यह प्रस्थापना काफ़ी प्रचलित है कि बच्चे द्वारा पूर्ववर्ती पीढ़ियों द्वारा संचित अनुभव, ज्ञान और धारणाओं के आत्मसात्करण की प्रक्रिया एक ऐसी विशिष्ट प्रक्रिया है, जो जिन परिस्थितियों में वह घटती है, उनकी दृष्टि से भी और अपने क्रियातंत्रों की दृष्टि से भी वैयक्तिक अनुभव के निर्म की प्रक्रिया से काफ़ी भिन्न है। यह प्रक्रिया बच्चे की उस सक्रिय के दौरान घटती है, जो अपने इर्द-गिर्द के लोगों के साथ उसके संपर्क-संसर्ग का फल होती है।

बच्चे विभिन्न बाल संगठनों की बहुविध संयुक्त सक्रियताओं में भाग लेते हैं। किंतु बच्चों के परस्पर संबंधों के निर्माण पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव की दृष्टि से सभी संगठन एकसमान नहीं होते।

उन्नत बाल समुदाय ऐसी कुछ निश्चित सक्रियताओं पर ही आधारित हो सकता है, जो बच्चे के मानस के विकास के सर्वथा निश्चित आयुगत चरणों में ही अस्तित्व में आती हैं।

हर बाल समुदाय की सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सक्रियता के साझे उद्देश्य तथा साझे अभिप्रेरक होते हैं और परिणामों में रुचि भी साझी होती है। यदि समुदाय उन्नत किस्म का है, तो इसका अर्थ है कि उसके सदस्यों की क्रियाशीलता और सामूहिकता व परस्पर

सहायता की भावना का स्तर बहुत ऊंचा है और लोगों से उनके संबंध बहुमुखी और बहुविध हैं।

किशोरावस्था इस तरह के समुदाय संगठित करने के लिए सबसे उपयुक्त अवस्था है। इसका कारण यह है कि किशोरावस्था तक बच्चे की सामाजिक स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन आ जाते हैं, अन्य लोगों के साथ उसके संबंध बदल जाते हैं और वह स्थिति के अनुसार उनका नियमन करना और अन्य लोगों के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर अपने कार्यों का मूल्यांकन व संचालन करना सीख जाता है।

किशोर के सामाजिक संपर्कों का मनोवैज्ञानिक सार यह है कि इस आयु में वह समाज के जीवन के संसर्ग में आ जाता है और वह अपने इर्द-गिर्द के लोगों के बीच अपने को जताने की आवश्यकता महसूस करने लग जाता है। १०-१६ वर्ष के बच्चे की ये विशेषताएं उसे सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सक्रियता के दौरान बहुविध संबंधों के प्रति बहुत संवेदनशील बना देती हैं।

इस आयु में सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सक्रियता प्रमुख सक्रियता बन जाती है। वह किशोर की मुख्य मानसिक विशेषताओं के अनुरूप निष्पन्न होती है।

उन्नत बाल समुदाय एकाएक पैदा नहीं हो जाता। उसका निर्माण एक दीर्घ प्रक्रिया है, जिसकी शुरूआत स्कूलपूर्व अवस्था में ही हो जाती है।

इस सिलसिले में दो परस्पर संबद्ध प्रश्न पैदा होते हैं:

क) उन्नत बाल समुदाय का निर्माण आरंभिक स्कूली अवस्था में बननेवाले सामूहिकतापरक संबंधों की पद्धति पर कहां तक निर्भर है?

ख) किशोरावस्था में उन्नत बाल समुदाय का निर्माण किन तरीकों से और किन परिस्थितियों म होता है?

बाल समुदाय के विकास का स्तर बच्चों के परस्पर संबंधों के स्वरूप और विकास-स्तर से निर्धारित होता है। किंतु जहां तक बच्चों के विशद संबंधों के निर्माण के आधार का सवाल है, तो वैसा आधार बच्चों की सक्रियता का लक्ष्योद्दिष्ट संगठन ही बन सकता है।

सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सक्रियता की पालन संबंधी क्षमताएं विशेषतः किशोरावस्था में सामूहिकतावादी गुणों के विकास में और

साझे ध्येय व लोगों के प्रति सही रवैये के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग देती हैं।

सामूहिकतावाद की भावना के पोषण के सर्वाधिक कारगर तरीके निम्न हैं: १) आरंभिक स्कूली अवस्था से ही **बच्चों को उनकी सामर्थ्य के भीतर स्थित सामाजिक दृष्टि से उपयोगी बहुविध सक्रियताओं में शामिल करना।** इस आयु में बच्चे के मनोविकास में ये सक्रियताएं प्रमुख नहीं होतीं। फिर भी वे उनके व्यक्तित्व के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अवश्य अदा करती हैं, क्योंकि उनमें बच्चे के संपर्क के दायरे को बढ़ाने और सृजन प्रतिभा को उजागर करने की प्रच्छन्न शक्ति निहित होती है।

२) **स्कूली बच्चों की सभी सक्रियताओं का, जिनमें पढ़ाई, कलात्मक कार्यकलाप और खेलकूद भी आ जाते हैं, संगठन समाजोपयोगिता के सिद्धांत के आधार पर करना** और उन्हें सारगर्भित तथा लक्ष्यपरक बनाना।

३) सामाजिक दृष्टि से उपयोगी विभिन्न सक्रियताओं की प्रणाली में सभी आयु-वर्गों के बच्चों के पालन के एक सबसे प्रभावी कारक – **श्रम सक्रियता के सोद्देश्य संगठन** – पर विशेष ध्यान देना। श्रम शिक्षा का लक्ष्य और कार्यभार मेहनत की आदत डालना, दक्षताएं विकसित करना और वयस्कों की श्रम सक्रियता के लिए तैयार करना ही नहीं होना चाहिए। ऐसी बात नहीं कि समाज को कार्यकुशल लोग नहीं चाहिए। किंतु समाजवादी समाज में पालन की प्रक्रिया में जो मुख्य चीज है, वह है बच्चों में श्रम के प्रति प्रेम और सृजनात्मक रवैया, श्रम के संबंध में मार्क्सवादी सामाजिक-मानसिक दृष्टिकोण पैदा करना।

सामूहिकतावादी गुणों के संवर्धन का मनोविज्ञान

पालन मनोविज्ञान की एक सबसे बड़ी समस्या है – बाल्यकाल में सामूहिकतावादी गुणों के विकास की विधियों की खोज।

सामूहिकतावाद समाजवादी सामाजिक परस्पर संबंधों की सारी प्रणाली की एक अंगभूत विशेषता है।

सामूहिकतावादी गुणों के विकास में सारी शिक्षा प्रणाली, स्कूल

की सभी बुनियादी गतिविधियां और विभिन्न बाल संगठनों के कार्य-कलाप योग देते हैं।

कक्षा, पायनीयर टोली और छात्र उत्पादन टोली समुदाय के प्रति एक खास तरह का रवैया अपनाने में बच्चों की मदद करती हैं। किंतु साथीपन के संबंध, कामकाजी निर्भरता के संबंध और साझा उत्तरदायित्व फिर भी अपने आप में वह नहीं है, जिसे हम समुदाय के सदस्य बच्चों के व्यक्तित्व के सामूहिकतावादी गुणों की संज्ञा देते हैं।

जैसा कि बहुत से स्कूलों और अन्य बाल संस्थाओं को आधार बनाकर किये गये विशेष्र अध्ययन दिखाते हैं, कुछ बच्चों में सामूहिकता-वादी गुणों के बहुत धीरे पनपने का एक गंभीर कारण उनका अपने ही समुदाय के दायरे में ज़रूरत से ज़्यादा सीमित रहना है। **सामूहिकता-वाद सामाजिक ध्येय के प्रति सृजनात्मक रवैये का परिचायक है।** किंतु अपने ही समुदाय के साझे ध्येय के प्रति नहीं, अपितु सामान्यतया साझे ध्येय के प्रति। जब ऐसी समझ होती है, तभी ऐसे व्यक्ति का निर्माण होता है, जिसके लिए सामाजिक ध्येय के लिए कार्य करना आंतरिक आवश्यकता है। ऐसी आवश्यकता संकीर्ण समुदाय के दायरे में पैदा नहीं की जा सकती। जो पालन एक ही समुदाय के उद्देश्यों तक सीमित होता है, वह इन उद्देश्यों के सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने पर भी अपने में गुटबंदी के विकास का खतरा छिपाये रहता है। यह संयोग की बात नहीं है कि किसी प्रतियोगिता में शामिल होकर कुछ बाल समुदायों के सदस्य अपने समुदाय को जिताने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाने लग जाते हैं, चाहे इससे अन्य समुदायों को और ध्येय को भी हानि क्यों न पहुंचे। ऐसा विशेषतः तब होता है, जब बच्चों को साझे ध्येय के प्रति उत्तरदायी होना नहीं सिखाया जाता और किसी भी कीमत पर पहला आना ही प्रतियोगिता का अभिप्रेरक बन जाता है। यह अभिप्रेरक अपने गुट या समूह के स्वार्थ का प्रतीक है और सामूहिकतावाद के पोषण में किसी प्रकार मदद नहीं करता। कुछ बच्चे अपने समुदाय में तो साथीपन की भावना और उत्तरदायित्व का प्रदर्शन करते हैं, किंतु ज्यों ही किसी अन्य समुदाय का प्रश्न उठता है, उनके सामूहिकतावादी गुण लोप हो जाते हैं।

वास्तविक सामूहिकतावादी गुणों के संवर्धन के लिए अधिक व्यापक

कार्यभारों के साथ, सारे समाज के जीवन के साथ अपने समुदाय की सक्रियता के उद्देश्यों के संबंधों की चेतना का होना बहुत ज़रूरी है। केवल तभी साझे ध्येय और कार्य के लिए व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की भावना पैदा होगी। अतः शिक्षा व पालन का एक सबसे महत्त्वपूर्ण कार्यभार यह है कि ऐसे बहुविध अंतर्सामुदायिक संबंध बनाये जायें, जिनसे विशेषतः संगठित समाजोपयोगी सक्रियता पर अवलंबित समाजवादी परस्पर संबंधों की प्रणाली का आधार तैयार हो सके।

अंतर्सामुदायिक संबंधों के संदर्भ में बच्चे को एक साथ उन बहुत से कार्यकलापों में शामिल करना विशेष महत्त्व रखता है, जिन्हें बच्चों को सार्वजनिक पैमाने पर सामाजिक महत्त्व के कार्यभारों की पूर्ति की ओर लक्षित करनेवाले नियमित अथवा अस्थायी बाल संगठनों के दायरे में आयोजित किया जाता है।

§४. "समस्याजनक" बच्चों की मानसिक विशेषताएं

जो व्यवहार समाज के नैतिक मानकों और अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं होता, उसे समाज-उदासीन व्यवहार कहा जाता है। असंगत व्यवहार के विपरीत जो कि किसी शारीरिक विकार से जुड़ा होता है, समाज-उदासीन व्यवहार सूक्ष्म परिवेश के नकारात्मक प्रभाव, असामान्य पारिवारिक संबंधों, पारिवारिक तथा स्कूली पालन की कमियों, त्रुटियों, आदि की उपज होता है।

व्यक्तित्व के नैतिक पहलू के विकास की विशेषताओं के गहन अध्ययन के आधार पर सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं ने अकाट्य रूप से दर्शाया है कि बच्चे का समाज-उदासीन व्यवहार "जन्मजात क्रियातंत्रों" पर निर्भर नहीं होता। तथाकथित "समस्याजनक" बच्चे शैक्षिक दृष्टि से उपेक्षित बच्चे मात्र हैं, जिनके व्यक्तित्व की नैतिक विकृति अध्यापकों और प्रतिपालकों की ग़लतियों का परिणाम होती है। (यहां आशय उन बच्चों से नहीं है, जो तंत्रिका तंत्र के किसी विकार से ग्रस्त हैं अथवा बौद्धिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, बल्कि उन बच्चों से है, जो मानसिक और शारीरिक तौर पर स्वस्थ हैं।) "समस्याजनक" बच्चों की ठेठ विशेषताएं सर्वाधिक स्पष्टता के साथ किशोरावस्था में उभरती हैं, जब बच्चे की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आता है,

जिससे न केवल उसकी सक्रियता नया मोड़ लेती है, बल्कि स्वयं उसके प्रति रुख भी बदलता है। मानसिक विकास का यह दौर जटिल इसलिए है कि एक ओर तो किशोरावस्था बचपन का ही एक हिस्सा है, दूसरी ओर, हमारा वास्ता यहां ऐसे व्यक्ति से पड़ता है जो वयस्क जीवन की देहरी पर खड़ा है और स्वतंत्रता, आत्मप्रतिष्ठापन के लिए, वयस्कों से अपने अधिकारों और अपनी प्रच्छन्न शक्तियों की मान्यता पाने के लिए आतुर है। ल० स० विगोत्स्की ने कहा था कि "समस्याजनक" किशोर के व्यक्तित्व की संरचना की जटिलता जन्मजात नहीं, अपितु जीवन के प्रभावों का, संबंधों के स्वरूप का परिणाम होती है।

प्रचलित व्यवहार में "समस्याजनक" बच्चे उन बच्चों को कहा जाता है, जिनके व्यक्तित्व को सुधारने की ज़रूरत होती है। उनमें आज्ञा न माननेवाले, स्वेच्छाचारी और ज़िद्दी बच्चों को भी शामिल किया जाता है। बहुत से बच्चे अति शरारती, अनुशासन न माननेवाले और ढीठ भी होते हैं। इस प्रकार के विचलनों को आदत और चरित्र का हिस्सा बनने से रोकने के लिए सबसे पहले उनके वास्तविक कारण मालूम करना और ऐसे हर बच्चे के प्रति व्यक्तिगत उपागम बरतना बहुत ज़रूरी है। ऐसे बच्चों की क्रियाशीलता का लक्ष्यप्रेरित संगठन, उनके उपक्रमों को प्रोत्साहित करना, उनकी गरिमा का सम्मान और स्वतंत्रता के उनके अधिकार का आदर किया जाना चाहिए। कुछ बच्चे ऐसे होते हैं, जिनके व्यवहार की विशेषता है मेहनत करने की इच्छा और आदत का अभाव, यानी जो आलसी हैं।

कुछ बच्चों में झूठ बोलना जैसा अवगुण होता है। झूठ बोलना दंड के भय, अपनी किसी गंदी हरकत को छिपाने की कोशिश और कभी-कभी आत्मप्रतिष्ठापन तथा दूसरे का ध्यान आकृष्ट करने की इच्छा का भी परिणाम हो सकता है। साथीपन की ग़लत धारणा और साथी की हरकत को छिपाने की इच्छा से भी झूठ बोला जाता है। अध्यापक के लिए ज़रूरी है कि वह बच्चे के झूठ की जड़ में जाने की कोशिश करे। यह भी ज़रूरी है कि सच्चाई, विश्वास, परस्पर आदर और अपेक्षाशीलता का वातावरण बनाया जाये। तभी बच्चे को झूठ बोलने में निहित बुराई और कायरता तथा ढोंग के साथ उसके संबंध को दिखाया जा सकता है।

कुछ बच्चे अपनी कोई आवश्यकता तुष्ट न होने के कारण घमंड, आक्रमकता, बड़बोलापन अथवा ज़रूरत से ज़्यादा तुनुकमिज़ाजी दिखाते हैं। फलस्वरूप आकांक्षाओं के स्तर (जो या तो अतिरंजित आत्ममूल्यांकन पर आधारित होता है अथवा अपने में विश्वास की कमी पर) और समुदाय में बच्चे की वास्तविक स्थिति के बीच एक तरह का द्वंद्व पैदा हो जाता है। ऐसी हालत देर तक बने रहने का बच्चे के अन्य लोगों, स्वयं अपने और काम के प्रति रवैये पर प्रतिकूल असर पड़ता है। अतः ऐसे विकास को रोकने, बच्चे के आंतरिक द्वंद्व को खत्म करने के लिए अध्यापक को समय रहते उपाय कर लेने चाहिए। "समस्याजनक" बच्चों से बरताव में सही व्यक्तिगत उपागम बहुत ज़रूरी है, जिसकी मुख्य शर्तें हैं: क) बच्चे पर ध्यान और उसके प्रति सदाशयतापूर्ण रवैया ; ख) उसके अच्छे गुणों पर भरोसा करना ; और ग) उसके नैतिक सामर्थ्य और अंतर्निहित शक्तियों में जताकर विश्वास दिखाना।

सबसे अधिक कठिनाई उन बच्चों के मामले में पैदा होती है, जो शैक्षिक दृष्टि से उपेक्षित होते हैं, जैसे किशोर अपराधी। उनका व्यवहार अधिकांशतः आवेगात्मक होता है। सामाजिक दृष्टि से नकारात्मक आवश्यकताएं, अतिवर्धित इच्छाएं, मैत्री, साथीपन, कर्त्तव्य तथा इज़्ज़त की विकृत धारणा, विद्रूपित आत्मिक, संज्ञानात्मक और सौंदर्यात्मक आवश्यकताएं और पढ़ाई में रुचि का अभाव ऐसे किशोरों की ठेठ विशेषताएं हैं। जैसे कि मनोवैज्ञानिक अध्ययन दिखाते हैं, किशोर अपराधी बौद्धिक विकास की दृष्टि से बिल्कुल सामान्य होते हैं, अतः सोद्देश्य ढंग से उन्हें बहुस्तरीय और बहुमुखी सक्रियताओं में भाग लेने के लिए प्रेरित करके उनकी शिक्षा व पालन में छूटी कमियों को दूर किया जा सकता है।

किशोर अपराधियों के मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से पता चला है कि उनमें से अधिकांश का कानून विरोधी आचरण वयस्कता के दावे, अपने अधिकारों की ग़लत समझ और वयस्कों से मान्यता पाने की आकांक्षा का परिणाम होता है।

किशोर के व्यक्तित्व के नैतिक विरूपीकरण का कारण मुख्यतः पारिवारिक पालन की कमियां होती हैं, जो फिर स्कूली पालन की कमियों की वजह से और भी गंभीर बन जाती हैं।

जब परिवार की असंतोषजनक स्थिति के बारे में कहा जाता है, जिसका कि बच्चे पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, तो सामान्यतः कई कारणों का उल्लेख किया जाता है और उसमें भी सबसे अधिक ध्यान अधूरे, विशृंखलित परिवारों (केवल मां या केवल पितावाले परिवारों) पर ही दिया जाता है। किंतु वास्तविकता तो यह है कि अधिकांश किशोर अपराधियों का पालन औपचारिकतः पूर्ण परिवारों में, सामान्य स्थितियोंवाले परिवारों में ही हुआ होता है। निर्णायक कारक न परिवार का पूरा होना है और न उसकी स्थिति ही, अपितु वे परस्पर संबंध हैं, जो परिवार के सदस्यों के बीच, वयस्कों के बीच, वयस्कों और बच्चों के बीच होते हैं। परिवार में परस्पर संबंधों का ठीक न होना, माता-पिता का ग़लत मिसाल पेश करना, उनका पाखंड, अशिष्टता, बेईमानी ही उस अवांछित घृणित सूक्ष्म परिवेश का निर्माण करते हैं, जो "समस्याजनक" किशोरों के आविर्भाव का एक सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है। ऐसे परिवारों में किशोरों की स्थिति बहुत ही गंभीर, असह्य होती है। बच्चे के व्यक्तित्व को क़दम-क़दम पर अपमानित किया जाता है। ऐसे में किशोरों की गुंडागर्दी, असभ्यता प्रायः आत्मरक्षा का, अपने व्यक्तित्व के हनन से बचने का एक साधन सा बन जाती है। ऐसे परिवारों में मां-बाप बच्चों का ठीक से पालन करना या तो नहीं जानते (बहुतों को तो इसका अहसास भी नहीं होता है) या फिर कुछ कारणों से वे ऐसा करने में असमर्थ होते हैं (बीमारी, व्यस्तता, आदि)। कुछ परिवार ऐसे भी होते हैं, जो देखने में तो ठीक-ठाक लगते हैं, किंतु जिनमें मां-बाप बच्चे के मनोजगत के प्रति उदासीन रहते हैं (यह भी बच्चे के आत्मसम्मान और गरिमा के हनन का एक रूप है)।

पारिवारिक पालन की कमियां जो नकारात्मक प्रवृत्तियां पैदा करती हैं, उन्हें स्कूल द्वारा सुधारा जाना चाहिए। खेद की बात है कि कभी-कभी ये कमियां कुछ अध्यापकों के औपचारिक रवैये, निषेधात्मक रवैये के कारण और भी गंभीर बन जाती हैं। ऐसा रवैया किशोरों को अपना रास्ता और अपनी रुचि के अनुकूल सक्रियता चुनने की संभावना से वंचित कर देता है।

ऐसे में अध्यापकों के साथ संबंध टकरावपूर्ण बन जाते हैं, जो

इस कारण और भी बिगड़ जाते हैं कि "समस्याजनक" किशोर दोस्ती आम तौर पर अपने सहपाठियों से नहीं करते। इसके बावजूद कि किशोरावस्था में बच्चों में साथियों के साथ घुलने-मिलने, स्वतंत्र बनने और वयस्कों से आदर पाने की चाह होती है, "समस्याजनक" किशोर तीसरी-चौथी कक्षा में ही अपने समवयस्कों के समुदाय से बाहर निकल आते हैं। अपने इच्छानुकूल स्थान पाने की कोशिश में ये बच्चे उजड्डुता और झूठी "ताक़त की प्रतिष्ठा" का सहारा लेने लगते हैं।

"समस्याजनक" किशोर के विकास की सामाजिक स्थिति ऐसी होती है कि वह अपने को न केवल परिवार, बल्कि स्कूली समुदाय के भी बाहर पाता है।

सामान्य संबंधों से, अर्थात ऐसे संबंधों से बहिष्कृत होकर, जिनमें कि उसे अपने महत्त्व और समाज के लिए अपनी आवश्यकता का अहसास रहता है, किशोर आरंभ में अपने समुदाय का और फिर सारे समाज का ही विरोध करने लगता है। इसलिए "समस्याजनक" किशोर पर सुधार संबंधी प्रभावों की पद्धति निश्चित करने का पहला चरण वह होता है, जिसमें कि आवश्यक वातावरण बनाया जाता है और वयस्क उसके प्रति सदाशयतापूर्ण और साथ ही कड़ा रवैया अपनाते हैं। किंतु इस प्रक्रिया में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण किशोर की श्रम सक्रियता होती है। उसमें भी विशेष ज़ोर सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता के संगठन पर दिया जाना चाहिए।

इस तरीके की कारगरता तब विशेषतः स्पष्ट हो जाती है, जब हम श्रम के प्रति किशोर अपराधी के बाह्य रवैये की आंतरिक रवैये से तुलना करते हैं। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों ने दिखाया है कि अधिकांश "समस्याजनक" किशोर श्रम के उन रूपों में खूब रुचि दिखाते हैं, जिनमें अपनी स्वतंत्रता का प्रदर्शन किया जा सकता है और समुदाय में एक निश्चित स्थान पाया जा सकता है। अतः "समस्याजनक" किशोर की विशिष्ट आवश्यकताओं की तुष्टि करनेवाली श्रम सक्रियता के संगठन के सैद्धांतिक आधारों की गंभीर खोज आवश्यक है। ऐसी विधियां निकाली जानी चाहिए, जिनसे कि किशोर में श्रम के प्रति रुचि जागृत हो सके और वह काम में स्वयं पहल दिखाने लगे। सामा-

जिक दृष्टि से उपयोगी ऐसी श्रम सक्रियता का संगठन आवश्यक है, जो उत्तरोत्तर सघन और जटिल बनती जाती है। ऐसी सक्रियता की गति और तनाव सभी शक्तियां जुटाते, उत्तरदायित्व और उत्साह का वातावरण बनाते हैं। स्कूल में विभिन्न समारोहों और आयोजनों की तैयारी अंतर्वस्तु और संगठन के तरीक़ों से किशोरों को आकृष्ट करके समुदाय में ऐसा माहौल पैदा कर देती है, जो परस्पर निर्भरता, परस्पर उत्तरदायित्व के संबंधों के विकास में, किशोरों के आपसी तथा वयस्कों के साथ संपर्क के नये रूपों के विकास में योग देता है।

इस प्रणाली में "समस्याजनक" किशोरों के शामिल होने का मतलब है पुराने संबंधों का टूटना और गुणात्मक रूप से नये संबंधों का बनना। किंतु यह टूटन किशोर प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर पाता, चूंकि वह स्वयं उसके लिए टूटन नहीं बनती। किशोर इस परिवर्तन को एक आवश्यकता के तौर पर लेने लगता है।

बहुत से "समस्याजनक" किशोरों को सुधारने में जोशीलापन, लक्ष्य की लगन, प्रभाव-प्रतिष्ठा की चाह और अपनी सामाजिक अपूर्णता की अर्धचेतना जैसी उनके व्यक्तित्व की विशेषताओं से लाभ उठाया जा सकता है। उनके द्वारा किये जा रहे श्रम कार्यों के सामाजिक महत्त्व को उजागर और उनके श्रम को छोटे-छोटे समूहों में संगठित करने से, जिनमें उन्हें कभी-कभी साथियों की देखरेख का ज़िम्मा भी सौंपा जाता है, उन्हें समुदाय की सक्रियता में कारगर ढंग से सहभागी बनाने में मदद मिलती है।

सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता बहुत से "समस्याजनक" किशोरों में जीवन में रुचि और सकारात्मक भावनाएं जागृत करती है और भविष्य के प्रति सचेत बनाती है।

उल्लेखनीय है कि "समस्याजनक" किशोरों की सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता का सार, मुख्य अंतर्वस्तु और संगठन के सिद्धांत व तरीक़े वैसे ही होते हैं, जैसे कि सामान्य किशोरों की श्रम सक्रियता के। केवल ऐसी सक्रियता का लक्ष्यप्रेरित निर्माण ही "समस्या-जनक" किशोर के समाज-उदासीन व्यवहार का जड़ोच्छेदन करता है और उनमें स्थायी नैतिक व संकल्पात्मक गुणों के विकास को प्रेरणा देता है।

§५. नैतिकता के निर्माण के मनोवैज्ञानिक आधार

नैतिक चेतना और व्यवहार के निर्माण की एकता

व्यक्तित्व का निर्माण मनुष्य द्वारा चेतना और व्यवहार के सामाजिक रूपो को आत्मसात् किये जाने की प्रक्रिया में होता है। नैतिक चेतना का अर्थ है मनुष्य की चेतना में नैतिकता के नियमों तथा मानकों का, जो कि लोगों के परस्पर संबंधों का नियमन करते हैं, और सामाजिक ध्येय तथा समाज के प्रति उसके रवैये का प्रतिबिंबन। किंतु नैतिक धारणाओं का आत्मसात्करण नैतिक चेतना के जन्म और विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हुए स्वयं ही नैतिक व्यवहार का निर्माण सुनिश्चित नहीं कर देता। मनोवैज्ञानिक अध्ययन और शिक्षावैज्ञानिक अनुभव दिखाता है कि नैतिक नियमों से भली-भांति परिचित होने के बावजूद बच्चे बहुत बार अपने व्यवहार में उनका पालन नहीं करते। इसका कारण सामान्यतः यह होता है कि कतिपय अध्यापक नैतिक ज्ञान की शक्ति में आंख मींचकर विश्वास कर लेते हैं, जिसके फलस्वरूप पालन की प्रक्रिया वस्तुतः शाब्दिक, मौखिक प्रभाव तक सीमित होकर रह जाती है। शब्द के निर्विवाद महत्त्व के बावजूद ऐसा नहीं होने दिया जाना चाहिए कि शाब्दिक अथवा मौखिक विधियां छात्रों की सामाजिक दृष्टि से उपयोगी ठोस सक्रियता पर हावी हो जायें।

नैतिक ज्ञान और संकल्पनाओं को विश्वासों में परिवर्तित करने के लिए आवश्यक है कि उन्हें व्यवहार के अभिप्रेरकों तथा तदनुरूप नैतिक आदतों की प्रणाली के रूप में अंकित किया जाये। अ०स० मकारेंको ने लिखा था, "व्यवहार कैसा हो, इसकी चेतना और जैसे व्यवहार की आदत है, उसके बीच विरोध दिखायी देता है। उनके बीच एक खाई सी है और इस खाई को अनुभव से पाटा जाना चाहिए।" किंतु ज़रूरी है कि यह अनुभव, यानी बच्चों की व्यावहारिक सक्रियता उनके संवेगों से जुड़ी हुई हो। जैसा कि ल०स० विगोत्स्की ने कहा था, "...संवेगों का तंत्र एक ऐसी विशेष युक्ति अथवा सूक्ष्म उपकरण जैसा है, जिसके ज़रिये व्यवहार को आसानी से प्रभावित किया जा सकता है।" अध्यापक के शब्दों, साहित्य और कला की रचनाओं,

क्रांतिकारियों, योद्धाओं और मेहनतकशों के शौर्यपूर्ण बिंबों की संवेगात्मक सारवस्तु सभी समझ जाते हैं। संवेग देशप्रेम, अंतर्राष्ट्रीयतावाद, मानवतावाद, कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व, साथीपन, प्रतिष्ठा, ईमान, आदि नैतिक भावनाओं के जन्म और विकास में बहुत बड़ी भूमिका अदा करते हैं। किंतु नैतिक विश्वासों के निर्माण की भांति नैतिक भावनाओं का पालन भी छात्रों द्वारा अपनी सक्रियता के दौरान उनके आत्मसात्करण और उन्हें अनुभव किये जाने से जुड़ा होता है। बच्चे को अगर एक बार भी अपने किसी नैतिक कर्म से संतोष मिल जाता है, तो वह अपनी इस अनुभूति को बार-बार दोहराना चाहेगा। नैतिक धारणाओं पर आधारित और नैतिक संवेगों से ओत-प्रोत सक्रियता का सोद्देश्य संगठन ही नैतिक व्यवहार के निर्माण की बुनियाद है।

नैतिक व्यवहार उस व्यवहार को कहते हैं, जो समाज द्वारा निर्धारित और नैतिक मानकों तथा संबंधों के कुछ निश्चित नियमों द्वारा प्रतिबंधित तथा संचालित होता है।

व्यवहार की इकाई, जो कि अन्य लोगों तथा समाज के प्रति बच्चे के रवैये को व्यक्त करती है, कर्म अथवा हरकत है। कर्म व्यवहार का एक अंग और नैतिक अभिप्रेरकों की क्रिया का फल होता है। उसमें मनुष्य का व्यक्तित्व, उसके गुण और आवश्यकताएं प्रतिबिंबित होते हैं।

नैतिक व्यवहार के निर्माण के लिए नैतिक आदतों – मेहनत की आदत, साथियों की मदद करने की आदत और दूसरी महत्त्वपूर्ण आदतें, जो कि व्यक्ति के नैतिक गुणों के विकास में योग देती हैं – के पालन पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। क्रियाओं के बारंबार दोहराये जाने की प्रक्रिया में निर्मित होते हुए – आरंभ में बड़ों के अनुकरण के रूप में और फिर उनकी अपेक्षाओं के प्रभाव से, समुदाय के मत के प्रभाव से तथा सामूहिक सक्रियता के ज़रिये – नैतिक आदतें व्यक्ति की आवश्यकताएं बन जाती हैं।

व्यक्तित्व के नैतिक पहलू का निर्माण, जो कि चेतना, व्यवहार, भावनाओं और आदतों के निर्माण की एकीभूत प्रक्रिया है, सर्वाधिक सफलता के साथ पालन की विशेषतः संगठित प्रणाली से संपन्न होता है, जिसमें न केवल नैतिक शिक्षा और व्यावहारिक सक्रियता का सुमेल

होता है, अपितु इस सक्रियता में बच्चों के आपसी, समुदाय तथा समाज के साथ नैतिक संबंधों को उभारा और समन्वित किया जाता है। ऐसी हालत में बच्चे नैतिक नियमों की समष्टि को आत्मसात् ही नहीं करते, वरन अपनी सक्रियता के दौरान, अन्योन्याश्रित तथा उत्तरदायित्वपूर्ण सामूहिक संपर्कों के दौरान नैतिक व्यवहार और उन नैतिक आदतों का व्यक्तिगत अनुभव भी अर्जित करते हैं, जो व्यवहार के अभिप्रेरकों और नैतिक विश्वासों में बदल जाते हैं। अपनी बारी में बच्चों का सामाजिक व्यवहार और परस्पर संबंध नैतिक शिक्षा के साथ मिलकर उनकी नैतिक चेतना के निर्माण के लिए आवश्यक आधार का काम करते हैं। नैतिक अपेक्षाओं का अवबोध, अपने नैतिक आदर्शों का निर्धारण और उन्हें व्यवहार के अभिप्रेरकों में परिवर्तित करके बच्चे फिर अपने अनुभव का विश्लेषण और सामान्यीकरण करने लगते हैं। बच्चे में नैतिक मूल्यों की चेतना और उन्हें क्रमबद्ध करने की प्रवृत्ति किशोरावस्था में ही पैदा हो जाती है। फिर बड़ी कक्षाओं तक पहुंचते-पहुंचते उनके अपेक्षाकृत स्थायी नैतिक विश्वास, लक्ष्य और भविष्य की योजनाएं भी प्रकट हो जाते हैं।

पालन के मनोवैज्ञानिक क्रियातंत्र

बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया के नियमन के रूप में पालन के अपने गहन मनोवैज्ञानिक क्रियातंत्र होते हैं। उनका अध्ययन ही पालन मनोविज्ञान का सर्वोपरि लक्ष्य है।

ज्ञात है कि हर ऐतिहासिक युग में समाज पालन की प्रणाली के सामने कुछ निश्चित ध्येय, कुछ आदर्श रखता है। समाजवाद के युग में ये ध्येय और ये आदर्श हैं भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण का निर्माण, वैचारिक और राजनीतिक परिपक्वता का विकास और सच्चे नैतिक मूल्यों की रचना। सोवियत समाज में पालन की प्रणाली का गठन इन ध्येयों, नैतिक आदर्शों को ध्यान में रखकर ही किया गया है।

मानसिक विकास की एक खास विशेषता, जैसा कि ल०स० विगोत्स्की ने भी कहा था, यह है कि एक आदर्श के रूप में, एक निश्चित प्रतिमान के रूप में इस विकास का परिणाम बच्चे के सामाजिक

परिवेश में पहले से ही मौजूद रहता है। विभिन्न रूपों में (साहित्यिक रचनाओं के नायकों, क्रांतिकारियों, योद्धाओं, श्रम वीरों और आधुनिक नायकों, आदि के रूप में, जिनमें से कुछ बच्चे के इर्दगिर्द के लोगों में भी हो सकते हैं) पेश किये गये सामाजिक प्रतिमान, जीवन, श्रम और व्यवहार के आदर्श न केवल बच्चों के विकास की प्रक्रिया का निदेशन व समन्वयन करते हैं, बल्कि उसका स्रोत भी होते हैं। किंतु पालन की प्रक्रिया के संगठन के लिए सामाजिक दृष्टि से मूल्यवान प्रतिमान, आदर्श की विद्यमानता ही पर्याप्त नहीं है। समाज द्वारा निर्धारित पालन के लक्ष्यों को स्पष्ट और सुनिश्चित बनाना भी ज़रूरी है, जिसमें कि समाज की अपेक्षाओं को और बच्चे के मानसिक विकास के विभिन्न आयुगत चरणों की विशेषताओं तथा नियमों को ध्यान में रखा गया हो।

सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं के अनुसंधान दिखाते हैं कि बच्चे के व्यक्तित्व के नैतिक पहलू के निर्माण की मुख्य प्रेरक शक्ति के रूप में समाज में विद्यमान नैतिक प्रतिमानों का आत्मसात्करण कई चरणों में संपन्न होता है। प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के आदर्शों का स्वरूप ठोस और अस्थिर होता है। किंतु किशोरों और तरुणों के मामले में आदर्श अधिक संश्लिष्ट, सामान्यीकृत और स्थिर हो जाते हैं। किशोरावस्था और तरुणावस्था में "निकटवर्ती" आदर्श प्रायः दत्त प्रतिमानों के "आत्मसात्करण" का साधन बन जाते हैं। आदर्श प्रतिमान से अपनी तुलना करने की, उसका सचेतन अनुकरण करने की प्रवृत्ति पैदा होती है। मनोविज्ञानवेत्ता जिसे व्यक्ति के मानसिक गुणों की प्रणाली के अर्थ में लेते हैं और जिसके ज़रिये बाह्य सामाजिक परिवेश का व्यक्ति पर असर पड़ता है, उस "आंतरिक परिवेश" का महत्त्व बढ़ जाता है। यदि आरंभ में बच्चे का विकास मुख्यतया सामाजिक परिवेश की अपेक्षाओं से अभिप्रेरित होता है, तो आगे चलकर वह आत्मसात्कृत सामाजिक अपेक्षाओं और सामाजिक प्रतिमानों के आधार पर परिवेश से और स्वयं अपने से भी खुद कुछ अपेक्षाएं रखने लग जाता है, जो फिर उसके विकास के स्रोत तथा उद्दीपक बनते हैं और उसके रवैये तथा व्यवहार का निर्धारण करते हैं। सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं ने मालूम किया है कि वयस्कों से, समाज से आनेवाली

अपेक्षाओं के "स्वय अपने से" अपेक्षाओं में बदलने की प्रक्रिया बाह्य, परायी अपेक्षाओं के विवशतावश स्वीकरण से उनके स्वैच्छिक, सचेत स्वीकरण की ओर और अंततः बाह्य नैतिक अपेक्षाओं के निजी, "स्वयं अपने से" अपेक्षाओं में परिवर्तन की ओर बढ़ती है।

सामाजिक अपेक्षाओं, सामाजिक प्रतिमान और आदर्श के बच्चे के व्यवहार के प्रतिमान में बदलने का एक क्रियातंत्र **अनुकरण** है। दूसरा क्रियातंत्र है **व्यवहार के नियमों व मानकों का लक्ष्यप्रेरित समावेश और बाल समुदाय के कार्यकलाप की प्रक्रिया में उनकी पूर्ति पर निग-रानी।** इसमें नियम को एक सामान्यीकृत प्रतिमान के तौर पर लिया जाता है और महत्त्व नियमों के औपचारिक रूप को नहीं, अपितु उस अभिन्न संबंध को दिया जाता है, जो इन नियमों और बच्चे द्वारा प्रतिमान के आत्मसात्करण के निजी अभिप्रेरकों के विकास के बीच मौजूद है। प्रतिमान का आत्मसात्करण बच्चे से सक्रिय क्रियाओं की अपेक्षा करता है और इसलिए उसे इन क्रियाओं के निष्पादन में समर्थ होने के लिए संगठन और नियंत्रण के साधनों का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। ऐसे विभिन्न साधनों के बिना अनुरोध, स्मरण, अपेक्षाएं, आदि, चाहे बच्चा उनके औचित्य को कितना भी स्वीकार क्यों न करता हो, निरर्थक ही सिद्ध होंगे। नियंत्रण-संरचना में सामग्री का सोद्देश्य संगठन, सुव्यवस्थित और क्रमसंगत जांच, नियंत्रण के मुद्दों को निर्दिष्ट करना, नियंत्रण के प्रतिमान, मानदंड और कसौटियां दिखाना और मानदंडों तथा कसौटियों के इस्तेमाल की विधि बताना शामिल हैं।

हरकतों का अभिविन्यासात्मक आधार, नैतिक मानक कर्त्ता की यथार्थ सक्रियता में ही काम करता है। **व्यवहार की इकाई के रूप में हरकत की वस्तु सदा दूसरा व्यक्ति, समुदाय अथवा समाज होता है** (जैसे क्रिया की वस्तु कोई चीज़ होती है)। सामाजिक अपेक्षाओं का बच्चे के निजी विश्वासों में परिवर्तन के क्रियातंत्र, यानी आभ्यंतरी-करण की प्रक्रिया का सार ल० स० विगोत्स्की, अ० न० लेओन्तयेव, आदि सोवियत मनोविज्ञानवेत्ताओं ने अपनी रचनाओं में दिखाया है, जिनका कहना है कि "आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया का यह अर्थ नहीं कि बाह्य सक्रियता पहले से विद्यमान आंतरिक 'चेतना के धरातल'

पर अंतरित हो जाती है ; यह ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें आंतरिक धरातल पहली बार पैदा होता है।" बच्चे का विशेषतः संगठित बहुविध सक्रियताओं में, जिनमें बहुस्तरीय संबंध बनते हैं, शामिल होना सामाजिक व्यवहार के रूपों को उसकी चेतना में अंकित कर देता है और उन नैतिक प्रतिमानों के अनुसार कार्य करने की आवश्यकता पैदा करता है, जो बच्चों की सक्रियता को प्रोत्साहित और उनके परस्पर संबंधों का नियंत्रण करनेवाले अभिप्रेरकों की भूमिका अदा करते हैं। ऐसे में "पालन की कला" का सार ही इसमें निहित है कि सक्रियता के सफल परिणाम को उचित समय पर अधिक ऊंचा महत्त्व प्रदान किया जाये, ताकि व्यक्ति के जीवन का नियमन करनेवाले अधिक ऊंचे प्रकार के अभिप्रेरकों की ओर संक्रमण सुनिश्चित हो सके।

उदाहरणार्थ, स्कूली आयु के बच्चे को इस पूर्ण अवबोध होता है कि वयस्क आदमी के महत्त्वपूर्ण और सामाजिक रूप से उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन नाम की भी कोई चीज़ होती है। किंतु सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम सक्रियता में शामिल होने से ही ये "अवबोधित" अभिप्रेरक वस्तुतः सक्रिय अभिप्रेरकों में तब्दील होते हैं। "सक्रिय" नैतिक अभिप्रेरकों के निर्माण के लिए बच्चों की सक्रियता का ऐसा संगठन किया जाना चाहिए कि उनके स्वतः कार्य के लिए, सक्रिय रूप से सोचने, विभिन्न सामाजिक कार्यों की योजना बनाने, उन्हें क्रियान्वित करने और परिणामों पर विचार करने के लिए अनुकूलतम परिस्थितियां बन सकें। इस दृष्टि से स्कूली छात्र की संगठनात्मक और सामाजिक सक्रियता और आत्मानुशासन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। इस सक्रियता और आत्मानुशासन की प्रक्रिया में ही बच्चों के यथार्थ परस्पर संबंध बनते हैं, जो नैतिक, वैचारिक और राजनीतिक पालन का एक सबसे महत्त्वपूर्ण कारक हैं।

पालन की मनोवैज्ञानिक विधियां

मनोविज्ञान पालन की युक्तियों, साधनों और विधियों के मनोवैज्ञानिक पहलू की जांच में इस तथ्य को आधार मानकर चलता है कि

बच्चे पर प्रभाव पड़ता ही नहीं, वह खुद भी प्रभाव डालता है और नानाविध संबंधों में सक्रिय सहभागी होता है। इस प्रकार के उपागम में निम्न बातें ध्यान में रखनी होती हैं: १) विभिन्न आयु-वर्गों के बच्चों की मानसिक और वैयक्तिक विशेषताएं; २) बच्चा जिन समुदायों में शामिल होता है, उनकी विशेषताएं और उनकी सक्रियता का स्वरूप व अंतर्वस्तु, और ३) पालन की प्रक्रिया की ठोस परिस्थितियां।

बच्चों में व्यवहार और चेतना की एकता का विकास प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव की विविध विधियों से किया जाता है। उनमें एक प्रमुख स्थान नैतिक शिक्षा का है, जिसमें वैयक्तिक और सामूहिक वार्ताएं, व्याख्यान, वाद-विवाद, दर्शकों और पाठकों की गोष्ठियां, आदि विभिन्न तरीके इस्तेमाल किये जाते हैं, जो बच्चों को नैतिक सवाल उठाने व हल करने, अपना मत व्यक्त करने, साथियों के विचारों में रुचि लेने, आदि के लिए प्रेरित करते हैं।

सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सक्रियता के विविध रूपों के संगठन की विधियों पर और सामाजिक व्यवहार, नैतिक आदतें, आदि सिखाने की विधियों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। ऐसी विशेष स्थितियां, चाहे वे कृत्रिम ही क्यों न हों, बनायी जानी चाहिए, जिनमें कि "व्यवहार का व्यायाम" होता है (अ० स० मकारेंको), बच्चे नैतिक व्यवहार का अभ्यास करते हैं और इस तरह मेहनत-प्रेम, सामाजिक क्रियाशीलता, उत्तरदायित्व-वहन और अन्य मूल्यवान गुण सीखते हैं।

अध्यापक को नहीं भूलना चाहिए की बच्चा, खास तौर से किशोर, ढोंग, पाखंड और झूठ से बेहद नफ़रत करता है। जिसने एक बार भी किशोर को धोखा दे दिया, उसकी किसी भी बात का वह फिर कभी विश्वास नहीं करेगा।

बच्चों के साथ अध्यापक के सामान्य संबंधों का निर्माण बहुत हद तक बच्चों की सक्रियता तथा व्यवहार के मूल्यांकन की विधियों पर, पुरस्कार व दंड की विधियों पर निर्भर होता है। शाबाशी और सकारात्मक मूल्यांकन बच्चों में नयी स्फूर्ति भरते हैं, उन्हें आत्मपरिष्कार के लिए प्रेरित करते हैं। किंतु शाबाशी या प्रोत्साहन चयनात्मक नहीं

होने चाहिए। कुछ स्कूलों में बच्चों को केवल अच्छा पढ़ने के लिए पुरस्कृत किया जाता है, जबकि अन्य उपलब्धियों, विशेषतः सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम, खेलकूद, सृजनात्मक सक्रियता, आदि क्षेत्रों में प्राप्त उपलब्धियों की ओर यदा-कदा ही ध्यान दिया जाता है। अन्य लोगों, खासकर वयस्कों के मूल्यांकनों और अपनी सक्रियता के परिणामों के आधार पर बच्चे का **आत्ममूल्यांकन** बनता है, जो बड़े किशोरों और तरुणों की निगाह में बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाता है। आत्ममूल्यांकन बच्चे के व्यक्तित्व के विकास का काफ़ी बड़ा कारक और व्यवहार का नियामक है। आत्ममूल्यांकन उचित और यथार्थ अभिक्षमताओं के अनुरूप होना चाहिए। ऐसा आत्ममूल्यांकन अपनी सामर्थ्य तथा शक्ति को आलोचनात्मक ढंग से आंकने और आत्मविकास का समुचित संगठन करने की संभावना देता है। अपनी यथार्थ क्षमताओं को बढ़ा-चढ़ाकर अथवा घटाकर आंकने से नैतिक विकास में बाधा पड़ती है।

छात्र का आत्ममूल्यांकन चूंकि उसकी महत्त्वाकांक्षाओं के स्तर और व्यवहार को प्रभावित करता है, अतः अध्यापक को इस मूल्यांकन के स्वरूप पर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

भर्त्सना और दंड से संबंधित विभिन्न उपायों के प्रयोग में बड़े व्यवहार-कौशल की ज़रूरत पड़ती है। कड़ी से कड़ी कार्रवाई करते हुए भी बच्चे की आत्मगरिमा को ठेस नहीं पहुंचायी जानी चाहिए। याद रहे कि प्रोत्साहन की भांति कोई भी दंड तब तक कारगर नहीं हो सकता, जब तक कि वह सही न हो, बच्चे के व्यक्तित्व का आदर न करता हो और बाल समुदाय द्वारा समर्थित न हो। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि "बच्चे से ऐसी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि वह अनैतिक काम करने से डरकर नैतिक काम करे" (ल० स० विगोत्स्की)। छात्र के व्यवहार का समुदाय के व्यवहार और मत से "सामाजिक तालमेल" स्थापित करने को निर्णायक महत्त्व दिया जाना चाहिए।

दंड को सभी रोगों की रामबाण दवा मानना और सोद्देश्य संगठित पालन के ज़रिये व्यवहार को सुधारने की निरंतर कोशिश करने के बजाय दंड से काम लेना सर्वथा अनुचित है।

दंडात्मक उपाय के गैरज़िम्मेदाराना उपयोग का एक ज्वलंत उदाहरण कुछ स्कूलों में फ़ैशनों के विरुद्ध चलाया जानेवाला अभियान है। वास्तव में इसके बजाय बच्चों में सुरुचि जागृत की जानी चाहिए और इसमें सर्वाधिक सफल मॉडलों का प्रदर्शन, वाद-विवाद, खुली बहसें, गोष्ठियां, आदि अधिक सहायक हो सकती हैं।

पालन कार्य की प्रभाविता की कसौटी बच्चों का यथार्थ व्यवहार है। इसके मूल्यांकन में भी निर्णायक विभिन्न कार्रवाइयों का आयोजन और उनमें छात्रों के भाग लेने का स्वरूप और स्तर नहीं होता, बल्कि वे संबंध होते हैं, जो सक्रियता के दौरान उभरते हैं। इसलिए पालन संबंधी प्रभावों की विधियों में मुख्य कड़ी बच्चों की ऐसी बहुविध सक्रियताओं का आयोजन है, जो उनके बीच समाज के नैतिक मानकों के अनुरूप नाना प्रकार के संबंध बनाती हैं।

§६. पालन संबंधी प्रभावों की कारगरता

विज्ञान के विकास के आधुनिक स्तर पर पालन की प्रक्रिया का संगठन हर अध्यापक से न केवल बच्चों को "व्यक्तिगत तौर पर" जानने और उनके मानसिक विकास और व्यक्तित्व के गुणों के निर्माण में आनेवाले परिवर्तनों का अनुमान लगा लेने की, अपितु पालन संबंधी प्रयासों के परिणामों का तुरंत अध्ययन और अतिपुष्टि की व्यवस्था करने की भी अपेक्षा करता है।

कुछ वस्तुपरक कारणों से अध्यापक छात्रों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के सभी साधनों का उपयोग नहीं कर सकता। किंतु पालन संबंधी प्रभावों का संगठन करते हुए उसे बच्चे के व्यक्तित्व के विकास के नियमों और उसकी आयुगत तथा वैयक्तिक अभिक्षमताओं तथा संभावनाओं के ज्ञान का अवलंब अवश्य लेना चाहिए। अध्यापक को नहीं भूलना चाहिए कि बच्चा एक ऐसा अविभाज्य व्यक्तित्व है, जिसके अपने अभिप्रेरक और आवश्यकताएं हैं। अध्यापक को उसे उसकी गतिशीलता, परिवर्तनशीलता में देखना चाहिए। तभी वह उसके भावी विकास और व्यक्तित्व की प्रवृत्तियों का पूर्वानुमान लगा सकेगा। इसमें

वैयक्तिक उपागम की विशेष भूमिका है, जो एक ओर तो हर बच्चे के विकास की अनन्यता को ध्यान में रखता है और, दूसरी ओर, उसके व्यक्तित्व की मानसिक विशेषताओं के अनुरूप पालन के सामान्य लक्ष्य निश्चित करने की संभावना देता है। वैयक्तिक उपागम का अर्थ है बच्चे की आवश्यकताओं के स्वरूप, रुचियों, अन्य लोगों के प्रति, अपने प्रति तथा समुदाय के कार्यों के प्रति रवैये, आदि का पता लगाना और तदनुरूप आवश्यक कदम उठाना।

अध्यापक के लिए सबसे आसान विधि **प्रेक्षण** है, जो उसे बच्चों की जीवन सक्रियता की सहज परिस्थितियों में उनका अध्ययन करने की संभावना देता है। प्रेक्षण नियमित रूप से, सभी तरह की स्थितियों में और विशेष कार्यक्रम के आधार पर किया जाना चाहिए। उससे प्राप्त तथ्यों का, जो बच्चे की सक्रियता के विभिन्न पहलुओं, व्यवहार की विशेषताओं और मनःस्थितियों से संबंध रखते हैं, सामान्यीकरण आम तौर पर मनोवैज्ञानिक विवरण के रूप में किया जाता है।

मनोवैज्ञानिक विवरण एक विशिष्ट विधि और एक प्रकार की अनुस्मृति है, जो बच्चे के नैतिक विकास की झलक देती है। उसका लक्ष्य व्यक्तित्व का सभी पहलुओं से और उसकी सभी अभिव्यक्तियों में अध्ययन करना हो सकता है। ऐसी स्थिति में एक विशेष योजना अथवा कार्यक्रम के अनुसार सभी मुख्य कार्यों के प्रति बच्चे के रवैये, उन कार्यों की पूर्ति के स्वरूप, बच्चे के व्यवहार की विशिष्टताओं, अन्य लोगों से संबंधों, अभिक्षमताओं, रुचियों, आदि को अभिलिखित कर लिया जाता है। इससे बच्चे के विकास के मज़बूत और कमज़ोर पहलू मालूम करने और व्यक्तित्व सुधार के तरीके व पालन की विधियां निर्धारित करने में मदद मिलती है। किंतु एक अन्य प्रकार के मनोवैज्ञानिक विवरण की भी आवश्यकता होती है, जिसे समस्यामूलक विवरण कहते हैं। उसे अध्ययन के विषय के सही-सही निर्धारण के आधार पर तैयार किया जाता है और उसका संबंध बच्चे के व्यक्तित्व, सक्रियताओं, व्यवहार, अन्य लोगों से संबंधों, आदि के अलग-अलग पहलुओं से ही होता है।

विस्तृत और पालन की प्रक्रिया में आवश्यक अल्पकालिक समस्या-

मूलक विवरण लंबे समय तक नियमित रूप से तैयार किये जाने से बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण का सही-सही चित्र पाना, पालन प्रक्रिया को वांछित मोड़ देना, शैक्षणिक प्रभावों में संशोधन करना और इस तरह सारे ही मानसिक विकास की प्रक्रिया का नियमन करना संभव हो जाता है।

पालन की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष भाग लेनेवाला अध्यापक **प्रयोगात्मक वार्तालाप** जैसी मनोवैज्ञानिक अध्ययन विधि भी सफलतापूर्वक इस्तेमाल कर सकता है। किसी विशेष लक्ष्य को सामने रखकर किये गये वार्तालाप बच्चे के अभिप्रेरकों, संबंधों, दृष्टिकोणों तथा विश्वासों की विशेषताओं का पता लगाना संभव बनाते हैं। लक्ष्य और बच्चे की वैयक्तिक विशेषताओं के अनुसार वार्तालाप की अंतर्वस्तु और रूप में परिवर्तन करने के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि प्रश्न प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, दोनों प्रकार के हों। उदाहरण के लिए, "तुम्हें श्रम पसंद है?" – यह पूछने के बाद ३-४ तटस्थ प्रश्न पूछे जायें और फिर अप्रत्यक्ष प्रश्न किये जायें: "तुम्हारी राय में भावी समाज में श्रम कैसा होगा?", "क्या मशीन पूरी तरह मानव श्रम का स्थान ले लेगी?", आदि।

अध्यापक के लिए आपरिवर्तित समाजमितीय विधियों के इस्तेमाल का कितना महत्त्व है, यह सभी जानते हैं। उनकी मदद से बच्चों के परस्पर संबंधों की संरचना मालूम की जाती है। इस प्रकार के अध्ययन बाल समुदाय के साथ काम के आरंभिक चरण में बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं। मिसाल के लिए, "डेस्क पार्टनर का चयन" जैसे मामूली से प्रश्न पर पूछताछ करके बच्चों के एक दूसरे के प्रति रुझान, घृणा अथवा उदासीनता का पता लगाया जा सकता है।

पालन मनोविज्ञान में बच्चे के मानसिक विकास और व्यक्तित्व के निर्माण की विशेषताओं से संबंधित तथ्यों को लिखकर दर्ज कर लेने का भी बड़ा महत्त्व है। प्रविष्टियां दैनंदिनी के रूप में, संक्षिप्त, सभी महत्त्वपूर्ण तथ्यों से युक्त और ऐसी होनी चाहिए कि उनसे छात्र के वैयक्तिक गुणों के परिवर्तन तथा विकास की प्रवृत्तियों का अनुमान लग सके।

न० क० क्रूप्स्काया, अ० स० मकारेंको, व० अ० सुखोम्लीन्स्की और बहुत से अन्य लब्धप्रतिष्ठ सोवियत शिक्षाशास्त्रियों तथा अध्यापकों का अनुभव बताता है कि मनोवैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर छात्रों के व्यक्तित्व का अध्यवसायपूर्ण और नियमित अध्ययन शिक्षा और पालन के लिए कितना अधिक व्यावहारिक महत्त्व रखता है।

अध्याय १०

अध्यापक के व्यक्तित्व का मनोविज्ञान

सोवियत शिक्षा प्रणाली में अध्यापक का सर्वोच्च स्थान है। राज्य और समाज ने उसे उदीयमान पीढ़ी की शिक्षा और कम्युनिज़्म की भावना में पालन का सम्मानजनक और उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सौंपा है।

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की २६वीं कांग्रेस ने युवा पीढ़ी की शिक्षा और पालन में स्कूल की भूमिका पर जोर देते हुए उल्लेख किया था कि माध्यमिक स्कूल को अपने छात्रों को सामाजिक, वैज्ञानिक और तकनीकी विकास की आधुनिक अपेक्षाओं के अनुरूप सामान्य शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। उसे युवा समुदाय में मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्व-दृष्टिकोण और सोवियत देशानुराग तथा समाजवादी मातृभूमि की रक्षा के लिए तत्परता जैसी उदात्त भावनाओं का संपोषण करना चाहिए। स्कूल का कार्य है कि वह छात्रों का शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक तथा सौंदर्यात्मक, सभी तरह का सामंजस्यपूर्ण विकास सुनिश्चित करे और उन्हें वयस्क जीवन के लिए, सचेतन रूप से पेशे के चुनाव के लिए, श्रम और समाज-निर्माण में सक्रिय भाग लेने के लिए तैयार करे।

इसलिए अध्यापक की शिक्षा सक्रियता का मुख्य लक्ष्य है छात्रों को ज्ञान-विज्ञान के मूलतत्त्वों की जानकारी से सज्जित करना, उनमें कम्युनिस्ट विश्व-दृष्टिकोण, आत्मचेतना और अपने व्यवहार, अपने आचरण, जीवन-दिशा, आकांक्षाओं और कार्यों का वर्गीय दृष्टि से मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति संवर्धित करना, उनकी सामाजिक सक्रियता, ज्ञान की पिपासा और स्वतः ज्ञानार्जन की चाह को प्रोत्साहन देना और शिक्षा को समाजोपयोगी सक्रियता से संबद्ध करने की अदम्य लालसा जागृत करना।

अध्यापन कार्य एक सबसे कठिन कार्य है। इसके सफल निष्पादन के लिए आवश्यक है कि अध्यापक प्रकृति और समाज विषयक मार्क्स-वादी-लेनिनवादी सिद्धांत का गहन ज्ञान रखने के साथ-साथ चरित्रवान और दृढ़ कम्युनिस्ट हो, कि वह १) अपने विषय में ; २) संज्ञान सिद्धांत तथा शिक्षाविज्ञान में ; ३) विभिन्न संकल्पनाओं के बीच जो सूत्र और संबंध होते हैं, उन्हें उद्घाटित करने में ; ४) विभिन्न विषयों से संबंधित छात्र के ज्ञान को वैज्ञानिक दृष्टिकोणों की एक अविभाज्य प्रणाली में गूंथने में ; और ५) छात्र की संज्ञानमूलक सक्रियता, सामा-जिक क्रियाशीलता व स्वावलंबन के विकास के लिए जन सूचना व संप्रेषण के विभिन्न साधनों (साहित्य, सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन, आदि) का उपयोग करने में पारंगत हो।

§१. अध्यापकीय योग्यताएं और दक्षताएं

शिक्षण और पालन की प्रक्रिया का वैज्ञानिक ढंग से संचालन करने के लिए अध्यापक को अपने अध्यापन विषय, उसमें हुई नवीनतम प्रगतियों और अन्य ज्ञान-शाखाओं, जीवन तथा व्यवहार के साथ उसके संबंध को ही भली-भांति नहीं जानना चाहिए, अपितु अपना ज्ञान बच्चों को अंतरित करने में प्रवीण भी होना चाहिए। इसके बिना अच्छा अध्यापक नहीं बना जा सकता।

स्कूल में पढ़ाये जानेवाले हर विषय की, ज्ञान-विज्ञान के हर क्षेत्र की अपनी विशेषताएं, अपनी कठिनाइयां और अपनी मुख्य संज्ञान-विधि होती है। अतः हर विषय के अध्यापन की विशिष्ट, सुविकसित विधियां होनी चाहिए। इन विधियों का ज्ञान होने से अध्यापक यह सुनिश्चित कर सकता है कि छात्र विज्ञान के मूलतत्त्वों को और प्राकृ-तिक परिघटनाओं तथा सामाजिक जीवन के परस्पर संबंधों को भली-भांति समझ व आत्मसात् कर लेगा और प्राप्त ज्ञान का व्यवहार में और अपने व्यक्तित्व के निर्माण व विकास के लिए कुशलतापूर्वक इस्ते-माल करेगा।

शिक्षण और पालन की प्रभाविता सबसे पहले छात्र के ज्ञान व

सोद्देश्य बौद्धिक क्रियाओं की आंतरिक एकता पर और वस्तुजगत व लोगों के प्रति और कार्य के कर्त्ता के रूप में स्वयं अपने प्रति भी बच्चे के सही ढंग से बने हुए दृष्टिकोणों पर निर्भर होती है। अतः अध्यापक का कार्य छात्र को ज्ञान का अंतरण मात्र नहीं हो सकता। उसे छात्रों की बौद्धिक सक्रियता का संचालन, संशोधन और निदेशन भी करना चाहिए। ऐसी हालत में ही वह एक व्यक्ति के रूप में बच्चे का सर्वांगीण विकास और पालन सुनिश्चित कर सकता है।

शिक्षण की प्रक्रिया में छात्रों की बौद्धिक सक्रियता के निदेशन की प्रभाविता सूचना के स्रोतों (छात्रों को दिये जानेवाले ज्ञान की अंतर्वस्तु) को ही नहीं, अपितु बौद्धिक क्रियाओं की सारी प्रणाली को भी सुव्यवस्थित रूप देने पर निर्भर होती है। बौद्धिक क्रियाओं की इस प्रणाली को ठोस कार्यभारों की पूर्ति में सहायक होना चाहिए। केवल तभी छात्र शिक्षा सक्रियता के सचेतन और स्वयं सोचनेवाले कर्त्ता के रूप में कार्य कर सकता है।

यही कारण है कि अध्यापक को न केवल अपने क्षेत्र, अपने विषय का अच्छा ज्ञान होना चाहिए, अपितु उसमें इस ज्ञान को छात्रों के सामने प्रस्तुत करने की योग्यता और दक्षता भी होनी चाहिए। उसे जानना चाहिए कि छात्रों को एकाग्रचित्त कैसे बनाया जाता है और उनकी चिंतन-शक्ति तथा सामाजिक महत्त्ववाले मूल्यों का विकास कैसे किया जाता है।

अध्यापक मे ऐसी अध्यापन योग्यता और दक्षता का होना कि जो शिक्षा सक्रियता में हर छात्र की सहभागिता सुनिश्चित कर सके, छात्र की शिक्षा, बौद्धिक विकास और पालन के फलदायी होने की अनिवार्य शर्त है। अध्यापक के इस प्रकार्य में ही छात्र के व्यक्तित्व पर उसके व्यक्तित्व के शैक्षिक प्रभाव की शक्ति व्यक्त होती और साकार बनती है। अध्यापन कार्य से संबंधित योग्यताओं और दक्षताओं का अर्जन अध्यापक को अपने पेशेवर प्रशिक्षण के दौरान ही कर लेना चाहिए।

किसी एक विषय को ही पढ़ानेवाले अध्यापक में जिन सामान्य अध्यापकीय योग्यताओं और दक्षताओं का होना ज़रूरी है, उनमें से मुख्य निम्न हैं।

सूचना-संप्रेषण संबंधी योग्यताएं और दक्षताएं :

वैज्ञानिक सामग्री को अध्यापनयोग्य सामग्री का रूप देना ;

मुख्य शैक्षिकीय तत्त्वों (संकल्पनाओं, योग्यताओं, मान्यताओं) का निर्धारण और उनका विकास करने तथा छात्र के ज्ञान का अंग बनाने के तरीकों का निरूपण करना ;

अपने विषय की दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त विधियों का न केवल उपयोग, अपितु उन्हें परिष्कृत भी करते जाना ;

अध्यापन के तकनीकी और श्रव्य-दृश्य साधनों का प्रयोग करना ;

कार्यक्रमबद्ध शिक्षण के तत्त्वों का प्रयोग करना ;

बच्चों से उनके लिए बोधगम्य भाषा में बोलना, अपने विचारों को तर्कसंगत व स्पष्ट ढंग से और संक्षेप में व्यक्त करना ;

आवश्यकता पड़ने पर विचारों को स्पष्ट करने के लिए सरल आरेखों, तालिकाओं, आदि का सहारा लेना ;

प्रतिपुष्टि, अर्थात छात्रों द्वारा आत्मसात्कृत ज्ञान और योग्यताओं की जांच, मूल्यांकन, संशोधन और दृढ़ स्मरण सुनिश्चित करना ;

बच्चों को संग्रहालय, प्रकृति, कल-कारखाने, फ़ार्म, आदि दिखाने ले जाना, शैक्षिक वर्कशापों और स्कूल के प्रायोगिक खेतों में व्यावहारिक काम का अनुभव देना।

संगठनात्मक योग्यताएं और दक्षताएं :

छात्रों की पढ़ाई और श्रम में गहन, स्थायी रुचि जागृत करना ; उन्हें पढ़ाई के तरीके सिखाना ; अपने काम की जगह स्वच्छ, सुव्यवस्थित रखना और पुस्तकीय सामग्री व उपकरणों से काम लेना सिखाना ;

व्यावहारिक कृत्यकों की पूर्ति में अपने ज्ञान का उपयोग करना सिखाना ;

छात्र समुदाय के विकास का निदेशन करना, उसकी शक्ति का समुचित वितरण करना, छात्रों को सबके साझे कार्य की पूर्ति के लिए संगठित करना ; काम की सुस्पष्ट योजना बनाना, निगरानी रखना और निष्पक्ष मूल्यांकन करना।

विकासकारी योग्यताएं और दक्षताएं :

अध्यापन में प्रेक्षण विधियों और विभिन्न स्कूली प्रयोगों से लाभ उठाना ;

अध्यापन में छात्रों के शारीरिक व मानसिक विकास के अनुरूप, अध्यापनशास्त्र व स्वास्थ्यविज्ञान के अनुरूप बहुविध विधियों का प्रयोग करना ;

शिक्षण की प्रक्रिया में, बौद्धिक क्रियाओं की प्रणाली के निर्माण तथा परिवेश के साथ संबंधों के निर्माण की प्रक्रिया में छात्रों की बौद्धिक सक्रियता का संचालन करना ;

शिक्षण की प्रक्रिया में ऐसी समस्यामूलक स्थितियां बनाना, जिनमें बच्चे से स्वयं सोचने, वस्तुओं और यथार्थ की परिघटनाओं के बीच कार्य-कारण संबंधों का निरूपण करके बताने की अपेक्षा की जाती है ;

छात्रों के सामने ऐसे प्रश्न, समस्याएं उठाना, जिनके लिए पूर्वार्जित ज्ञान के प्रयोग, तुलनाओं, स्वयं निष्कर्ष निकालने और अधिकतम संज्ञानमूलक सक्रियता की आवश्यकता होती है ;

छात्रों का वाक्कौशल विकसित करना।

मार्गदर्शनकारी योग्यताएं और दक्षताएं :

वैज्ञानिक विश्व-दृष्टिकोण और प्रकृति व श्रम के प्रति कम्युनिस्ट रवैये के निर्माण में सहायता देना ;

छात्रों को शिक्षा सक्रियता, ज्ञान-विज्ञान तथा उत्पादक श्रम में गहन रुचि लेने और समाज की आवश्यकता तथा अपने वैयक्तिक रुझानों व क्षमताओं के अनुरूप पेशा चुनने के लिए प्रोत्साहित करना ;

छात्रों को कम्युनिस्ट समाज के उदात्त नैतिक आदर्शों की भावना में मानवतावादी, सौंदर्यात्मक, वैचारिक और राजनीतिक शिक्षा देना।

अध्यापक में उपरोक्त सामान्य अध्यापकीय योग्यताओं व दक्षताओं के अलावा बहुत सी अन्य रचनात्मक, संगठनात्मक, संप्रेषणात्मक और अन्वेषणात्मक योग्यताएं और दक्षताएं भी होनी चाहिए, ताकि वह छात्रों की शिक्षा, पालन तथा विकास से पैदा होनेवाली बहुविध समस्याओं को सृजनात्मक ढंग से हल कर सके।

विषयाध्यापक की सक्रियता की संरचना की अपनी विशिष्टता होती है, जिसे उसके ज्ञान, योग्यताओं और दक्षताओं की उपज कहा जा सकता है। शिक्षा तथा पालन प्रक्रिया का अधिकतम कारगर बनना काफ़ी हद तक इस विशिष्टता पर निर्भर होता है।

व्यावहारिक क्रियाकलाप में अध्यापक सदा एक व्यक्ति के रूप में,

सामाजिक प्रगति के सचेतन और सक्रिय वाहक के रूप में काम करता है। इसलिए उसके वैयक्तिक गुणों, अभिक्षमताओं, नैतिक चरित्र, विश्वासों और व्यवहार-कुशलता का बहुत ही बड़ा महत्त्व है।

§२. अध्यापक के व्यक्तित्व की पेशा संबंधी विशेषताएं

अध्यापक के व्यक्तित्व की संरचना में पेशे की दृष्टि से महत्त्व रखनेवाली कुछ ऐसी बातें होती हैं, जो उसके व्यक्तित्व के निर्माण, उसके मूल्य-अभिविन्यासों पर, शिक्षण व पालन की प्रक्रिया में उसकी क्रियाशीलता तथा उपक्रमशीलता की निर्धारी मानसिक अभिव्यक्तियों के विकास पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती हैं।

अध्यापक के व्यक्तित्व की विशेषताएं

यह पाया गया है कि अध्यापक वास्तविक सफलता और अपने कार्य के अपार सामाजिक महत्त्व की मान्यता तभी प्राप्त कर सकता है, जब उसमें गहन चेतना, नैतिक अकलुषता, सिद्धांतनिष्ठा और सुसंस्कृतता जैसे उच्च मानवीय गुण हों, उसका ज्ञान गहन तथा बहुमुखी हो, अध्यापन कार्य में उसकी प्रगाढ़ रुचि हो, उसे बच्चों से प्रेम हो और बाल मनोविज्ञान में तथा शिक्षण और पालन के सिद्धांत और व्यवहार में वह पारंगत हो।

अध्यापकीय सक्रियता के दौरान अध्यापक अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को प्रकट ही नहीं करता, उनका निर्माण व विकास भी करता है और उसे अपने पेशे के सामाजिक व वैयक्तिक महत्त्व का जितना ही ज़्यादा अहसास होगा, उसका व्यक्तित्व उतना ही सुविक-सित तथा सर्वांगीण बन सकेगा। अध्यापक के व्यक्तित्व के निर्माण के लिए उसकी सक्रियता के दौरान अध्यापक समुदाय में बननेवाले अंतर्व्य-क्ति संबंधों का बहुत बड़ा महत्त्व होता है।

अध्यापक की उच्च क्रियाशीलता और अध्यापन-कौशल काफ़ी हद तक उसके सामाजिक व व्यावसायिक अभिविन्यास पर, उसके नागरिक और राजनैतिक गुणों के विकास पर, अपने व्यवहार और

कार्यों के लिए उत्तरदायी होने के बोध पर और इसपर निर्भर होते हैं कि कम्युनिस्ट आदर्शों की भावना में वर्धमान पीढ़ी की शिक्षा व पालन की ओर लक्षित अध्यापक समुदाय के सृजनात्मक कार्य में वह कहां तक भाग लेता है।

अपनी सामाजिक भूमिका, सामाजिक दायित्व और सहकर्मियों के साथ वैचारिक एकता का गहन बोध अध्यापक के व्यक्तित्व में लक्ष्यनिष्ठा, अनुशासनबद्धता, संयम, दृढ़संकल्प, कठिनाइयों से न डरना और कामकाजीपन जैसे गुणों के विकास के लिए आवश्यक आंतरिक परिस्थितियां उत्पन्न करता है।

अध्यापकीय अभिक्षमताएं, उनकी संरचना और विकास

अध्यापक का शिक्षण और पालन में उच्चस्तरीय कौशल प्राप्त करना उसके वैयक्तिक गुणों और विशेषतः उसकी अध्यापकीय अभि-क्षमताओं पर निर्भर होता है। मनोविज्ञान में अध्यापकीय अभिक्षमता शिक्षण व पालन मे उच्च परिणाम पाने के लिए आवश्यक गुणों को कहा जाता है।

स्कूल में पढ़ाये जानेवाले विभिन्न विषयों के अध्यापकों की सक्रियता की अंतर्वस्तु और संरचना के अध्ययन से स्पष्ट है कि अध्यापकीय अभिक्षमताओं का विकास अध्यापकीय योग्यताओं और दक्षताओं से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। इन योग्यताओं और दक्षताओं को सीखने और विभिन्न स्थितियों में प्रयोग में लाने के दौरान अध्यापकीय अभि-क्षमताएं ऐसी व्यक्तिपरक (अविभाज्य) निर्मितियों के रूप में प्रकट और विकसित होती हैं, जो अध्यापक के सारे कार्य की सफलता सुनिश्चित करती हैं।

अध्यापक की सक्रियता का अध्ययन करके मनोविज्ञानवेत्ता इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि अध्यापकीय अभिक्षमताएं शिक्षण और पालन की अपेक्षाओं को पूरा करनेवाली अध्यापक के व्यक्तित्व की विशेषताओं का प्रतिबिंब होती हैं। वे इन अभिक्षमताओं को निम्न कोटियों में बांटते हैं:

१. **शैक्षिकीय अभिक्षमताएं**, जो अध्यापक को शिक्षण के सामान्य

नियमों की समझ के आधार पर छात्रों को विभिन्न प्रकार का ज्ञान व दक्षताएं सिखाने की विधियां सफलतापूर्वक निर्धारित करने की संभावना देती हैं। वे सामग्री का सुनियोजन व पुनर्गठन करने, उसे छात्रों के लिए बोधगम्य बनाने, सृजनात्मक ढंग से पढ़ाने, बच्चों की चिंतन-शक्ति का विकास करने और उनमें स्वतंत्र रूप से कार्य करने की आदत डालने में अध्यापक की मदद करती हैं।

२. **रचनात्मक अभिक्षमताएं**, यानी जो छात्र के व्यक्तित्व को उभारने, अध्यापक के कार्य के परिणामों और विभिन्न स्थितियों में छात्र के व्यवहार का पूर्वानुमान लगाने में सहायक होती हैं।

३. **प्रत्यक्षज्ञान-अभिक्षमताएं**, जो बच्चे की मानसिकता और किसी दत्त क्षण में उसकी मनःस्थिति को ठीक से समझने में सहायक होती हैं। इनमें अध्यापक के ध्यान की विशेषताएं भी आ जाती हैं।

४. **अभिव्यंजनात्मक अभिक्षमताएं**, यानी अपने विचारों, ज्ञान, विश्वासों और भावनाओं को शब्दों और हाव-भाव द्वारा व्यक्त करने की प्रतिभा।

५. **संप्रेषणात्मक अभिक्षमताएं**, जो बच्चों के साथ समुचित परस्पर संबंध कायम करने में सहायक होती हैं (जैसे व्यवहार कौशल, वैय-क्तिक व आयुगत विशेषताओं को ध्यान में रखना, आदि)।

६. **संगठनात्मक अभिक्षमताएं।**

इसके बावजूद कि व्यक्तित्व और सक्रियता को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता और स्वयं व्यक्तित्व भी एक अविभाज्य निर्मिति है, अध्यापक की मानसिक विशेषताओं, संबंधों और क्रियाओं की जटिल संहति में से एक, मुख्य, कड़ी फिर भी निर्दिष्ट की ही जानी चाहिए। यह कड़ी है प्रत्यक्षज्ञान-अभिक्षमताएं। वे अध्यापक द्वारा बच्चे को सही ढंग से समझा और देखा जाना सुनिश्चित करती हैं। ऐसी अभिक्षमता होने पर ही अध्यापक शिक्षा तथा पालन की प्रक्रिया का सही संचालन कर सकता है, छात्रों की रुचियों को ठीक से समझ व ध्यान में रख सकता है और उनकी आवश्यकताओं की तुष्टि, उनके साथ उचित परस्पर संबंधों की स्थापना और उनके विकास व शिक्षण का कुशलतापूर्वक नियमन व संगठन कर सकता है।

अध्यापकीय अभिक्षमताएं सफल अध्यापकीय सक्रियता की शर्त ही नहीं, उसका परिणाम भी हैं। वे अध्यापक की मानसिक विशेषताओं, संबंधों और क्रियाओं के सामान्य दायरे में प्रकट, निर्मित और विकसित होती हैं। वे उसके मस्तिष्क, भावजगत और इच्छाशक्ति की कई विशेषताओं का संश्लेषण होती हैं।

अध्यापकीय सक्रियता की कारगरता काफ़ी हद तक अध्यापक के वाक्-कौशल पर भी निर्भर करती है। अध्यापक का हर समय इतनी अधिक, नयी-नयी और विविध सूचनाओं से साबिका पड़ता है कि उसे जल्दी आत्मसात् और अपनी सक्रियता में इस्तेमाल करने के लिए उसकी वाक्-प्रतिभा सुविकसित होनी चाहिए। मनोवैज्ञानिक अध्ययन यह भी दिखाते हैं कि छात्रों के सीमित शब्द-भंडार, अशुद्ध शब्द-प्रयोगों और निम्न सांस्कृतिक स्तर का एक कारण अध्यापक की भाषा की अर्थगत और शैलीगत अशुद्धियां होती हैं।

अध्यापक की वाक्-सक्रियता में उसके व्यक्तित्व व चरित्र की विशेषताएं, उसकी मनःस्थिति तथा अभिव्यंजनात्मक अभिक्षमताएं और अन्य लोगों के साथ संबंधों का स्वरूप प्रतिबिंबित होते हैं। इस प्रकार छात्रों पर अध्यापक के व्यक्तित्व का प्रभाव काफ़ी हद तक उसकी वाक्-समृद्धि और संवेगात्मक अभिव्यंजकता पर निर्भर होता है।

§३. छात्र के व्यक्तित्व के निर्माण पर अध्यापक के व्यक्तित्व का प्रभाव

प्रगतिशील शिक्षाशास्त्रियों और सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं ने बच्चों के शिक्षण और पालन में अध्यापक के व्यक्तित्व की भूमिका पर सदा ही ज़ोर दिया है।

अ० इ० गेर्त्सेन ने कहा था कि बच्चे पर अध्यापक के ज्ञान का ही नहीं, उसकी व्यक्तित्व और उसके आत्मिक गुणों का भी प्रभाव पड़ता है। क० द० उशीन्स्की ने भी यह विचार व्यक्त किया था, जिनकी धारणा थी कि शिक्षा में सब कुछ शिक्षक के व्यक्तित्व पर आधारित होना चाहिए और शिक्षा में कोई भी नियमावली और कार्यक्रम शिक्षक के व्यक्तित्व का स्थान नहीं ले सकते।

वास्तव में शिक्षा के अलावा मानव सक्रियता का ऐसा और कोई क्षेत्र नहीं है, जहां कि कर्त्ता के निजी गुण, विश्व-दृष्टिकोण, विश्वास, धैर्य, आत्मसंयम और समुदाय पर असर डालने और अपने पीछे ले चलने की योग्यता सक्रियता के परिणामों के लिए इतना अधिक महत्त्व रखते हों। अध्यापक का व्यक्तित्व बच्चे के मस्तिष्क, भावनाओं और इच्छा-शक्ति पर, उसके जीवन पर अपनी बहुत ही प्रबल छाप छोड़ता है। छात्र के जीवन पर अध्यापक के व्यक्तित्व का प्रभाव स्कूल की समाप्ति के बाद भी बना रहता है।

अध्यापक के व्यक्तित्व के अपार नैतिक प्रभाव की जड़ें मनुष्य की और अध्यापकीय सक्रियता के दौरान बननेवाले मानवीय संबंधों की प्रकृति में ही निहित हैं।

समाजवादी समाज में अध्यापक की सक्रियता और छात्र की सक्रियता, दोनों का सामान्य उद्देश्य होता है और दोनों ही मिल-जुलकर, शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच अटूट संबंध बनाये रखते हुए संपन्न की जाती हैं। इसलिए यह अस्वाभाविक नहीं है कि सोवियत शिक्षा प्रणाली में अध्यापकीय सक्रियता के परिणाम छात्रों की सफलता से आंके जाते हैं। किंतु इस एकीभूत प्रक्रिया में अध्यापक और छात्र, दोनों की क्रियाओं के स्वरूप अपने मनोवैज्ञानिक सार की दृष्टि से एकसमान नहीं हैं और उनकी अपनी अलग-अलग विशिष्टताएं होती हैं। छात्रों की सक्रियता ज्ञान-विज्ञान के मूलतत्वों के सक्रिय अवबोधन व आत्मसात्करण, योग्यताओं व दक्षताओं को सीखने और जीवन तथा श्रम के लिए अपने को तैयार करने की ओर लक्षित होती है। इस सक्रियता के परिणाम सबसे पहले छात्रों के ही संज्ञानमूलक प्रयासों तथा स्वावलंबन पर, स्वयंशिक्षा तथा आत्मविकास के लिए उनकी तैयारी व अभिक्षमता पर और दृढ़-निश्चय पर निर्भर होते हैं। किंतु ये गुण सभी छात्रों में पर्याप्त मात्रा में नहीं पाये जाते। इसलिए अध्यापक द्वारा उनकी हर कदम पर सहायता करना, उनका अध्यापक के निरंतर संसर्ग में आना बहुत ज़रूरी है।

अध्यापक का कार्य शिक्षा सक्रियता के निदेशन व संचालन की ओर, बच्चों द्वारा ज्ञान का आत्मसात्करण किये जाने और उनके मन में दृढ़ विश्वासों के बीज बोये जाने की ओर लक्षित होता है।

शिक्षा सक्रियता की अंतर्वस्तु और अध्यापक व छात्रों के परस्पर संबंधों की अंतर्वस्तु के अनुरूप छात्रों की ग्रहणशीलता और, फलस्वरूप, संज्ञानात्मक क्रियाशीलता भी बदलती जाती हैं। यदि अध्यापक और छात्रों के बीच अच्छे संबंध होते हैं, तो अध्यापक से पायी जानेवाली सूचना छात्र के लिए व्यक्तिगत महत्त्व ग्रहण कर लेती है।

शिक्षण की प्रक्रिया में अध्यापक और छात्रों के बीच संबंध कैसे हों कि उनसे छात्रों को उनकी शिक्षा सक्रियता में और अध्यापक को छात्रों की शिक्षा व पालन में मदद मिल सके? समीचीन संबंध केवल उन्हें कहा जा सकता है, जो बच्चे के प्रति आशावादी, मानवतावादी दृष्टिकोण पर आधारित हों। तभी अध्यापक और छात्रों के बीच परस्पर आदर की भावना और वे स्वस्थ परस्पर संबंध हो सकते हैं, जो अध्यापकीय सक्रियता की सफलता सुनिश्चित करते हैं।

सोवियत शिक्षा प्रणाली अध्यापक से हर छात्र पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देने, छात्रों के साथ संबंधों में खरा और निष्कपट बनने, उनकी मानसिक विशेषताओं से निदेशित होने और उन्हें संकल्पशील व चरित्रवान बनाने की अपेक्षा करती है। अध्यापक का प्रत्येक बच्चे और समग्र बाल समुदाय के प्रति संवेदनशील सहानुभूतिपूर्ण रवैया अध्यापक और गुरु के रूप में उसकी प्रतिष्ठा को बच्चों की नज़रों में और अधिक बढ़ा देता है।

परस्पर संपर्क की प्रक्रिया में बच्चों के प्रति अध्यापक के रवैये का स्वयं अध्यापक के प्रति बच्चों के रवैये पर अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ता है। यह काफ़ी हद तक शिक्षा और पालन की प्रक्रिया में अध्यापक और बच्चों के बीच बननेवाले संबंधों पर निर्भर करता है कि अध्यापक की सक्रियता फलप्रद सिद्ध होगी अथवा नहीं।

§४. अध्यापकीय व्यवहार-कौशल और नैतिकता के मनोवैज्ञानिक आधार

बच्चों से निरंतर संपर्क अध्यापक से बड़े व्यवहार-कौशल की अपेक्षा करता है, जो कड़ाई, संवेदनशीलता, न्यायपरकता, मानवी-

यता, आशावाद, दृढ़ता, धैर्य और आत्मसंयम के समन्वय पर आधारित होता है।

अध्यापकीय व्यवहार-कौशल और उसका महत्त्व

अध्यापकीय व्यवहार-कौशल अध्यापक के व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण और उसकी अध्यापकीय अभिक्षमताओं की एक ज्वलंत अभिव्यक्ति है। इसके अभाव में प्रायः अनुभवी अध्यापक भी छात्रों की नज़रों में अपनी प्रतिष्ठा से हाथ धो बैठते हैं। युवा अध्यापक के मामले में तो अध्यापकीय व्यवहार-कौशल का अभाव उसके आत्म-विश्वास के डगमगाने और अध्यापन के पेशे से निराश हो जाने का कारण बन जाता है।

अध्यापकीय व्यवहार-कौशल का सबसे मुख्य घटक है अध्यापक का छात्रों और सारे छात्र समुदाय के प्रति सुविचारित और संवेदनशील रवैया और ऐसे निष्कर्षों तथा निर्णयों के मामले में सतर्कता, जो छात्र के अहं को छू सकते हों, उसके आत्ममूल्यांकन को घटा सकते हों और उसपर समुदाय के सकारात्मक प्रभाव को निष्क्रिय कर सकते हों। अध्यापकीय व्यवहार-कौशल अध्यापक के दैनंदिन काम में और उन स्थितियों में व्यक्त होता है, जब उसे बच्चों की शैक्षिक प्रगति को आंकना पड़ता है।

अध्यापक द्वारा किये जानेवाले मूल्यांकन का छात्र की सक्रियता पर बड़ा प्रभाव पड़ता है और इसलिए उसे छात्र के ज्ञान, योग्यता तथा दक्षता के वास्तविक स्तर का और श्रम के प्रति उसके रवैये का पूरा-पूरा प्रतिबिंबन करना चाहिए। ज्ञान का सही मूल्यांकन छात्र को अपनी उपलब्धियां जानने और अपने काम के मज़बूत व कमज़ोर पक्ष पहचानने की संभावना देता है। गलत मूल्यांकन छात्र की मनःस्थिति पर, आत्मचेतना पर, संवेगों तथा इच्छा-शक्ति के विकास पर और पढ़ने व मेहनत करने के लिए मानसिक तत्परता पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

छात्रों के प्रति अध्यापकों के बर्ताव की छात्र के ज्ञान व व्यवहार के मूल्यांकन में बहुत बड़ी भूमिका होती है। अच्छा अध्यापक इस

मामले में सदा सतर्क रहता है कि किसी छात्र से कब और किन परिस्थितियों में कुछ पूछना है और किस रूप में उसके काम के मूल्यांकन को व्यक्त करना है।

कुछ अध्यापक छात्रों के साथ संपर्क के इस सबसे महत्त्वपूर्ण उसूल को भूल जाते हैं कि मांग तो करो, किंतु छात्र की गरिमा को ठेस पहुंचाये बिना। फलस्वरूप प्रायः टकराव पैदा हो जाते हैं, जिसके लिए दोषी अध्यापक भी हो सकता है। अध्यापक को कड़ाई दिखाने के साथ-साथ सदा न्यायपरक, सदाशयतापूर्ण भी होना चाहिए और छात्र की गरिमा को किसी प्रकार ठेस नहीं पहुंचानी चाहिए। अनुभव दिखाता है कि बच्चे कठोर अध्यापकों को पसंद तो करते हैं, किंतु केवल उन्हें, जो उनसे आदरपूर्वक पेश आते हैं और उनके अहं, आत्म-सम्मान और गरिमा की अवहेलना नहीं करते हैं।

छात्र उन अध्यापकों का आदर करते हैं और उनके द्वारा किये गये मूल्यांकन को महत्त्व देते हैं, जो अपने विषय को भली-भांति जानते हैं। छात्रों का आत्ममूल्यांकन ऐसे अध्यापक के मूल्यांकन से प्रायः काफ़ी मेल खाता है। ऐसे अध्यापक द्वारा किया जानेवाला मूल्यांकन उन्हें अपनी शिक्षा सक्रियता और व्यवहार में सही दिशा चुनने में मदद देता है।

छात्रों के लिए सहपाठियों द्वारा किये जानेवाले मूल्यांकन का बड़ा महत्त्व होता है। इसलिए अध्यापक जब कक्षा की उपस्थिति में किसी बच्चे के ज्ञान अथवा व्यवहार के बारे में कोई राय प्रकट करता है, तो उसे विशेषतः सतर्क रहना चाहिए और कड़ाई दिखाने के साथ-साथ संवेदनशील और लिहाज़ रखनेवाला भी होना चाहिए।

अध्यापक को तेजी से बदलती हुई स्थिति को तुरंत भांप लेने, उसे सही-सही आंकने और शैक्षिक दृष्टि से सही और आवश्यक निर्णय लेने में समर्थ होना चाहिए। यह कठिन नहीं है, किंतु इसके लिए उसे बच्चों के कार्यों, हरकतों को ठीक-ठीक समझना और आंकना और उनके कारणों को मालूम करना ही नहीं आना चाहिए, बल्कि उसके स्वभाव में सलीका, धैर्य और संयम जैसे गुण भी होने चाहिए। यह अध्यापकीय व्यवहार-कौशल की एक अनिवार्य पूर्वापेक्षा है।

अध्यापक यदि व्यवहार-कौशल के नियमों का पालन और छात्रों के व्यक्तित्व का आदर करता है, तो उसका उनके सामने गुस्सा दिखाना, हर्षित होना, स्नेह प्रदर्शन करना, आदि भी लाभकर और कभी-कभी तो शैक्षिक प्रभाव की दृष्टि से आवश्यक हो सकते हैं, क्योंकि छात्रों की नज़र में उसके ये संवेग किसी खास हरकत या अध्यापन स्थिति के संबंध में उसकी प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया के ही परिचायक होंगे। किंतु अध्यापकीय व्यवहार-कौशल के अभाव में उसका ऐसे संवेगों का प्रदर्शन छात्रों के साथ सामान्य संबंधों के विकास को गंभीर क्षति पहुंचायेगा।

अध्यापकीय व्यवहार-कौशल की बदौलत अध्यापक जानता है कि उसे छात्र से कहां बात करनी चाहिए (साथियों अथवा अभिभावकों की उपस्थिति में, अकेले में, कक्षा में, आदि)। वह उसे इसका सही फ़ैसला करने की भी संभावना देता है कि छात्र से उसकी किसी हरकत के बारे में तुरंत, यानी वह हरकत किये जाने के एकदम बाद ही बात की जाये अथवा कुछ ठहरकर, ताकि छात्र स्वयं उसके बारे में सोच-विचार कर सके, क्योंकि बहुत से बच्चों को अध्यापक की विलंबित प्रतिक्रिया और मूल्यांकन अपने व्यवहार और क्रिया के बारे में सोचने और खुद ही उन्हें आंकने के लिए प्रेरित करते हैं।

छात्रों के संबंध में अध्यापक के व्यवहार-कौशल की अभिव्यक्ति काफ़ी हद तक उसकी अपनी नैतिक शिक्षा के स्तर पर और छात्रों के साथ संबंधों में अध्यापकीय नैतिकता के नियमों के पालन पर निर्भर करती है। जो अध्यापक अनावश्यक कड़ाई बरतता है, न्यायपरक नहीं होता, छात्र उसके नैतिक गुणों को संदेह की नज़रों से देखने लगते हैं। इससे न केवल उसकी प्रतिष्ठा घटती है, अपितु शिक्षा और पालन के कार्य पर कुप्रभाव भी पड़ता है।

अध्यापक और छात्रों के बीच स्वस्थ, आदरपूर्ण संबंधों के विकास के लिए अध्यापक का छात्रों की रुचियों तथा आवश्यकताओं को समझना और छात्रों का अध्यापक की अपेक्षाओं को समझना बहुत ज़रूरी है। बहुत बार उनके परस्पर संबंधों के ज़रा सा बिगड़ने से ही शिक्षा व पालन की सारी प्रक्रिया गड़बड़ा जाती है और छात्र के व्यक्तित्व पर अध्यापक के व्यक्तित्व का समुचित प्रभाव नहीं पड़ पाता। इसलिए

अध्यापकीय नैतिकता के नियमों का पालन अध्यापक की सफल सक्रियता की एक अनिवार्य शर्त है।

अध्यापकों के परस्पर संबंध

शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें सारे अध्यापक समुदाय का संयुक्त सृजनात्मक योगदान होता है। अध्यापक समुदाय का सुचारु, सुविचारित ढंग से काम करना और अध्यापकों के बीच साझे नैतिक मूल्यों और परस्पर आदर पर आधारित संबंध होना स्कूल के सफल कार्य के लिए बहुत ही जरूरी है। अध्यापकों में नैतिक मान्यताओं के बारे में एकता का अभाव, उनके काम का सामंजस्यपूर्ण न होना और हर अध्यापक का छात्रों से अलग-अलग अपेक्षाएं करना वर्धमान पीढ़ी के शिक्षण और पालन में गंभीर बाधाएं उत्पन्न करते हैं।

अध्यापक समुदाय यदि सोद्देश्य और सुगठित ढंग से काम करता है, तो सभी अध्यापक स्कूल के कार्य के परिणामों के लिए अपने को समान रूप से उत्तरदायी समझते हैं। अ० स० मकारेंको ने बारंबार इस बात पर बल दिया था कि साझे लक्ष्यों और साझे नैतिक मूल्यों से प्रेरित सुगठित अध्यापक समुदाय ही बच्चों को समुचित शिक्षा दे सकता है और उनके व्यक्तित्व का समुचित निर्माण कर सकता है।

छात्र के व्यक्तित्व का निर्माण एकाकी तौर पर, सारे अध्यापक समुदाय के उसमें हिस्सा लिये बिना नहीं किया जा सकता है। अध्यापक वास्तविक प्रतिष्ठा और प्रभाव तभी अर्जित कर सकता है, जब स्कूल के सभी अध्यापकों के बीच उच्च नैतिक संबंध हों।

अध्यापकीय सक्रियता के लिए अध्यापक समुदाय में अनुकूल वातावरण का होना बहुत महत्त्व रखता है। समुदाय में और सामूहिक रूप से काम करने की योग्यता अध्यापकीय सक्रियता की एक अनिवार्य पेशा संबंधी शर्त है। मकारेंको ने लिखा था कि "जहां अध्यापक एक समुदाय के रूप में गठित नहीं होते और समुदाय एक ही योजना, एक ही मत और बच्चे के प्रति एक ही उपागम के अनुसार काम नहीं करता, वहां शिक्षा कार्य जैसी कोई चीज नहीं हो सकती।"

अनुभव दिखाता है कि अध्यापक समुदाय में अध्यापकीय नैतिकता के नियमों का पालन, सच्चाई और परस्पर समझ शिक्षा कार्य के संचालन के लिए बहुत ही बड़ा महत्त्व रखते हैं। यदि कोई अध्यापक अध्यापकीय नैतिकता की अपेक्षाओं का उल्लंघन करता है, तो इसका सारे अध्यापक समुदाय पर कुप्रभाव पड़ना अनिवार्य है – उसमें विरोध और टकराव पैदा हो जायेंगे। अपनी बारी में यह अध्यापकों की मनः-स्थिति पर, उनकी सृजनात्मकता पर और अंततः अध्यापकीय सक्रियता के परिणामों पर कुप्रभाव डालेगा।

शिक्षा और पालन प्रक्रिया का सुचारु संचालन तब तक संभव नहीं, जब तक कि अध्यापक समुदाय में सदाशयता और परस्पर अपेक्षाशीलता का वातावरण, हर अध्यापक को अपने कार्य से नैतिक और बौद्धिक संतोष प्रदान करनेवाला सृजनात्मकता का वातावरण न हो।

किसी भी स्कूल के अध्यापक समुदाय की सक्रियता की कारगरता प्रधानाध्यापक पर ही नहीं, स्वयं अध्यापकों पर भी, स्वस्थ परस्पर संबंध बनाये रखने की उनकी योग्यता और इच्छा पर भी निर्भर होती है। शिक्षा और पालन की प्रक्रिया के परिष्कार से संबंधित समस्याओं को हल करते हुए हर अध्यापक को सर्वोपरि इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अध्यापक समुदाय में क्रियाशीलता, सृजनात्मकता और बंधुत्वपूर्ण सदाशयता का वातावरण बनाये रखने में वह अधिकतम योग किस प्रकार दे सकता है।

यह किताब साथी लाभ सिंह हुड्डा एस डी ओ रोहतक निवासी ने सत्यनारायण हुड्डा को उपलब्ध करवाई ताकि इसका पीडीएफ बना कर इच्छक पाठकों को मुफ्त में मुहय्या करवा सकें।

पाठकों से

प्रगति प्रकाशन को इस पुस्तक की विषय-वस्तु और अनुवाद के संबंध में आपकी राय जान कर और आपके अन्य सुझाव प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता होगी। अपने सुझाव हमें इस पते पर भेजें :

प्रगति प्रकाशन ,
१७ , ज़ूबोव्स्की बुलवार ,
मास्को , सोवियत संघ ।